मेरी जीवन-यात्रा

[१]

"बेड़ेकी तरह पार उतरनेके लिये मैंने विचारोंको स्वीकार किया, न कि सिर पर उठाये-उठाये फिरनेके लिये"

राहुल सांकृत्यायन

आधुनिक पुस्तक भवन
३०।३१, कलाकर स्ट्रीट,
कलकत्ता = ७
१९५१

प्रकाशक
परमानन्द पोद्दार
आधुनिक पुस्तक भवन
३०।३१, कलाकर स्ट्रीट
कलकत्ता

द्वितीय संस्करण २०००
मूल्य साढ़े छः रुपया

मुद्रक
युनाइटेड कमर्शियल प्रेस लि०
३२, सर हरिराम गोयनका स्ट्रीट
कलकत्ता - ७

समर्पण

उन दौड़नेवालोंकी स्मृतिमें जो मुझे आगे बढ़नेका अवसर दे आप पीछे रह गये।

प्राक्कथन

"मेरी जीवन-यात्रा" मैंने क्यों लिखी ? मैं बराबर इसे महसूस करता रहा, कि ऐसे ही रास्तेसे गुजरे हुए दूसरे मुसाफिर यदि अपनी जीवन-यात्राको लिख गए होते, तो मेरा बहुत लाभ हुआ होता—ज्ञानके खयालसे ही नहीं, समयके परिमाणमें भी। मैं मानता हूँ, कि कोई भी दो जीवन-यात्राएं, बिलकुल एक-सी नहीं हो सकती, तो भी इसमें सन्देह नहीं कि सभी जीवनोंको उसी आन्तरिक और बाह्य विश्वकी तरंगोंमें तैरना पड़ता है।

मैंने अपनी जीवनी न लिखकर जीवन-यात्रा लिखी है, यह क्यों ? पाठक इसका उत्तर पुस्तकको पढ़कर ही पा सकते हैं। अपनी लेखनी द्वारा मैंने उस जगत्की भिन्न-भिन्न गतियों और विचित्रताओंको अंकित करनेकी कोशिश की है, जिसका अनुमान हमारी तीसरी पीढ़ी बहुत मुश्किलसे करेगी। जिस तरह कि मैंने दूसरे विषयों पर लिखनेसे पहले कलम उठानेकी कलाको बाकायदा नहीं सीखा, उसी तरह जीवनी लिखनेकी कलामें भी मैं अशिक्षित हूँ। बाकायदा शिक्षाका महत्त्व कम नहीं है, लेकिन मेरा दुर्भाग्य, जो मुझे उसका असवर नहीं मिला।

पहिले भी मेरे कई दोस्तोंने जीवनी लिखनेके लिए कहा था, लेकिन मैं समझता था कि अभी इसका समय नहीं है। १४ मार्च १९४०को सरकारने पकड़कर मुझे हजारीबाग जेल में नजरबन्द कर लिया। २९ महीने बाद मैं जेलसे निकलूँगा, यह जाननेके लिए मेरे पास कोई दिव्य दृष्टि तो नहीं थी, लेकिन इतना जरूर जानता था, कि मैं कई वर्षोंके लिए इन चहारदीवारियोंके भीतर आ गया हूँ। उस वक्त मेरे पास बहुत समय था। हजारीबागमें हम दो ही जने नजरबन्द थे। पुस्तकें भी हमारे पास नहीं थीं और दिमागमें किसी दूसरी पुस्तकका लिखनेका मेरे खयाल भी नहीं था। मैंने दिन काटनेकेलिए सोचा, चलो पुरानी स्मृतियाँ ही अंकित कर डालो। १६ अप्रैल १९४०से मैंने लिखना आरम्भ किया और १४ जून तक लिखता गया। इन दो महीनोंमें मैंने १८९३ से १९३४ तककी यात्राको अपनी स्मृतिसे कागजपर उतारा। मुमकिन है, मैं आगे बढ़ते-बढ़ते १९४० तक चला आता, लेकिन १९२६से आगे बढते ही मेरी कलम रुकने लगी—जब साल-सालकी डायरी मौजूद है, तो सिर्फ स्मृतिके सहारे लिखनेको मैंने ठीक नहीं समझा—मुमकिन है डायरियोंके मिलानेपर बहुत बदलना पड़ता।

२३ जुलाई १९४२ को जेलसे छूटकर जब मैं बाहर आया, तो कुछ दोस्तोंने जीवन-यात्राको छपवा देनेके लिए जोर दिया। लेकिन मैं समझता था, जेलमें लिखी दूसरी छः पुस्तकोंका पहिले छपना ज्यादा जरूरी है। और अब "विश्वकी रूपरेखा", "मानवसमाज", "दर्शन-दिग्दर्शन, "वैज्ञानिक भौतिकवाद", "सिंह सेनापति", और "वोल्गासे गंगा", छप जानेके बाद ही "मेरी जीवन-यात्रा" पाठकोंके हाथमें आ रही है।

मैं आशा नहीं करता था, कि दूसरे भागके लिखनेकेलिए समीप-भविष्य में अपनी कलमको उठा सकूंगा। रूस की तीसरी यात्राके लिए मैं तैयार बैठा हूँ, सिर्फ ईरान सरकारकी आज्ञा आनेकी देर है। लड़ाईसे पहले ऐसी आज्ञा या "वीसा" लेना सिर्फ एक घंटेकी बात थी, लेकिन आज दरख्वास्त दिये पांचवां महीना बीत रहा है, पर अभी भी पता नहीं वह कब आयेगा। मैंने इस प्रतीक्षाके समयको अगला भाग लिखनेमें लगाना पसन्द किया है।

प्रयाग
२. ९. १९४४

राहुल सांकृत्यायन

पुनश्च

रूस जानेसे पहिले ही मैंने दूसरा भाग भी समाप्त करके प्रकाशकको दे दिया है।

पुनश्च

दूसरा भाग छपकर प्रकाशक और मुद्रकके झगड़ेमें अधरमें लटक रहा है। तब तक प्रथम भाग का प्रथम संस्करण देरसे समाप्त था। इस दूसरे मुद्रणमें परिवर्तन नहींके बराबर हुआ है।

मसूरी ६–६–५१

राहुल सांकृत्यायन

विषय-सूची

विषय — पृष्ठ

प्रथम खंड

बाल्य (१९०३-१०) १

१. माता-पिता १
२. प्रथम स्मृति (१८९६-९७ ई०) ४
३. अक्षरारम्भ (१८९८ ई०) ६
४. दो साथी (१९०१-२ ई०) १०
५. रानीकीसरायकी पढ़ाई (१) २०
६. पहिली यात्रा . . २४
७. रानीकीसरायकी पढ़ाई (२) २८
८. रानीकीसरायकी पढ़ाई (३) ३०
९. एक कदम आगे . . ३६
१०. प्रथम उड़ान . . ४७
११. अन्यमनस्कता . . ५६
१२. दूसरी उड़ान . . ६५

द्वितीय खंड

तारुण्य (१९१०-१४) ७३

१. वैराग्यका भूत . . ७३
२. हिमालय (१) . . ८३
३. हिमालय (२) . . १००
४. काशीको १०८
५. बनारस में पढ़ाई (१) . . ११९
६. बनारसमें पढाई (२) . . १३०
७. परसामें साधु (१९१२-१३ ई०) १४०
८. मकड़बार कनैलामें (१९१३ ई०) . . १४९
९ फिर परसा . . १५५
१०. परसासे पलायन (१९१३ ई०) १६३
११. तिरुमिशीका उत्तराधिकार (१९१३ ई०) १७१
१२. दक्षिणका तीर्थाटन . . १८०
१३. परसा वापिस . . २०१
१४. अयोध्यामें तीन मास (जुलाई-सितम्बर १९१४) २०७

तृतीय खंड

नव-प्रकाश (१९१५-२२ ई०) २१९

१. 'किं करोमि क्व गच्छामि' २१९
२. आर्य मुसाफिर विद्यालय आगरामें २२२
३. लाहौरके लिए (१९१६ ई०) २४०
४. आर्यसमाजके गढ़ लाहौरमें (१९१६) २४५
५. रास्तेकी भूलभुलैया . . २५१
६. मिश्नरी तैयार करनेका एक प्रयास (१९१७ ई०) २६४
७. दुहरा धर्म (१९१८-१९ ई०) २८२

विषय पृष्ठ

८. मार्शल-लाके दिन (अप्रैल-मई १९१९ ई०) .. २९२
९. चित्रकूटकी छायामें (१९१९-२० ई०) .. ३००
१०. फिर घुमक्कड़ीका भूत (१९२० ई०) .. ३०९
११. दुबारा तिरुमिशीमें (१९२०-२१ ई०) .. ३३४
१२. कुर्गमें चार मास (१९२१ ई०) ३४१

चतुर्थ खंड

राजनीति-प्रवेश (१९२१-२७ ई०) ३४८

१. छपराकेलिए प्रस्थान (जून १९२१ ई०) .. ३४८
२. बाढ़-पीड़ितोंकी सेवा (सितम्बर १९२१ ई०) ३५१
३. सत्याग्रहकी तैयारी (१९२१ ई०) .. ३५५
४. बक्सर जेलमें छः मास (१३ फरवरी ९ अगस्त १९२२) ३६३

विषय पृष्ठ

५. जिला-कांग्रेसका मंत्री (१९२२ ई०) .. ३६९
६. नेपालमें डेढ़ मास (मार्च-अप्रैल १९२३ ई०) .. ३७७
७. हजारीबाग-जेलमें (अप्रैल १९२३-१९२५ ई०) .. ३८३
८. राजनीतिक शिथिलता (१९२५ ई०) .. ३९४
९. फिर हिमालयमें (१९२६ ई०) ४००
१०. १९२६ का कौंसिल चुनाव और बाद ४३१

परिशिष्ट

१. १९२२ डायरीसे .. ४४१
२. सांकृत्यायन वंश .. ४५२
(क) वैदिककाल .. ४५२
(ख) बौद्धकाल .. ४६३
(ग) मध्यकाल .. ४६५
(घ) आधुनिककाल .. ४६६
३. नाना ४८८
४. पिता ४९७
५. चौंतीस साल बाद .. ५०८

—:o:—

मेरी जीवन-यात्रा

प्रथम खंड

बाल्य

१

माता-पिता

मेरी मां कुलवन्ती अपने मां-बापकी एकमात्र सन्तान थी, और वह भी नानाके १०, १२ वर्षकी पल्टनकी नौकरीसे नाम कटाकर चले आनेके बादकी। व्याह हो जानेपर भी मां अक्सर अपने मायके पन्दहा ही रहती थी, और वहीं मेरा जन्म (रविवार ९ अप्रेल १८९३ ई०[1]) हुआ।

नाना रामशरण पाठक[2] के पास तीन साढ़े तीन एकड बलुआ खेत था, जो आठ या दस जगहोंमें बिखरा हुआ था। वे दो बैलोंके अतिरिक्त एक भैंस जरूर रखा करते थे। नाना जब पन्दहासे भागकर हैदराबाद पल्टनमें गये थे, उस वक्त उनका काम भैंसोंकी चरवाही करना, दूध पीना और कसरत करना था। नानाकी सबसे पहिली मूर्ति जो मुझे याद आती है, वह उनकी ५५ के करीबकी थी। उनके सभी बाल सफ़ेद, क़द लम्बा छै फुट, सीना चौड़ा, बाजू मोटे, नाक लम्बी और नुकीली, रंग गेहुँआ था। वे काम बहुत कम किया करते थे। सवेरे घास काट लाते, चारा काट देते और फिर किसी कुल्हाड़, खलियान, या बगीचेमें अँगोछेसे घुटने और कमरको बांधे अपने शिकार और सफ़रकी गप्पें उड़ाया करते थे। खाना-पकाने आदिके अतिरिक्त ढोरोंके सानी-पानीका काम भी नानीको ही करना पड़ता था।

नानी मझोले डीलकी साधारण स्वस्थ स्त्री थी। उनके बाल बहुतसे सफेद थे, किन्तु दाँत आखिर तक नही टूटे। होश सँभालते ही मांको 'मां' कहते सुन

---

१ बैसाख कृष्ण अष्टमी रविवार संवत् १९५० विक्रमी।

२ नानाके बारेमें पढ़ें परिशिष्ट ४

में भी उन्हें बराबर मा कहता । नानीकी नानापर धाक थी, यह तो नहीं कहा ज सकता, किन्तु दोनोमें कभी झगड़ा होते मैने नही देखा । उनकी बातको नाना बहु मानते थे,और घरके कारबारमें नानीका एकछत्र राज्य था। वह गप-शपमें बहुत क रहा करती । घरके छोटे-बड़े कामके सिवा, गाने-बजाने या मेला-तमाशा देखने उनकी रुचि न थी । दो घंटे रात हीं वह जग उठतीं, और अपने दो-तीन पेटे भजनोंको बिना सुर-तानके भक्तिभावनासे गातीं । इन भजनोंमें एक था 'गु मोके दे गइलें ग्यान-गुदरिया ।' मैं बराबर नानीके पास सोया करता था । दूध छोड़नेके बाद हीसे मासे मैं अलग कर लिया गया था, और वस्तुतः नानीमें मेरा जितना स्नेह था, उतना मामें नही । मांके उपकारोंको, आखिर, मैंने देखा ही क्या था ? पव फटते ही नानी घरके काम-काजमें जो लगतीं, तो रातके दस-ग्यारह बजे उन्हें सोनेकी फुरसत होती । गप-शप न करनेका मतलब यह नहीं था, कि नानी रूखी थीं । उनका दिल अत्यन्त कोमल था । पशु और पक्षीतक उनके वात्सल्यसे वंचित न थे । नानाको पैतृक तीन घरका आँगन मिला था, जिसे उन्होंने बढ़ाकर पौने तीन आंगनके नौ घरोंमें परिणत कर दिया था। सबसे बाहरका आँगन या 'द्वार' बहुत बड़ा था । यहां बीचमें नानाका लाया एक पत्थरका कोल्हू गड़ा था । उत्तर तरफ़ उनके बड़े भाईका घर था । पूर्वमें नानाके खुदवाये पक्के कुएंके अतिरिक्त एक घर भी था । दक्षिण तरफके दो घरोंमेंसे एक बैठकका काम देता था, और ईंटकी दीवारोंका बना था । नानीको सगे-सम्बन्धियोंकी मेहमानदारी हीमें उत्साह न था, बल्कि अवसर राह चलते पथिक और भिखमंगे भी उनके आतिथ्यके अधिकारी होते थे ।

जीवनके आरम्भिक पांच वर्षोंमे नानीने मेरा पोषण ही नहीं निर्माण भी किया ।

पिता गोवर्धन पांडे[1] को दस-ग्यारह वर्षकी आयुमें जाकर मुझे जाननेका मौका मिला । सालमें सप्ताह डेढ़ सप्ताहके लिये पन्दहासे कनैला जानेपर, मैं उन्हें दूरसे देख भर लेता था । उनका रंग कालेतक पहुँच गया गहरा सांवला था, कद छ फुटसे कम नही था । शरीर दुबला-पतला किन्तु स्वस्थ । वे बहुत कम बीमार पड़ते थे । दुबला-पतला होनेका कारण भी अधिकतर खानेकी अव्यवस्था और पूजा-पाठका कड़ा नियम था । बिना स्नान-पूजाके वे जलतक नहीं पीते थे । फिर पीछे कचहरीके मुकदमोंके समय तो कितनी ही बार चार-पांच बजे शामको उन्हें नाश्ता करनेकी नौबत आती । नाक वह जरूर दबाया करते थे, किन्तु सन्ध्या उन्हें आती थी इसमें सन्देह है । सन्ध्याको हमारे गावोंमें गहरूतके पंडितोंकी चीज

[1] देखो परिशिष्ट ५

समझा जाता था, और हमारे पिता संस्कृतके पंडित न थे। उनके पाठमें हनुमान-वाहुक और रामायण शामिल थे। नहानेके बाद वेलपत्रके साथ जल शंकरकी पिंडी —कनैलामें इसकी जगह किसी पहाड़ी नदीसे निकाल लाये चार-छै चिकने पत्थर एक पुराने पीपलकी जड़में रखे हुए थे—पर चढ़ाते। फिर गुड़-घी और देवदारकी लकड़ीकी बनी धूपकी अगियारी देकर वे अपना पाठ शुरू करते। पूजाके कड़े नियमोंके कारण गाववाले उन्हें 'पुजारी' कहते थे। आगे चलकर उन्होने हजामत गंगातटपर बनवानेका भी नियम कर लिया था, जिसके कारण कभी-कभी तीन-तीन चार-चार मास तक उनके बाल बढ़े रहते। वे बड़े प्रतिभाशाली थे। उन्हें सिर्फ़ एक महीने किसी भूले-भटके मुशीसे क-ख सीखनेका मौका मिला था, किन्तु न जाने कैसे उन्होने रामायण ही नही, भिन्न, गुणा-भाग, सूद और पैमाइशके हिसाब-को भी सीख डाला था। पक्के आस्तिक होते हुए भी 'बाबा वाक्यं प्रमाणं' की अवहेलना करनेमे भी वे समर्थ थे। ब्राह्मणोंके नियमके विरुद्ध वे अपने हरवाहे निस्सन्तान चिनगी चमारको मरनेपर गंगातीर जलानेके लिये ले गये। पुरानी प्रथाके विरुद्ध नये कुएको बनवानेके लिये विचित्र लम्बाई-चौड़ाईकी ईंटें उन्होंने खास तौरसे तैयार करवाई, और प्रचलित प्रथाके विरुद्ध कूएंको नीचे चौड़ा ऊपर संकीर्ण करते हुए बनवाया। साधु-सन्तोंमें श्रद्धा रखते हुए भी गँजेड़ियों-भँगेड़ियोंमें वे वीतश्रद्ध थे।

मा शरीरके आकार-प्राकारमे अपने पितासे सादृश्य रखती थीं। वैसाही लम्बा कद, वैसा ही हृष्ट-पुष्ट शरीर, रंग गोरा, दो बारके प्रसूत ज्वरकी बीमारियों—जिनमें आखिरीके कारण ही उनकी मृत्यु हुई—को छोड़कर उनका शरीर स्वस्थ रहता था। उनके स्वभावके बारेमें जानकारी प्राप्त करनेका मुझे साक्षात् अवसर नही था। अपनी मांकी तरह वह झगडे-झंझटसे दूर रहती थीं, यह तो इसीसे सिद्ध है, कि सारे गाँवमे सबमे अधिक रूखी और कड़े मिजाजकी सास रखनेपर भी उनके साथ झगड़ा होते नही देखा गया। गीत और भजन उन्हें याद थे या नही यह तो नही कह सकता, किन्तु इतना अवश्य मालूम है, कि जिस साल वह गोधन और उसके बादके दिनोंमें पन्दहा रहतीं, तो गोबरकी "पिंडियां" हमारे ही घरमें लगती, और मांकी सखी-सहेलियां वहीं 'पिंडिया-अगोरने' आती। दीवालीके दूसरे दिन गोधन मनाया जाता। मुझे उस दिन अफ़सोस रहता;—मांके रहतेका तो स्मरण नहीं, सिर्फ नानीके रहनेपर हमारा घर गोधनमें शामिल नही होता था, जिसके कारण गोधनमें चढनेवाली चीनीकी कुल्हिया, और मिठाइयोंसे मैं वंचित रह जाता था। हां, एकाध बार मांके रहते समय 'पिंडिया-अगोरने'की मधुर स्मृति मुझे अब भी याद है। "अगोरने" वाली सभी तरुण स्त्रियां होतीं। उनके साथ उनके छोटे बच्चे भी रहते। कोदोका पुआल जमीनपर बिछा रहता, जिसपर

कोई लम्बा चौड़ा बिछौना होता । सिरहाने सिंदूरसे टीकी छोटी-छोटी गोबरकी पिंडियां दीवारपर चिपकी रहतीं । एक छोटासा तेलका दिया जलता । आधी-आधी राततक मां और उनकी सखियां गीत गातीं । हम लड़कोंको उनकी गीतोंमें कोई खास प्रेम न था, हां गुड़के मीठे 'ठकुये' (मीठी पूड़ियां) हमें बहुत प्रिय थे, जिन्हें खाते-खाते हम सो जाते । उन गीतोंमेंसे किन्हींका आरम्भ मांकी ओरसे होता था, इसका भी मुझे पता नहीं । हां, सबेरेके वक्त एक या अनेक पद्यमय कहानियों—जिन्हें पिंडियां-अगोरनेवाली स्त्रियोंको धर्मके भयसे सुनना पड़ता है—के सुनानेका काम मैंने माको करते देखा । मेरी चचेरी मौसी जब पानी-बर्तनके कामोंमें बहुत व्यस्त रहती, तो वह अपनी मुंदरी रख जाती । मां औरोंके साथ उसे भी कहानी सुनाती—उपस्थित सखियां कानसे उसे सुनतीं, और मौसीकी अनुपस्थितिमें उनकी मुंदरी सारी कहानी सुन लेती; जिसे मौसी अँगुलीमें पहन कर सुननेकी भागिनी बन जातीं । इन कहानियोंमें 'चेरिया' 'चेरिया' (क्रीतदासी) का शब्द बहुत आता था, जो बतलाता था कि यह दासत्वप्रथाके युगकी कोई पुरानी कहानियां रही होंगी ।

मेरे नाना-नानी दीर्घजीवी, स्वस्थ और पैतृक रोगशून्य व्यक्ति थे । मेरे पिता-माता स्वस्थ और पैतृक रोगशून्य होते भी दीर्घजीवी व्यक्ति न थे । मांकी मृत्यु २८-२९ की आयुमें और पिताकी ४५-४६ में हुई । मेरी दादी ('आजी') दीर्घ-जीविनी रहीं, किन्तु दादा ४० सालसे पहिले मर गये । मेरे पिताका वंश कई पीढ़ियोंसे मजबूत, लम्बे कद्दावर जवानोंको पैदा करनेके लिये मशहूर रहा । नानाके वंशके बारेमें कोई वैसी बात तो नहीं सुनी, किन्तु जहां तक नाना उनके पिता और भाइयोंका सम्बन्ध है, वे भी मजबूत और लम्बे-चौड़े लोग थे ।

२

प्रथम स्मृति

(१८९६-९७ ई०)

सबसे पुरानी स्मृति मुझे सन् ४ (१३०४ फ़सली या १८९७ ई०) के अकालसे पहिले ले जाती है । पन्दहामें इस अकालका क्या असर पड़ा, यह मुझे याद नहीं । कनैला (पिताके गांव) के लोगोंपर क्या-क्या बीती, इसका भी साक्षात् स्मरण तो नहीं है, हां, अकालके पहिले जीता भरके टोलेमें ५०,६० व्यक्तियोंके ६,७ घर थे । उन ग़रीब घरोंको मैंने देखा था, उनके छोटे-छोटे लड़कोंको घरके गुमरके

बच्चोंके पीछे दौड़नेकी भी याद ताजी है। सन् ४ के भीषण अकालमें ये सभी लोग घर छोड़कर आसाम और दूसरी जगहोमें भाग गये। वर्षों तक इन झोपड़ोंकी दीवारें खड़ी थीं। उनके नीम, महुआ और ताड़के वृक्षोंपर उनके जमीदारोंने कब्जा कर लिया।—जीताके पुत्र टिभोलू वर्षों बाद गांव लौट आये। टोलेके उजाड़ होनेके थोड़े ही दिनों बाद उन्हीं खंडहरोंके पाससे खोदकर मेरे लिये मेरे चचेरे चचा बिरजू खड़िया (सड़े कंकड़ी) खोदकर लाते थे।

उसी अकाल या उसके बादके सालकी बात है, हमारे अँधेरे घरके एक कोनेमें दो कासेकी नई थालिया पड़ी थी। मैंने उसे छू दिया। मां या बुआ गुस्सा हुई और मेरा हाथ धुलवाया। मालूम हुआ, अकालमें अपनी थालियोंको किसी चमारने कुछ सेर अनाजके लिये गिरवी रखा था।

उन्ही पुरानी स्मृतियोंमें है—एक दिन मै माके साथ ननिहालसे कनैला आ रहा था। चलते वक्त आसमान ठीक था, किन्तु रास्तेमें पानी बरसने लगा। मै किसीकी गोदमे था। मेरे हाथमें गुड़में गुंधे सत्तूकी पिंडी थी। पानीसे पिंडी भीग गयी थी, किन्तु उस पिडीको बड़े यत्नसे मैंने हाथमें दबा रखा था। हमारे परिवार जैसी स्थितिकी बहुएं एक या दो बार ही पालकीपर पीहर—नैहर जाती आती है, बादमें वह लाल चादर ओढ़े घूंघट किये पैदल ही आती-जाती है। मेरी मा वैसी ही लाल चादर ओढे १० मीलका रास्ता तय कर रही थीं। वर्षा शायद सारे रास्ते भर नही रही।

अकालके वक्त पन्दहा या कनैलाके लोग भूखसे कैसे मर रहे थे? पशुओंका चारे बिना क्या हाल था? सारी पृथिवी और वनस्पति कैसी झुलसी हुई थी? इन बातोंका मुझे बिलकुल स्मरण नहीं, यद्यपि उस वक्त मैं चार वर्षसे ऊपर हो रहा था, किन्तु अकालके बाद (१८९८ ई०) वाली बरसातका आरम्भ मुझे अच्छी तरह याद है। मैं उसी समय कनैलासे पन्दहा लाया गया था। जहां कनैलाकी बस्तीके आसपास वृक्ष-वनस्पति शून्य विस्तृत ऊसर था, वहाँ पन्दहा चारों ओर वृक्षों और बांसकी झाडियोंसे ढँका था। किन्तु उस दिन तो मालूम होता था, उस असाधारण हरियालीने अपनी छायामें अन्धकारको छिपा रखा है।

अकालका प्रभाव हमारे नाना और पिता दोनोके घरोंपर नही पड़ा। पिताके पास दस-बारह एकड खेत थे, और नानामें भी उनकी अवस्था अच्छी थी। दोनों ही घरोंमें आमदनीसे खर्च बढा हुआ नही था। बल्कि यदि मैं गलती नहीं करता, तो इसी अकालके समय अनाजके महँगे भावसे लाभ उठाकर पिताने पहिली पूंजी जमा की, जो बढ़ते-बढते चार-पांच हजार तक पहुँच गयी।

३

अक्षरारंभ

(१८९८ ई०)

होश सँभालनेसे पहिले चाहे मांके साथ अक्सर कनैला रहनेका मौका मिलता रहा हो, किन्तु, बादमें तो नानाके यहाँ ही मेरा स्थायी वास रहा। ननिहालके मेरे जैसे नाती शोख हो जाते हैं, लेकिन मेरी शोखीकी कभी किसीको शिकायत नहीं हुई। पन्दहाके में अच्छे लड़कोंमें समझा जाता था। नानीका स्नेह तो खैर अद्वितीय था ही, नानाका प्यार भी कम न था, किन्तु साथ ही नाना-पल्टनिहा सिपाही—कड़े अनुशासनको पसन्द करते थे। सिवाय एक बार—सो भी बहुत कुछ दिखलाऊ—कभी उन्होंने एक थप्पड़ भी मुझे नहीं मारा; किन्तु, नानाकी डपट मेरे लिये पचास लाठीके चोटसे कमकी न थी। नाना खेल-कूदके भी खिलाफ थे। दरख्तपर चढ़ना उन्हींके कारण जिन्दगी भर मुझे नहीं आया। उनकी चलती तो मुझे तैरना भी नहीं आता, किन्तु ननिहालकी पोखरीमें एक बार डूबनेसे बचकर कनैलामें मैंने उसे सीख लिया। नानाने अपनी जानभर मेरे लिये जिन्दगीको जेल-खाना बना दिया था।

लड़कपनके साथियोंमें दो हीका मुझे स्मरण है, जो दोनों ही मेरे समवयस्क थे—एक नानाके छोटे भाईके लड़के नरसिंह, और दूसरा गरीब सतमीका[1] लड़का मद्दू। बादमें लम्बा होते भी लड़कपनमें मैं बहुत दुबला-पतला और अपेक्षाकृत कमजोर भी था। कमजोरीका कारण तो शायद नानाकी अत्यधिक सावधानी थी, जिसके मारे मुझे शारीरिक परिश्रमवाले किसी खेलका मौका नहीं मिलता था। बरसातका आदि या अन्त था, गड्ढोंमें पानी भरा हुआ था। स्मरण नहीं कौन लड़का खेलते समय मेरे धक्के या अपनी असावधानीसे एक छोटे गड्ढेमें गिर गया। पासके किसी आदमीने दौड़कर उसे निकाला।

मैं बेकसूर था, किन्तु नानाने समझा, मैंने जान-बूझकर शरारत की। उसी वक्त नानीसे सलाह ठहरी—बच्चेको पाठशालामें बैठा दिया जाये। पन्दहासे रानी-की-सरायका मदरसा एक ही मील है, इसलिये नानीको दूरीकी शिकायत नहीं हो सकती थी। अकेलेके लिये नानाने मद्दूको साथी देनेकी बात कही। दोपहरको भूख लगनेकी बात पड़नेपर उन्होंने अध्यापक मुंशी महावीरसिंहसे (?) आने चौकेमें खाना खिला देनेकी बात तै कर ली। उमर थोड़ी है, क्या पढ़ेगा-पढ़नेपर,

---

1 देखो "सतमीके बच्चे।"

नानाका जवाब था–बैठना तो सीखेगा। नानीको भी पाठशाला भेजनेकी बात माननी पड़ी।

शुभ मुहूर्त देखकर (शायद १८९८ई० नवम्बर को) एक दिन रामदीन मामा[1]-के साथ मुझे रानीकीसराय भेज दिया गया। नानाकी धारणा थी कि हिन्दीसे उर्दूकी कदर अधिक है। उनके एक फुफेरे भाई मुंसिफ़ होकर जवानी हीमें मर गये थे। मेरे लिये भी नानाकी नजरमें वैसी ही कोई सरकारी नौकरी थी। उर्दू पढाकर आजमगढके मिशन-स्कूलमें अँग्रेजी पढ़ानेका उनका इरादा था। खैर, वह अपने इरादेमें कैसे असफल रहे, यह आगेकी बात है। जाड़ोंके दिन थे। रानीकीसरायके मदरसेके हातेमें—जो कि एक कच्ची चहारदीवारीसे घिरा हुआ था–गेंदेके फूल खिले हुए थे। वहीं धूपमें टाटपर मैं बैठा रहता था। मद्धू भी मेरे पास बैठा होता। नही याद, हम कैसे अपना दिन काटते थे। नानाकी बात दुरुस्त थी, मैं वहाँ बैठना ही सीख रहा था।

शायद बहुत दिनों तक मैं रानीकीसराय नहीं जा सका। बा० महावीर (या भगवान्) सिंह अपने घरके किसी मारपीटमें शामिल हुए। उनको सजा हो गयी। मदरसा बन्द हो गया।

उसके बाद मैं कहाँ रहा, क्या करता रहा,–इसपर स्मृति प्रकाश नही डालती। हा, १८९९ ई० के अन्तमें फिर रानीकीसरायके मदरसेमें दाखिल होनेसे पहिले एकबार कनैलासे बछौरा गया था। गांवके ७,८ लड़के वहाँ पढ़ने जाते थे, मैं शायद सबसे छोटा था। मेरी आयुसे कुछ ही बड़े चचा बिरजूका मुझसे बहुत प्रेम था। बछौरामें उर्दू नही मुझे हिन्दीका क-ख शुरू कराया गया। बिरजू खड़ियाकी स्याही बनाकर मुझे सिखलाते। गांवके जयकरण अहीरकी एक टूंडी गायसे गांवके सारे बच्चे बहुत डरते थे। वह दौड़कर हमला करती थी। सबेरे दिन चढ़े हमारा झुंड बछौरा जा रहा था। उत्तर तरफ़के ऊसरकी गायोंमें टूंडी गाय भी है–इसे हममेंसे कइयोंको पता न था। टूंडी दौड़ी, हम लोग जिधर-तिधर भाग निकले। मेरे भय और आश्चर्यका ठिकाना न था, जब कि मैंने टूंडीसे चार कदमपर ही, भागनेकी जगह बिरजूको अपनी नयी पीली धोतीकी लुंडी लिये बैठ जाते देखा। टूंडी बिरजूकी ओर ध्यान न दे हम लोगोंकी ओर लपकी, लेकिन हम लोग उसकी पहुँचसे बाहर हो चुके थे। बिरजू मुस्कुराते हुए हमसे आ मिले। पूछनेपर कहा–बैठे हुए आदमीको गाय-बैल नही मारते। प्रत्यक्षके बारेमें सन्देहकी गुंजाइश कहाँ? तो भी इसका तजरबा करनेके लिये मुझे तो किसी टूंडीके सामने जानेकी कभी हिम्मत न हुई।

---

१ नानाके बड़े भाई शिवनन्दन पाठकके कनिष्ठ पुत्र। देखो परि० ४

बछौरामें शायद एकाध ही मास मैं पढ़ पाया। कौन अध्यापक थे, उन
सूरत तकका मुझे स्मरण नहीं। इतना याद है, कि वर्ण-परिचयकी जो पुस्त
हमारे साथियोंके हाथमें थी, वह गङ्गाविलास-प्रेसकी छपी, खड़ी सरस्वती
तसवीरवाली थी। बछौरा और वर्णमालाके दिनोंकी सबसे तीक्ष्ण स्मृति बिरजू
है। बिरजू हमारे पिताके चचेरे चचाके पुत्र थे—यह कहनेमें तो दूरका सम्ब
मालूम होगा, किन्तु वस्तुतः यह बात न थी। मेरे पितामह जानकी पाँडेके उन
तीन चचेरे भाई— जिनमें बिरजूके पिता महादेव सबसे छोटे और जानकी पांडे
बहुत प्रेमपात्र थे—सगे भाईसे थे। सारा परिवार एक साथ रहता था। सम्मिलि
परिवारके दिनों हीमें मेरा और बिरजूका जन्म हुआ था। यदि पितामह जीते हो
या पितामहीका स्वभाव अत्यन्त कर्कश न होता, तो अब भी हमारा परिवार सा
रहता।—परिवारोंकी अलगा-बिलगी अत्यन्त बचपनसे ही मुझे अप्रिय मालूम होने
थी। खैर, टूडीके संग्रामका वीर बिरजू, मेरे लिये दुद्धी (=खड़िया) खोद लाक
अक्षर सिखलानेवाला बिरजू मेरी श्रद्धा और प्रेम दोनोंका भाजन था। स
१९०० ई० (?) में कनैलामें जोरका हैजा आया। मैं भी उस वक्त वहीं था
हमारे घर भरके स्त्री-पुरुष बीमार पड़े। हमें कपूरका पानी पीनेको मिलता था
भगवतीकी मिन्नतपर मिन्नत मानी जा रही थी। मालूम नहीं घर भरमें कोई
बीमारीसे अछूता भी रहा या नहीं। हमारे घरमें कोई नहीं मरा; किन्तु बिरजूक
परिचित चेहरा उसके बाद फिर न देख पानेका मुझे बहुत अफसोस रहा।

हैजेसे उठनेके बाद पुराने चावलका भात और इमलीकी चटनीका पथ्य मुझे
बहुत मधुर मालूम होता था।

× × ×

१८९९ ई० के अन्तके जाड़ोंमें मैं फिर पन्दहामें था, और अब मदृपू नहीं
नये सहपाठी दलसिंगारके साथ रानीकीसरायकी पाठशालामें भरती हुआ। नये
अध्यापक बा० द्वारिकाप्रसादसिंह नाटे और गठीले बदनके तरुण थे। वह हमारी
कापियोंपर अपना हस्ताक्षर अंग्रेजीमें किया करते थे। अंग्रेजी एकाध किताब पढ़े
हुए थे यह तो मुझे नहीं मालूम, किन्तु वह नार्मल पास थे। गोरखपुर-शहर-में
रहनेका उनपर काफी असर था। वह बात-चीत और पोशाकमें काफी नागरिक
मालूम होते थे। उनके कपड़े-कोट, कमीज और धोती हमेशा साफ उजले रहा
करते थे। कसरत करते थे या नहीं, यह तो स्मरण नहीं; किन्तु शामको पाखानेके
लिये लोटा लिये वह दूर तक टहलने जाते थे। उस वक्त 'छड़ी बिना विद्या नहीं
आती' यह सर्वमान्य शिक्षा-सिद्धान्त था, किन्तु मुझे जहाँ तक स्मरण है, द्वारिकासिंह
बहुत ज्यादा मारते-पीटते नहीं थे; तो भी हम विद्यार्थियोंपर उनका काफी रोब
था। पान खाते और सीटी बजाते हुए चलनेका उन्हें बड़ा शौक था। उन्होंने

किसीसे एक विलायती कुत्तोको लेकर पाला। न जाने कैसे उसकी कमर टूट गयी, और महीनो हमारे अध्यापक मेहतर लगा सूअरके तेलसे उसकी मालिश कराते रहे।

उस वक्त रानीकीसराय बहुत छोटीसी बस्ती थी। अभी रेल नहीं पहुँची थी, और न मारवाड़ियो तथा दूसरे व्यापारियोंकी दूकानें आ पाई थी। आजमगढ़से जौनपुर और बनारसकी ओर जानेवाली पक्की सड़क तथा घोड़ेगाड़ी (=सिकड़म्) पर चलनेवाली डाकके रास्तेपर होनेके कारण यह स्थान कुछ महत्व तो जरूर रखता था, और शायद कुछ दिन पहिले चीनीके कारखाने भी यहां चल रहे थे; किन्तु मेरे आरम्भिक दिनोमें वहां हलवाइयोकी पांच-सात दूकानें थी, जिनमें दोको छोड़कर बाकी जगह गट्टा और गुडके लड्डुआ ही मिलते थे। पाच-सात दूकानोमे लवंग-हल्दी-रंगके साथ कपड़े भी बिका करते थे। उस वक्त तक अभी सिलाईकी कल वहा नही पहुँच पाई थी। नाना मेरा कुरता अपने खानदानी दर्जी बसईके बूढे सलीमसे सिलवाया करते थे, किन्तु एक दिन देखा, मुझे वे कपड़ा नपवानेके लिये सरायमें ले जा रहे हैं। वहां एक दुबले-पतले सफेदपोश मिया रहते थे, जो हड्डीकी खरीदके मुंशी थे। घरमें सख्त परदा था। दरवाजेपर बोरियेका पल्ला लटक रहा था। गरीबीके कारण बीवी सिलाईका भी काम कर लिया करती थी। हा, यह सराय मेंहनगरके राजाकी रानीने बनवाया था, जिसके ही कारण बस्तीका नाम रानीकीसराय पड़ा था। हमारा मदरसा उन्हीं रानीके बनवाये पोखरे रानीसागरके कोनेपर बना हुआ था। मेंहनगरके राजा गौतम राजपूत पहिले हिन्दू थे, पीछे वे मुसलमान हो गये, और उसी समय या उसके बाद वे मेंहनगर छोड़ आजमगढ़में चले आये।

सरायका बड़ा दरवाजा और कितनी ही कोठरियां उस समय भी मौजूद थीं, यद्यपि बेमरम्मतीका असर उनपर दिखलाई पड़ रहा था। फाटककी अगल-बगलके कोठेवाली कोठरियोंमे कबूतरोंने डेरा डाला था, जहाँ और लड़कोंके साथ मैं भी कभी-कभी कबूतर पकड़ने गया था। सरायमें एक पगली भटियारिन रहती थी, जो हमको देखकर बड़बड़ाया करती। डाककी घोडागाड़ीके अतिरिक्त रानीकीसरायकी सड़कपर भाड़ेकी ऊँटगाड़ियां भी चला करती थी। बाजारमें पुराने किस्मके कुछ इक्के भी थे।—यह सब रेल आनेसे पहिलेकी बात है।

दर्लसिगार रिश्तेमें मेरे नाना लगते थे, किन्तु समवयस्कोंमे सिर्फ भाईका ही रिश्ता चल सकता है। हम दोनोंमें बहुत प्रेम था, शायद इसका कारण दोनोंका झगड़ाऊ स्वभावका न होना रहा होगा। सवेरे बासी खाना खाकर घंटा दिन चढनेसे पहिले ही हम मदरसा पहुँच जाते थे। दोपहरके खानेके लिये भुना दाना या गुड़-मिला सत्तू हमारे अँगोछेमें बँधा रहता, जिसे रानीकीसरायके बन्दरोंकी भारी

पल्टनसे बचाना आसान काम न था; रानीसागरकी मेड़पर अक्सर वे पड़े रहते, और हमारा रास्ता भी उधरसे ही था। रानीसागरके एक तरफ ईंटका पक्का घाट था, जो अब बहुत जगह टूट-फूट रहा था, पास हीमें महावीरजीका मन्दिर था। बन्दरोंको महावीरजीकी सेना सुनते-सुनते हम समझते थे, कि इसी मन्दिरके कारण बन्दर यहाँ रहा करते हैं। लाल मुँहवाले बन्दर बड़े शरारती होते हैं, खासकर लड़कोंके साथ। एक दिन हम दोनो तालाबके दक्खिनवाले किनारेसे जा रहे थे—शायद उत्तरवाले किनारेपर महावीरकी सेनासे जान बचानेके लिये। किसी नटखट लड़केने भिंडेके रीढ़पर—हमारी आखोंसे ओझल—बैठे बन्दरोंपर ढेला चलाया। हमने उस लड़केको देखा भी नही, और बातकी बातमें दर्जनों बन्दर खाँय-खाँय करते हमारे ऊपर चढ़ दौड़े। दलसिंगार किसी तरफ भागे। मैं भागता धूप लेती एक बुढ़ियाके पीछे जा छिपा। बुढ़िया न होती तो बन्दरोंने मेरी गत बना दी होती।

हिन्दीवाले लड़कोंको वर्णमाला धरतीपर मिट्टीमें लिखकर सीखना होता था, किन्तु हम उर्दूवाले लड़कोंको शुरू हीसे सफेद पट्टीपर गेहूँ या चावलके धीरेकी स्याहीसे लिखना पड़ता। पहाड़ा सबके साथ ही जोर-जोरसे चिल्लाकर दुहराना पड़ता। दोपहरको खानेके लिये छुट्टी होती—जाड़ोंमें एक ही घंटेके लिये, किन्तु गर्मियोंमें वह तीन घंटे या ज्यादाकी होती, और हम खाना खाने घर चले आया करते। जाड़ोंमें रानीसागरके घाट या महावीरजीके मन्दिरके पास हम अपना सत्तू-भूजा खाने जाते। बन्दरोंका खतरा था, किन्तु उस वक्त हम भी एक-डेढ़ दर्जन लड़के एक साथ रहते।

१८९९ ई० के अन्तमें मैं गया ही था, इसलिये उस साल 'जुज़ बे' (प्रारम्भिक श्रेणी) पास करनेकी बात ही क्या होती, हाँ, अगले साल मैं और दल-सिंगार दोनों 'बे' पास हुए। उस वक्त प्राइमरी स्कूलोंकी वार्षिक परीक्षाएं दिसम्बर के महीनेमें हुआ करतीं, और नये सनके साथ हमें नयी किताबें मिला करतीं।

४

दो साथी

(१९०१–२ ई०)

आयुमें दलसिंगार मुझसे जरासा बड़े थे, किन्तु कदमें वे उससे बड़ा था। नानाके लाड़-प्यार तथा खेल-कूदसे वंचित रखनेने मुझे जहाँ निर्बल बना दिया

था, वहां दलसिगार उस आठ-नौ वर्षकी उम्रमें भी शिरपर टोकरी ढोने तथा दूसरे छोटे-मोटे कामोंके कारण मुझसे अधिक मजबूत थे। सबेरे जो पहिले नाश्ता कर चुकता वह दूसरेके घर लिवाने पहुँचता। दलसिगारके घर यदि मुझे जाना पड़ता, तो हम दोनों पाससे गुजरती निजामाबादवाली कच्ची सडकसे जाते। दलसिंगारको जब मेरे घर आना पड़ता, तो हम पगडंडीका सीधा रास्ता पकड़ते। सबेरेके वक्त तो कोई बात न थी, किन्तु शामको घर लौटते अक्सर देर हो जाती। पाठशालासे छुट्टीमें उतनी देर न होती, किन्तु रास्तेमें हम लोग गिल्ली-डंडा या दूसरे खेल खेलने लगते, जिसमें देर हो जाती। लौटते थे अक्सर हम सड़कके रास्ते, क्योंकि वह दल-सिंगारके लिये सीधा था, दूसरे पगडंडीवाला रास्ता जंगलके भूतहे पोखरेके पाससे गुजरता था। इस निर्जन तालावपर दिन-दोपहरको भूत नाचा करते और अकेले-दुकेले सयाने भी उधरसे गुजरनेकी हिम्मत न करते थे। सवेरेके वक्त उधर गायों और चरवाहोंके रहनेके कारण हमें भी हिम्मत रहती, किन्तु शामको किस बिरतेपर उधरसे गुजरते? जब मैं नानीके साथ उधरसे जाता तो, पास पहुँचनेपर वह बड़ी श्रद्धा-भक्तिके साथ 'जै ठैयां-भुइयाके बाबा साहेब! जहां रहैं बाल-गोपालको नीके बनाये राखा' कहकर प्रार्थना करती। हम भी 'बाबा साहेब' को मना लिया करते, लेकिन दिलको पूरा भरोसा न होता। वैसे सडकके रास्तेपर भी 'ठूठे' पीपरके 'बाबा साहेब' थे, किन्तु एक तो सडक थी, दूसरे 'बाबा' अकेले थे और हम दो। हम लोगोंने यह भी सोच रखा था, कि यदि 'बाबा' प्रकट हुए तो झट मामा कह बैठेंगे, फिर 'बाबा' भाजेपर हाथ छोड़नेका साहस थोड़े ही करेंगे?

सावनमें गांवमें कई जगह वृक्षोंपर झूले पड़ते थे, जिनपर रातको गांवकी बहुएं तथा दूसरी तरुण कन्याएं झूला झूलतीं, कजरी गातीं। हम लड़कोंके झूले दिन भर चलते रहते। उस वक्त मेरे साथी और साथिनें मुनी-चुनी कजरीके एकाध पद गाते। 'रुन-झुन खोला हो केवडिया, हम विदेसवा जइबै न'। यह पद मुझे बहुत प्रिय था, किन्तु इसके पिछले भागका ही मुझे अर्थ मालूम था।

बरसातमें कबड्डी और जाडेमें दूसरे खेल गांवके लड़के भी खेला करते, लेकिन नानाके डरके मारे मैं अपना खेल पहिले ही खतम कर आता। खाते-पीते घरका लड़का प्रकट करनेके लिये एक दिन नानाने मेरे हाथों-पैरोंमें चांदीके मोटे-मोटे कड़े और कानोंमें सोनेकी बालिया डलवा दी—जेवरके पीछे लड़कोंकी मौतकी बहुतसी कहानियां उन्हें भी मालूम थीं, किन्तु रवाजको कौन तोड़ता? एक दिन—शायद उस दिन नाना गांवपर नही थे—हम दोनोंने गांवकी कबड्डीमें भाग लिया। संयोगसे हम दोनों दो पक्षमें बँट गये। कबड्डी पढाते वक्त दलसिंगारने मुझे पकड़ना चाहा। उसी समय दलसिंगारके सामनेके एक दाँतसे मेरे हाथका कड़ा इतने जोरसे लगा, कि दाँतका एक नोक टूटकर गिर गया। खैरियत यही हुई, कि

उनका ओठ खुला रहनेसे बच गया। दलसिंगारको जरा भी गुस्सा नहीं आया
मैं सहम गया। दलसिंगारका वह टूटा दांत स्थायी चिह्नसा बन गया था।

पन्दहाकी ओरसे जानेवाले लड़कोंकी संख्या कुछ बड़ी थी, यद्यपि पन्द
ग्रामसे मैं और दलसिंगार दो ही जाते थे। गांवके दक्षिण तरफ पोखरियों औ
गड़हियोंका एक संघ था, जो बसई और दूसरे गांवों तक फैला हुआ था। पन्दहा
चार गड़हियां इस संघकी सदस्या थीं, जिनमें महामाईकी पोखरी गांववालों
नहानेका भी काम देती थी। बसई इसी पोखरी-संघके पश्चिम तटपर बसा हु
मुसलमानोंका गांव था। वहांके कब्रिस्तानकी कितनी ही पक्की कब्रें, बतला र
थीं, कि किसी वक्त वहांके सैयद-परिवारोंके दिन अच्छे थे, मेरा उस समय बसई
किसी इतिहास-गवेषककासा सम्बन्ध न था। बसईमें सैयदोंके चार और कोइरी
लड़का हीरा हमारे मदरसेके साथी थे, हीरा तो मेरे दर्जेमें पढ़ता था, सैयद औ
कोइरीके अतिरिक्त बसईमें मुसलमान दरजी, धुनिया और जुलाहोंके और बहुत
घर थे। आसपासके कई गांवोंमें बसईका ताजिया मशहूर था। ताजिया देखने
अलावा भी हम कितनी ही बार वहां पहुँच जाते, बसईके पुराने खंडहरोंपर उ
शरीफ़ेके फल खाते। हमारे साथी सैयद-जादोंमें दो मुझसे अधिक उमरके थे
और दो बराबरके, उनमें दो अनवरहुसेनके लड़के और दो सगे-भतीजे उन
पड़ोसीके घरके थे। इन सैयदोंकी जमीन प्रायः सभी बिक-बिका चुकी थी
आश्चर्य होता था, कि इतनेपर भी वे साफ़ कुरता-पाजामा पहनने कहांसे थे? अनव
मियां तो घरपर ही रहते थे, किन्तु उनके पड़ोसीके घरका एक आदमी सिंहापु
सिलाड-सा सिलाट (सिलाट) ही लोग उच्चारण करते थे–में कोई नौकरी
करता था। सैयदोंके सड़े घरोंसे खंडहरोंकी संख्या अधिक थी, और उनकी
ईंटोंकी जुड़ाई, दरवाजों तथा खिड़कियोंसे रहनेवालोंके अच्छे दिनोंका पता लगता
था। दूसरी जातिके मुसल्मान तो सदासे बसईके वाशिन्दे हो सकते थे, किन्तु
सैयद बाहरसे आये थे, इसमें तो सन्देह ही नहीं–वे सैयद शिया थे। मुसल्मानी
जमानेमें, विशेषकर जौनपुरकी शर्की बादशाहतके समय उनके पूर्वज बसईमें आकर
बस गये हों तो कोई ताज्जुब नहीं। उनके घरोंमें कड़ा पर्दा था, किन्तु हम छोटे-
छोटे बच्चे बिना रोक-टोक अपने साथियोंके साथ उनके घरके भीतर चले जाते थे।

मेरे नानाकी आसपासके कुछ और शिया सैयदोंसे घनिष्टता थी। अनवर
मियांके बारेमें तो नहीं कहता; किन्तु दूसरे जब हमारे घर आते तो वे अपने ही
हाथसे पानी निकालकर पीते थे। हिन्दूके हाथकी–चाहे वह ब्राह्मण ही क्यों न
हो–कुई कोई चीज वे खाते-पीते न थे। गांववाले इस कट्टरताकी बड़ी प्रशंसा
करते थे। मिर्जा नसीम बहीलके मासिन्दे एक बार मेरे लिये मखमलकी फुन्दार
टोपी लाये थे। बचपनका संस्कार बहुत स्थायी होता है, शायद यह उस समयके

कुछ शिया व्यक्तियोंका सम्पर्क ही था, जिसने मेरे दिलमें शिया-समाजके लिये एक खास स्थायी स्नेह और सम्मानका भाव पैदा कर दिया।

× × ×

नानाके यहाके लाड-प्यारने खानेके बारेमे भी मेरी विशेष रुचि पैदा कर दी। दालसे मुझे नफ़रत थी, क्योंकि बचपन हीसे दूध-दही, खाड-शीरा या मछली-तरकारीसे रोटी खानेका मैं आदी था। शायद होश सँभालनेसे पहिले मैंने अपनी इस रुचिको लोगोंसे मनवा लिया था, इसलिये दाल खिलानेका कोई आग्रह न करता था। पन्दहामें धानके खेत न थे, हा 'साठी' धान होता था, किन्तु मुझे भातसे बहुत चिढ़ थी। मेरे जन्मसे पहिले ही नाना-नानी वैष्णव-दीक्षा, और तुलसीकी कंठी ले चुके थे, साथ ही गया-ठाकुरद्वारा भी हो आये थे। अब मछली-मांससे उन्हें कोई वास्ता न था; किन्तु मेरे लिये मछली-मांसका इन्तजाम करनेमें उन्हें कोई संकोच न था। मेरा दुबला-पतला शरीर नानाको और भी इसके लिये मजबूर करता था। गावमें मांस तो छठे-छमासे ही मिलता जब कि गावके कुछ शौकीन लोग बकरा खरीद बाँटी डालते; किन्तु मछलीका मौका अक्सर मिलता था। सिंही, गरई जैसी मछलियां जब जीती मिलतीं, तो दो-दो चार-चार सेर लेकर बैलकी सानीवाली नादमें पाल ली जाती। नादमें पानी और मिट्टीके सिवा और कोई चीज डालते मैंने नही देखा। मैं तो समझता था, मछलियां मिट्टी खाती हैं और पानी पीती हैं—बस उनको और कुछ नही चाहिए। बहुत छुटपनमें कैसे बनती, यह तो मुझे याद नही, किन्तु होश सँभालनेपर मैं ही आगन या गोसारमें मछली पकाता। नानी मसाला पीसकर दे देती, और पकानेका तरीका बतलातीं। आमका मौसिम होनेपर उसे मछलीमें जरूर डाला जाता—आकाशके आम और पातालकी मछलीके समागमको एक पुण्यकी चीज समझा जाता था। जितने दिन जखीरा तैयार रहता, मैं दूध-तरकारीकी बात भूल जाता। आमतौरसे सबेरे दही-रोटी, दोपहरको दूध-रोटी, शामको दूध या तरकारीके साथ रोटी खानेको मिलती। दहीके साथ खांड या चीनीमें अन्तिम बारका निकाला शीरा ('ठोपारी') जरूरी था। 'ठोपारी' शीरा मुझे बहुत पसन्द था। गुड़को दोबारा तावपर चढानेके कारण उसमें एक प्रकारका सोधापन होता, और साथ ही थियरकर कुछ चीनीका अंश भी उसमें मौजूद रहता। नानाने किसी कार-खानेवालेको सौ-दो सौ रुपये कर्ज दे रखे थे, और शीरा उसीके सूदमें आया करता था।

पहिननेकी मेरी आवश्यकताएं बहुत मुख्तसर थीं। मामूली दो पतली धोतियाँ, एक अँगोछा—जो पहिले-पहिल लाल-('किरौंजी') मिट्टीमें रँगे मिलते थे। और दिनोंमें सूती कुरता, किन्तु जाड़ोंमें ऊनी या अध-ऊनी कपड़ेका बटनदार अँगरखा

होता। टोपी भुला देनेमें मैं बहुत उस्ताद था। कितनी ही बार तो गरदनपर कुरतेसे उसे टाँक दिया जाता था। नंगे शिर मदरसा जाना कायदेके खिलाफ़ था, नहीं तो टोपी गुम होनेसे जितने अधिक मैं और घरवाले परेशान थे, उससे नंगा शिर रहना ही पसन्द आता। एक बार नानाने किसी रेशमी कपड़ेकी दुपल्लिया टोपी मेरे लिये सिलवाई। दो-चार दिन मैं उसे ठीक नहीं रख सका। शामको मदरसेसे घर चलते वक्त देखा—टोपी नदारद। नाना डाँटेंगे, इस डरके मारे पन्दहा जानेका नाम कौन ले। इधर-उधर करते अँधेरा हो आया। मदरसेके पास नानाका परिचित एक बढ़ई था, जो बैलगाड़ीके पहिये और दूसरा सामान बनाकर बेचा करता था। कोई बहाना करके मैंने रातको वहीं रहना चाहा। जाड़ेका दिन, और मेरे पास बदनके कपड़ेके सिवा कोई कपड़ा न था। बढ़ई भी गरीब था। उसने एक बोरा दिया। शिर बाहर रख मैं उसीमें घुसकर लेट रहा। दो घंटा जाते-जाते ढूँढ़नेमें परेशान नाना वहाँ पहुँचे। पूछनेपर बढ़ईने कहा—यही तो सो रहा है। बोरेमें पड़े मुझे देखकर नानाका गुस्सा न जाने कहाँ रफू-चक्कर हो गया। उनके दिलकी क्या अवस्था थी, इसे तो मैं नहीं कह सकता; किन्तु जरासा ठहरकर बड़े मीठे स्वरमें उन्होंने कहा—टोपी भूल गई, तो डरनेकी क्या बात, चलो, तेरी नानी तेरे खानेके इन्तजारमें रो रही है।

हम घर पहुँचे, शायद उसी वक्त कुरतेमें टोपीके टाँक देनेकी तजवीज पास हुई और कुछ दिन तक उसपर अमल भी किया गया।

गाँवके और लड़कोंकी भाँति मेरे लिये भी जूता अनावश्यक समझा जाता था। पहिले-पहिल यागेशके ब्याह (१९०४ या ५ ई०) में मेरे लिये जूता खरीदा गया था। जूता मेरे पैरके लिये बहुत छोटा था, किन्तु मोचीने लकड़ीके टुकड़े ठोंक-ठाककर उसे बड़ा किया। उसके पास और कोई जूता न था, इसलिये नाना उसीको लेनेपर मजबूर थे। बारातके बीच हीमें एक जूता कहीं गुम हो गया या कुत्ता ले गया, और दूसरेको फेंककर मुझे मुफ़्तमें कई दिनों तक बड़े पैरोंकी हिफ़ाजत करनी पड़ी। बरसातके दिनोंमें खड़ाँदार खड़ाऊँ गाँवोंके लिये जरूरी चीज थी। वह कीचड़ हीमें नहीं बल्कि पशुओंके गोबर और पेशाबसे मिश्रित गड्ढे कीचड़में अधिक रहनेपर पैरकी अँगुलियोंमें हो जानेवाले घावसे भी बचाती थी।

बरसातमें भी मदरसा तो जाना ही पड़ता था। किताब शायद स्कूलमें छोड़ आते थे, क्योंकि मेरे पास कपड़ेका छाता कभी नहीं रहा। बाँसके छाते काफ़ी मजबूत और सस्ते मिलते थे, लेकिन बहुत कम ही मैं उन्हें इस्तेमाल करता था। कितनी ही बार पानीके जोरमें भीगते ही मुझे घर आना पड़ता, किन्तु लड़कपनमें पानी-बूँदीमें भीगना कोई तकलीफ़की चीज न थी। हाँ, बिजलीकी गड़गड़ाहट और चमकसे दिल जरूर दहल जाता था। ऐसे समय घरपर रहनेपर तो नानी 'हे

भगवान्, तुम्हारी शरण' कहती, किन्तु रास्तेमें शायद मैं तो सहम ही कर रह जाता। टौंस नदी पन्दहासे दो मील उत्तर तरफ है, किन्तु बाढ़ आनेपर उसका पानी गावके सिवाने तक चला आता था। उस वक्त गावके नर-नारी घर-आयी 'गंगा' समझकर नहाने जाते। मेरी धारण थी, शायद गंगाका पानी बाढ़में यहा चला आता है, मैं यह सोचनेकी तकलीफ़ गवारा करनेको तैयार न था, कि यह पानी तो अब यहासे नीचे जाकर गंगामे मिलेगा।

× × ×

सन् १९०१ ई० के जाड़ोंमें मैं आठ वर्षका हो रहा था। मौलवी इस्माईलकी 'अलिफ़' में पढ़ाई जानेवाली किताब 'पाना-जाना-खाना' (आरंभ) से लेकर अन्त तक मुझे याद थी। दर-असल पढाये जानेवाले विषय तो मेरे लिये तीन-चार महीनेके काम थे, बाकी तो दिन-कट्टी कराई जाती थी। कितना समयका अपव्यय था, लेकिन उस वक्त इसका खयाल थोड़े ही आता था। इसे तो हम सनातन नियम समझते थे। उसीसाल जाड़ोंमें पन्दहामें पैमाइशके अमीन आये। हमारे ही दरवाजेपर उन्होंने डेरा डाला। मुझे कहानी सुननेका बड़ा शौक था। नानीकी कहानियाँ तो न जाने कबकी खतम हो चुकी थीं। एक बार सुनी कहानीको दूसरी बार मैं पसन्द न करता था। सतमी और उसकी लडकी सुखियाने भी अपनी कहानियोंके कोशको खाली कर डाला था। जब कोई नया व्यक्ति—खासकर स्त्री—रातको हमारे घर ठहरने आती, तो मुझे सबसे ज्यादा खुशी होती; मैं उससे जरूर एकाध कहानी सुनता। मुश्किल यह थी, जहां और लड़के कहानी सुनते-सुनते सो जाते, वहां मेरे लिये वह नींद हराम कर देती। अमीन लोगोंकी —हां-, वह एकसे अधिक थे—पैमाइशसे न मुझे वास्ता था, और न नानीकी भाति मुझे इसकी फ़िक्र थी, कि पैमाइशके कागजोंमें कुछ अपने अनुकूल बातें दर्ज करा ली जावें। नानाने अपने नामके साथ मेरा नाम कागजपर लिखवा लिया था, जिसके लिये उनके पट्टीदारोंने उज्र किया और डिप्टी बन्दोबस्त—जो मेरे ही नामराशि कोई पंडित केदारनाथ थे—ने मेरी पीठ ठोंकते हुए नानासे कहा—नाम दर्ज कराकर क्या करोगे, खूब पढाओ बच्चेको। मुझे खयाल आता था, क्या मैं भी डिप्टी होकर इन्हीकी तरह कुर्सीपर बैठ मुकदमेका फैसला कर सकूगा। हा, तो अमीन लोगोंसे मेरा रब्त-जब्त बहुत बढ गया, क्योंकि वे मुझे कहानियां सुनाया करते थे, जो ज्यादातर किताबोंकी हुआ करती। इन्हीं कहानियोंमें काठके उड़न्तू घोड़ेकी भी एक कहानी थी।

दिसम्बरमें सालाना इम्तिहान हो जानेपर एक या दो सप्ताहकी छुट्टी होती, और मैं कनैला चला जाता। पन्दहामें जितना ही मैं पिंजड़ेमें बन्द रहता, कनैलामें मैं उतना ही आजाद। सवेरेसे पहर भर रात तक मैं खेलमें मशगूल रहता, घर सिर्फ़ खानेके लिये आता, और कभी-कभी किसी 'आजी' (आर्या-पितामही) के

यहाँ ही वह हो जाता । भालमें एक बार आनेके कारण अपने नजदीकके आस-पासके घरोंके लिये मैं बहुत प्यारा लड़का था । शायद झगड़े-झंटेका स्वभाव न होना भी उसमें सहायक था । यही वक्त था जब कि कनैलाके धान कटने थे—कनैलाके धान और रब्बीके खेत बराबर-बराबर थे । लम्बा-चौड़ा ऊसर 'हापड़' (दिहाती हाकी) खेलनेका सुन्दर क्षेत्र था और अज्ञातकालसे सैकड़ों पीढ़ियां जैसे वहां इन दिनों हापड़ खेलतीं, वैसे ही अब भी लोग खेला करते । लड़के तो खेलते ही थे किन्तु खिचड़ी (मकर संक्रान्ति) के आसपास तो जवान और प्रौढ़ भी हापड़ खेलते थे । मैं हापड़, गिल्ली-डंडा सबमें शामिल रहता, किन्तु जिस वर्गके मत्थे मैं पड़ता उसे घाटे हीमें रहना पड़ता । पन्दहाका मारभग्गा अकुला दौड़-धूपके अयोग्य किये रहता, फिर वहाँ कौनसा पौरुष दिखलाता । बिरजू अब नहीं थे, किन्तु दूसरे चचा कृष्णा—जिन्हें मैं 'किसा' कहकर पुकारता था—खेलके साथी थे । हम दोनोंकी आयु बराबर थी । उनकी तीर-कमान देख मैं भी तीर-कमान बनाता, गोंदके साथ कांटेको तीरपर चिपकाता, और दोनों चलते चिड़ियोंका "शिकार" करने । किसी चिड़ियाका शिकार किसाने भी कभी किया—यह मुझे याद नहीं, शायद वे तीर-कमान शिकारके लिये थे भी नहीं; किन्तु मेरा तो एक निशाना भी कभी नहीं लगता था । गांवके पोखरे या पोखरी—जिनकी संख्या काफी थी—में हम दोनों कभी-कभी मछली मारने जाते । वहां भी, जहाँ किसा जिधर हाथ डालते उधरसे ही गरई या टेंगरा, असोय या सिंही निकाल लेते, वहां मेरे हाथमें सिधरी (पोठिया) या झिंगा भी नहीं आता । हां, सिंही या टेंगनोंसे हाथ कटानेका मौका मुझे कितनी ही बार मिला । मछली कोई मारे, किन्तु जब पत्तोंकी आगमें उसे भुना जाता, तो हम दोनों मिलकर खाते ।

कनैलामें मांस मिलनेका अक्सर मौका मिलता । वहां मुसलमान चूड़ीवालोंके कितने ही घर थे; वे रेह, सज्जी और मसालेसे खुद चूड़ी बनाया करते थे, और अभी दिहातमें कांचकी फैन्सी चूड़ियां न चली थीं, इसलिये उनकी बहुत मांग थी । सभी मजदूर-पेशा जातियोंकी भांति हमारे चूड़ीहार 'खाये-पीये' को ही स्वारथ समझते थे । हर महीने ही उनके यहां एकाध बकरा काटा जाता, और मैं भी उसी-मेंसे खाता । यह लोग हमारे घरसे कर्ज लेते थे, इसलिये भी मुझपर विशेष ख्याल रखते थे । घरमें अधिकतर भक्त लोग थे, इसलिये बाहरकी गोंसारमें मुझे ही चखना पड़ता ।

उर्दूवालोंको पट्टीपर स्याहीसे लिखना पड़ता, किन्तु हिन्दीवाले अपनी पट्टीको कजलीसे पोतकर सुखाते, फिर शीशेसे रगड़कर चमचम करके उसपर खड़ियाकी सफेद स्याहीसे लिखते । कनैलासे मैं कितने ही मोटे चुन्दे या बरोनी बनवाकर लाता, और अपने हिन्दीवाले साथियोंको सौगातके तौरपर पेश करता । चूड़ीहार,

जिनमें अधिकांश नातेमें मेरे चचा या दादा ही लगते थे (इस नातेको गावोंमें बड़ी कड़ाईके साथ माना जाता था) मेरी फ़र्माइशको अस्वीकार नहीं करते थे।

किशा और दूसरे साथियोंके साथ मैं कभी-कभी कौड़ी खेलने भी जाता, किन्तु उसमें भी मेरे लिये सदा हार ही रहती।

कनैलाकी यह आजादी पन्दहाके जीवनके सामने मेरे लिये बहुत आकर्षक थी। मैं सालभर इम्तिहानकी छुट्टियोंकी बाट जोहता रहता। पन्दहामें गर्मियोंमें नाना पुरानी बखरीके अँधेरे घरमें—जहां मक्खी और गर्मी कम थी—सो जाते, उस वक्त नानीसे कोई बहाना कर मैं बाहर निकल जाता। बागमें धूप और लूकी जरा भी परवाह न करते कितने ही खिलाड़ी डटे होते। अधिकतर चिब्भी-डांडी, चीका या ओल्हापातीका खेल होता। ओल्हापाती मेरे बससे बाहरकी बात थी, क्योंकि मैं दरख्तपर चढ़ना न जानता था। हा, चिब्भी-डांडी या चीकामें मैं शामिल हो जाता। दो-दोकी पार्टी होनेपर तो कोई बात नही, किन्तु जब पाच-पांच, छँ-छँ चिब्भियां पांतीसे खड़ी की जाती, तो अपनी जोड़ी तक निशानेको परिमित रखना मेरे वशकी बात न थी, और फिर दूसरे जोड़ेकी चिब्भीमें लग जानेपर, सभी जीते दाव जल जाते थे। मुझे यह भी खयाल रखना पड़ता था, कि नानाके उठनेसे पहिले घर पहुँच जाना हैं। नानाको गरम लूकी बहुत चिन्ता थी, और नानीको लूसे भी अधिक भय था, दोपहरको छोटे-बड़े बवंडरकी शकलमें घूमनेवाले भूतों और चुड़ैलोंका। उनको यही सन्तोष था, कि उस वक्त बागमें और भी बहुतसे लड़के खेलते रहते हैं।

× × ×

दर्जा १ में (१९०२ ई०) पहुँचते-पहुँचते बाबू द्वारिकाप्रसाद सिंह बदल गये, और उनके स्थानपर बाबू पत्तरसिंह रानीकीसरायमें अध्यापक होकर आये। नये अध्यापककी उम्र ५० के आसपास थी। उनके दो भागमें बांटकर सँवारे हुए शिरके (पटेके) कितने ही बाल सफ़ेद हो चुके थे, मूंछें सीधी ऊपरकी ओर सँवारी होतीं। उनके एक पैरमें फीलपांव था, और शायद इसीलिये धोतीका एक फांड़ जहां पैरके पंजों तक पहुँचता, वहां दूसरा घुटनों ही पर रुक जाता। जहां बाबू द्वारिकासिंहको पूजा-पाठ करते हमने नही देखा था—'राजपूत' (!) पत्र वह जरूर मँगाया करते थे—, वहां बाबू पत्तरसिंह खूब पूजा करते थे। आते ही उन्होंने चहारदीवारीके किनारे फाटकके पास तुलसीका चौरा बांध दिया। गेंदा, बेला और दूसरे फूलोंके लगानेकी ओर भी उनका काफ़ी ध्यान था। तुलसीचौराके पास ही चौलाई और करैलीकी क्यारियाँ बनी थी। लेकिन हमारे लिये जो खास बात जानने की थी, वह था उनका गुस्सा, निर्दयतापूर्वक लड़कोंको पीटना; और इसीलिये उनकी पूजा-पाठ हमारी नजरोंमें कोई वकअत न रखती थी। मैं सबसे

तेज होनेके कारण स्कूलमें सबसे कम मार खानेकी सम्भावना रखनेवाला लड़का था, किन्तु बाबू पत्तरसिंहके आयें दो सप्ताह भी न हुए थे, कि एक दिन लड़के जब मैं अपना सबक सुना रहा था, उस समय न जाने क्या गलती हुई, कि उन्होंने चारपाईके नीचेसे खड़ाऊँ उठाकर मारा, वह मेरे पैरमें घुटनेसे नीचे हड्डी में आकर लगा और खून बह निकला। जब तेज लड़केकी यह बात थी, तो मन्द और साधारण लड़कोंकी बात ही क्या? लड़के डरके मारे उनसे कांपते थे। हम धीरे-धीरे उनकी मुद्राओंसे परिचित हो गये थे। वे अक्सर कुर्सीकी जगह चारपाईपर बैठकर पढ़ाते थे, और पढ़ाते-पढ़ाते सो जाते थे। सोनेके बाद उनके पटेके जुल्फ अस्तव्यस्त हो जाते, और हम जानते थे कि इसी वक्त उनके गुस्सेका पारा सबसे ऊपर चढ़ा होता है। उसकी दवा भी हमें मालूम हो गयी थी। देखते ही बिना एक दूसरेकी प्रतीक्षा किये खुद-बखुद—(क्योंकि जब उनका हाथ छूटता तो वहां कसूर-बेकसूरका सवाल नहीं होता) दो लड़के दौड़ जाते, एक नारियलमें नया पानी बदलता और दूसरा बोरसीके अंगारसे चिलम तैयार करके लाता। बाबू पत्तरसिंह मुस्कुराते हुए पटेके बालोंको एक हाथसे पोछते और सँवारते दूसरे हाथमें नारियलका हुक्का थामते।

कहावतें उन्हें सैकड़ों याद थीं, और बिल्कुल मौकेकी। हाथसे जहां छड़ी बरसाती, वहां उनके मुंहसे कहावतोंकी झड़ लग जाती। हमारे दर्जेके एक लड़के दूधनाथराय पढ़ने-लिखनेमें बहुत कमजोर थे और इसीलिये मदरसा आनेमें उनको बहुत उज्र था। बेचारेको पिटनेकी आदत थी, और उसके लिये उनके शरीरपर काफी मांस भी था। एक दिन कई दिनकी गैरहाजिरीके बाद पकड़कर मदरसा पहुँचा घरवाले लौट गये। दूधनाथके कानमें सोनेकी बड़ी-बड़ी नयी बालियां पड़ी थीं। बाबू पत्तरसिंह एक ओर बांसकी हरी छड़ियोंको उनके बदनपर तोड़ते जाते थे, दूसरी ओर कहते जाते थे—'एक तो रहा बानर नोना, दूसरे पड़ा कानमें सोना।' मैं तो समझता था, अभी तुरन्त दूधनाथके लिये ही उन्होंने यह कहावत गढ़ी। उनकी कितनी ही कहावतें हँसानेवाली थीं, किन्तु मार खाते वक्त बड़ी जायकेदार कहानियोंपर हँसनेकी किसकी शामत आती? हँसते देखा नहीं कि बोल उठे—'हँसते हो, यहां आओ तो ..... क्या यहां रंडी नाच रही है, अच्छा हँसो।' और फिर छड़ी बरसने लगती।

जब प्रसन्नचित्त होते, तो चारपाईपर लेट जाते। लड़के उनका बदन दबाते—ब्राह्मण लड़कोंसे पैर नहीं छुआया जाता था। और फिर कहानियां शुरू होतीं। जब वह पँदहाके पास किसीके दक्षिण ओरपर किसी स्कूलमें पढ़ाते थे, तो हर रविवारको गंगास्नान करने जाते। एक दिनकी बात कह रहे थे—'स्नान करके लौट रहा था', अँधेरा हो चला था, मैं पैर बढ़ाये घरकी सड़कपर आ रहा था। मगर

जो जरा फिरी तो देखा सड़कसे नीचे-नीचे कोई चुपचाप चल रहा है। मीलभर चला गया और अब भी वह व्यक्ति साथ ही चल रहा था। मैंने पूछा, तो जवाब मिला-'आंओं, इँधरसें न चँलों।' नाकसे निकलती आवाज सुनकर मेरा तो मत्था ठनका। मैं सड़कसे नीचे क्यों उतरने लगा? जानते हो, पक्की सड़क सरकार बहादुरकी सडक है। सरकारका अकबाल है, उसपर आकर किसी भूत-प्रेतको घात करनेकी हिम्मत नही हो सकती। वह बराबर नीचे बुलाता रहा, किन्तु मैं सड़कके बीचसे चलता रहा। मील आध मील और पीछा करके वह यह कहता हुआ चला गया-अँच्छा, जां, बँचकें निकल गँया।' "

बाबू पत्तरसिंहकी बात याद कर मेरे दिलमें होता था, काश ! हमारी पन्दहा-वाली सड़क कच्ची न हो पक्की होती, फिर तो 'ठूंठे पीपलके बाबा' को अँगूठा दिखलाना आसान होता।

× × ×

आषाढ़ (जून या जुलाई १९०२ ई०) का महीना था। अभी वर्षा शुरू न हुई थी। आज मदरसामें दिनभर टाटकी सफाई, गोबरसे शालाकी लिपाई तथा हाते-में गेंदेकी पौदोंके रोपनेका काम हो रहा था। दर्लसिंगार भी काम कर रहे थे। दोपहरको दर्लसिंगार काम छोड़ बैठे, कह रहे थे बदनमें दर्द है। दोपहर बाद उन्हें एक-दो कै हुई। आज समयसे पहिले ही छुट्टी हो गयी, क्योंकि पढ़ाई बन्द करके सभी लड़के सफ़ाईमें लगाये गये थे। मैने देखा दर्लसिंगारकी आँखें लाल थीं। उनका शरीर गरम था, कह रहे थे-बदन फट रहा है। हम दोनों घरकी ओर रवाना हुए। किसी तरह रानीसागरके भिंडेको पार हुए। अब दर्लसिंगारको एक कदम भी चलना मुश्किल था। लाचार मैंने उन्हें अपनी पीठपर चढ़ाया, और घोड़ैया ले चला। मैं भी शरीरसे कमजोर था, और ऊपरसे मेहनत करने और बोझ ढोनेकी आदत न थी; एक बार दस-पन्द्रह कदमसे ज्यादा चलना मेरे वश की बात न थी। बैठ जानेपर दर्लसिंगार पैर-दर्दसे रोते। मैं पैर दबाता, और रोता। रातके डरके मारे फिर हिम्मत करके उठाता, और फिर वही पुनरावृत्ति। शाम तक न जाने कितने सौ बारकी उठक-बैठकमें हम पन्दहा पहुँचे।

सवरे नानी कह रही थी-'हम लोग तो आग में हैं ही, 'बच्चेको कनैला भेज देना चाहिए। हैजा जोर पकड़ रहा है।'

नानाने भी स्वीकृति दे दी। और आदमीके साथ मुझे कनैला भेज दिया गया।

५

रानीकीसरायकी पढ़ाई (१)

कनैलाके हैजेमें हमारे घरका कोई नहीं मरा था, यह कह आये हैं। बीमारीके वक्त शायद 'आजी' ने शतचंडी (सौ बार चंडी) का पाठ माना था। आजकल वही पाठ चल रहा था। पाठ बाचनेवाले थे हमारे फूफा पंडित महादेव पांडे और उनके मौसेरे भाई महावीर तिवारी। महावीर तिवारी एक-एक अक्षर टटोल-टटोलकर पढ़ रहे थे, किन्तु फूफा फरफर पढ़ते जाते थे। उनके पास नसदानी रखी हुई थी, बीच-बीचमें वे नस लेते जा रहे थे। शामको नससे भरी रूमाल साफ की जाती थी। सवेरे पाठ समाप्त कर गरम दूधमें भिगोया घरके मुताबिक चावल चूरा नाश्तेके लिये तैयार रहता। शायद उसके बाद फिर पाठ चलता। पाठ संस्कृतमें होता,—चंडीपाठका भाषामें अर्थ नहीं किया जाता। दोपहरको भोजन, फिर विश्राम। शामको ३-४ बजे फूफा साहेब घरमें बुलाये जाते। फर्शपर एक ओर वह बैठते, और सामने बैठतीं मेरी मा, शायद चाची भी (उन्हें मैं काकी कहा करता), मेरी कोई बुआ, कुटुम्बकी भी शायद दो-तीन चाची-बुआ। दामादके स्वागतमें ऐसी गोष्ठी रचनेकी प्रथा है, इससे उसका मनोरंजन होता है। वार्तालापका विषय घरबारका हाल-चाल और कुछ हँसी-मजाक। फूफासे मैं बहुत जल्द हिल-मिल गया और एकाध बार उनकी इस गोष्ठीमें मैं भी शामिल हुआ। सावनका पानी बरस चुका था, और कनैलाके ताल-तलैयों, तथा डबरों (पल्वलों) में पानी भरकर बह गया था। शामको फूफा साहेब दूर पूरब तरफ चले जाते, और वहीं शौच-स्नान करके लौटते।

फूफा महादेव पंडितके बारेमें मैंने कितनी ही बातें सुनी थी। वह बहुत भारी पंडित हैं—इतने भारी, जितने कि आसपास दस-बीस कोसमें कोई नहीं। बहुत विद्या पढ़ जानेके कारण ही वह एक बार सालभर पागल रहे। उस वक्त तो मुझे विश्वास होता था, जैसे बहुत खानेसे भोजनका अजीर्ण होता है, उसी तरह बहुत पढ़ जानेसे विद्याका अजीर्ण होता है, किन्तु वह संस्कृत पढ़नेवालोंको ही। शतचंडी पाठ समाप्त होनेमें शायद एक मास लगा। उसके बाद जब फूफा अपने गाँव पाठशाला जाने लगे, तो मुझे भी लेते गये। शायद घरवालोंसे उन्होंने संस्कृत पढ़ानेकी स्वीकृति भी ले ली थी। कनैलासे पठखौली ३ मीलसे अधिक दूर नहीं है। मैं फूफाके साथ उनकी घोड़ीपर चढ़ा। गर्मीमें मँगई नदीमें काफी पानी था। मुझे कन्धेपर चढ़ाकर पार किया गया।

पठखौली में हिल-मिल गया था। बुआको मैंने अभी तक देखा न था, वह

कई वर्षोंसे कनैला आयी ही न थीं। वहां चार-पांच स्त्रियां थीं, जिनमें दो कपड़े-जेवरमें विशेषता रखती थीं। मैं यह तो समझ गया कि इन्हीं दोनोंमें एक मेरी बुआ हैं, किन्तु अपनी बुआको जेठानी सुन यागेशकी मांकी ही मैंने अपनी बुआ समझा। बछवलमें मेरी आयुके काफ़ी लड़के-लड़कियां थी, जिनमें समान आयुके होनेके कारण यागेशसे ज्यादा घनिष्ठता हो गयी, और पीछेके सालोंमें तो मेरी अपनी बुआके लड़के नहीं बल्कि उनके चचेरे भाई यागेश मेरे घनिष्ठ मित्र और साथी बने।

५, ७ दिनोंमें मेरा और लोगोंका भी कौतूहल शान्त हो गया। फूफा महादेव पंडित संस्कृत व्याकरणके प्रौढ़ विद्वान् थे। उन्होने महाभाष्यान्त व्याकरण पढ़ा था, और पढ़े ग्रंथ बहुत कंठस्थ थे। उनके पास काफी खेत और अन्न-धन था, अतएव उनके लिये अपनी विद्याका और कोई उपयोग आवश्यक न था। वे वहीं अपने द्वारपर विद्यार्थियोंको संस्कृत पढाया करते। ज्यादातर विद्यार्थी सारस्वत, चंद्रिका, मुहूर्तचिन्तामणिके होते थे, किन्तु कितने ही सिद्धान्तकौमुदी भी पढ़ते थे। फूफा जी आसपासके गावोंसे विद्यार्थियोंको 'मुठिया' अन्न मिलनेका प्रबन्ध भी करा देते थे, किन्तु जहां आधी चौथाई सिद्धान्तकौमुदी समाप्त हुई, कि विद्यार्थी बनारस दौड़ जाते। बनारसका नजदीक रहना महादेव पंडितकी पाठशालाकी उन्नतिमें भारी बाधा थी।

सप्ताह बीतते-बीतते फूफाने मुझे भी सारस्वत पढ़ाना शुरू कर दिया "नत्त्वा सरस्वती देवी" और आगेका पन्ना भी मैंने कंठस्थ कर डाला। स्मरणशक्ति मेरी बहुत तीव्र थी, फूफा चाहते थे कि मैं संस्कृत पढ़ूं। मैं सोचता हूँ—काश ! मैं फूफाके यहा पढनेको छोड़ दिया जाता। संस्कृत खूब पढ़ता। ग्रंथ सारे कंठस्थ होते, क्योंकि अभी यह धारणा मुझे नहीं हुई थी, कि रटना बुरी चीज है। तो क्या सिर्फ़ संस्कृत पढ़नेके कारण मैं विचारस्वातन्त्र्यसे वंचित न हो जाता ? नही कह सकता। बनारस तो जाता ही, शायद वहां किसी चौरस्तेपर पड़ जाता। बछवलमें खेल-कूदकी आजादी थी। फूफाके घरसे पूरब एक कुआं था, जिसका पानी दो पुर नाघनेपर भी नही कम होता था। मेरे बाल-साथी बड़ी-गम्भीरतापूर्वक मुझे समझाते थे—'इस कूएंका जब खांखर काटा गया, तो इतना पानी भीतरसे चला कि खोदनेवाले आदमियोंको जब तक रस्सेसे खीचकर बाहर निकाला जाय, तब तक पानी बढ़कर कूएंके मुंहपर पहुँच गया।' मैं सास रोककर बोल उठा—'कूएंके मुंह तक !' साथियोंने बतलाया—'फिर पूजा की गई। सोतेके मुंहको रजाई और चक्कीके पाटसे बन्द किया गया, तब जाकर पानी रुका।' मैं समझता था, यदि यह सब इन्तिजाम न किया गया होता, तो पानी मुंहसे निकल खेतोंको डुबाता, और फिर बाढ़ बनकर सारे गांवका सत्यानाश कर देता।

महीना बीतते-बीतते पन्दहाका सन्देश कनैला होकर बछवल पहुंचा—नानीका आदमी इन्तजार कर रहा है, पन्दहा जाना है। नये मित्रोंके बिछुड़नेका अफसोस जरूर हो रहा था, किन्तु पन्दहामें भी नानीकी शीतल गोद और मधुर स्नेह प्रतीक्षा कर रहा था, वहां भी दलसिंगार जैसा बालसंघाती मौजूद था।

पन्दहा पहुँचनेपर मालूम हुआ, पिछले हैजेमें गांवके दस-बारह आदमी मरे। दलसिंगार बच गये। देवी एक स्त्रीके शिरपर आकर बोली–'मैं तो रास्ते-रास्ते जा रही थी, यही दोनों लड़के मुझे यहां लाये। खैर ! इन्हें छोड़ दूंगी, किन्तु गांवसे बिना कुछ लिये नहीं जाऊंगी'। शायद उसी बीमारीमें दलसिंगारके बचाने भगवतीके मन्दिरकी स्थापनाकी मिन्नत मानी।

दलसिंगारसे मैं मिल आया। वह अभी भी कमजोर था। दो-चार दिनों बाद मुझे मदरसा जाना पड़ा, लेकिन इस जानेमें वह उत्साह न था, क्योंकि दलसिंगारकी माँने यह कहकर उससे पढ़ना छुड़वा दिया–'मेरे दो जेठ इसी घरमेंसे एक साथपर उठ कर गये। उनकी बड़ी पोथियोंका ढेर अब भी उस घरमें रखा है। जाने दो बच्चा, हमारे घर पढ़ना नहीं सहता, तुम जीते रहो यही बहुत है।'

दलसिंगारको जबर्दस्ती रोका गया था। मैं उसकी क्या सहायता कर सकता ? बीच-बीचमें हम मिल लिया करते, लेकिन अब वह साथ पढ़ने-खेलने और चलनेका आनन्द नहीं था।

मदरसेमें मेरे एक सहपाठी शोभितलाल थे। और उर्दू पढ़नेवाला दूसरा लड़का हमारे दर्जेमें न था। दलसिंगारके स्कूल छोड़नेके बाद राजदेव पाठक और गांवके पटवारीके पुत्र बसन्तलाल कुछ समय तक स्कूलके साथी मिले, किन्तु दोनो ही पढ़ने में कमजोर थे, ऊपरसे बाबू सतरंगिहकी छड़ीका खयाल आते ही सबकी रूह कांपने लगती। एक बार राजदेवने अपने साथ मुझे भी हफ्ता भर गैरहाजिर रखा। पहिले दिन खेलनेमें देर करके राजदेवने—जो आयुमें मुझसे काफी बड़े थे—कहा, अब जानेसे मुंशीजी मारेंगे। बात ठीक थी, हम नहीं गये। दूसरे दिन तो अब दुहरी मार निश्चित थी। इस प्रकार हम लोग रोज घरसे गर्नाकी-सराय पढ़ने जाते, और शामको ठीक समयपर घर लौट आते। नाना कई दिनों के बाद रिश्तेदारीसे लौट रहे थे। उन्होंने सोचा, बच्चेको साथ ही लेते चलें। मदरसेमें मुन्शीजीसे पूछा, तो मालूम हुआ, वह तो हफ्ते भरसे आया ही नहीं। घर आकर नानीसे पूछा, तो जवाब मिला—वह तो रोज नियमसे पढ़ने जाता है।

नानाके लौट आनेपर उनकी पांच-सात-छड़िया ठीक शरीरपर बरसी ।

बादमें गांवके पटवारीके लड़के बसन्तलाल शायद साथी मिले । मंत्र उनका भी वही था । पहिले दिन देर की और फिर घरसे पढ़नेके लिये जाकर, रानीसागरसे थोड़ी दूरपर एक उजड़े नीलके गोदामके हौजमें हम छिपे रहते । पता लगा, मार पड़ी । लेकिन अब ऐसे साथियोंकी सलाहसे मैं चौकन्ना रहने लगा ।

अकेले स्कूल जानेके दिनोंकी एक घटना है । कुत्तेसे मैं बहुत डरा करता था । हमारे सड़कके रास्तेपर कुछ दूर हटकर एक चमारटोली थी । वहाँ एक जबर्दस्त कुत्ता था, जिससे मैं बहुत भय खाता था । और दिन तो किसी और यात्रीके साथ निकल जाता, एक दिन संयोगसे मैं अकेला एक ओरसे आया । और दूसरी ओरसे वही कुत्ता । सड़कके मुड़ाव और ऊखके खेतोंके कारण हमने एक दूसरेको नहीं देखा । मुझे देखकर कुत्ता भूंका—इसका मुझे स्मरण नही । मैं तो अपनेको साक्षात् यमराजके मुहमें समझ रहा था, इसीलिये जीपर खेलकर कुत्तेपर हमला कर बैठा । वस्तुतः हमला करनेके लिये भी मेरे पास न डंडा था न ढेला । मैं उसके ऊपर चढ बैठा । शायद कुत्तेका मुंह मेरे हाथमें था । खैर, एक-दो पटखनी मैंने खुद खाई और उसे भी दी । मालूम होता है, कुत्ता मुझसे भी अधिक भयभीत हो गया था, और हाथ ढीला होते ही वह निकल भागा । कुत्तेको पछाड़नेका मुझे अभिमान कहाँ होता, मेरा तो कलेजा अब भी धकधक कर रहा था । खैरियत हुई, कुत्तेने कहीं काटा नही ।

× × ×

आज तक रानीकीसरायका स्कूल लोअर-प्राइमरी चला आया था । बाबू पत्तरसिंहके समय लड़के बढ़े, जिसका सारा श्रेय लोग उन्हींको देते थे । वस्तुतः इस समय गाँवों में शिक्षा बढ़ने लगी थी । रानीकीसरायमे बालगोविन्द पंडित एक सज्जन रहते थे । उनका मकान ठीक सड़कपर पड़ता था । पहिलेसे लाग-डाँट होनेके कारण, उन्होंने एक अपना अलग स्कूल खोल दिया, या स्कूल खोलनेके कारण बाबू पत्तरसिंहसे उनकी लाग-डाँट बढ़ी । बालमुकुन्द पंडितके स्कूलमें २५, ३० लड़के पढते थे, इससे मालूम होता है, शिक्षाकी ओर बढती रुचि ही विद्यार्थियोंके बढ़नेमें कारण हुई । हमारा स्कूल डिस्ट्रिक्ट-बोर्डका था, और सरकारका उसपर वरदहस्त था, जब कि बालमुकुन्दका स्कूल उनके बलबूतेपर चल रहा था । बालमुकुन्द पंडित कुछ अंगरेजी भी जानते थे, इसलिये भी उनको विद्यार्थी मिलनेमें सुभीता हुई । शायद वह स्कूल बाबू पत्तरसिंहके मृत्यु तक जारी रहा ।

खैर, बाबू पत्तरसिंहके आनेसे एक फायदा तो हुआ, कि रानीकीसरायका मदरसा अपर प्राइमरी हो गया । एक दूसरे अध्यापक मुंशी अब्दुल्कदीर नायब मुदर्रिस बनकर आये ।

६

पहिली यात्रा

पढ़नेका काम मेरे लिये बिलकुल मुश्किल न था। वस्तुतः ४ मासकी पढ़ाईके लिये मेरे बारह मास यों ही बरबाद किये जा रहे थे। नानाको गप-शपकी बहुत आदत थी, यह कह ही आया हूँ। घरमें भी रहते वक्त विशेषकर फुरसतके वक्त—और वह उनके पास काफी था, उन्हें देखना था, सिर्फ श्रोताओं क्योंकि उनके बिना बात की नहीं जा सकती—नानाकी पुरानी आप-बीतियाँ शुरू होतीं। जैसे निद्रित या मूर्छित अवस्थासे बातका तांता शुरू हो, और आदमीको मालूम न हो कि बात कब शुरू हुई, उसी तरह मेरे भी होश सँभालनेसे पहिलेसे यह कथाएं होती चली आ रही थीं, और कबसे मैंने नानाकी कथाएं सुननी शुरू कीं, इसका मुझे पता नहीं। जाड़ेके दिनोंमें रातके वक्त खाना खा लेनेके बाद आगके सामने ही घड़ी रात तक कथाएं होतीं। सोनेके समय भी उनका समय था। दोनों ही वक्त या तो नानाकी बगलमें या उनकी गोदमें, मैं बैठा रहता। कहानियोंके सुननेमें जितना रस आता, उससे कम नानाकी शिकार और यात्राकी बातोंमें न था। भारतके भूगोलको पढ़नेका मुझे पीछे मौका मिला, किन्तु कामठी-अकोला-बुल्डाना-औरंगाबाद-बम्बई शिमला ही नहीं कोचीनबन्दर और कौन-कौन स्थानोंका नाम मैं सुन चुका था। सब मुझे याद थे। वस्तुतः भूगोल पढ़नेमें नानाकी ये ही कथाएं दिलचस्पी पैदा करनेका कारण हुईं। इन कथाओंमें जहां व्यक्तियों, भिन्न-भिन्न प्रान्तों और उनकी भाषाओंका जिक्र आता, वहां भूमिके प्राकृतिक स्वरूपका भी जिक्र होता। साहेबके शिकारमें अर्दली होकर नाना बराबर अपने कर्नलके साथ जाते थे। कैसे जंगलों और पहाड़ोंमें बाघ रहता है? कैसे स्वच्छन्द बाघ-परिवार किलोलें करता है? बाघके शिकारमें कितना खरदुद और जोखिम उठाना पड़ता है?—इन बातोंके जाननेका उनकी बातोंमें काफी मसाला होता था।

नानाकी पल्टन हैदराबादकी जालना छावनीमें थी। नाना कई बार अजन्ता, एलोरा, और औरंगाबादकी गुफाओंका दूसरे नामोंसे वर्णन करते। एलोरा और अजन्ताकी गुहामूर्तियोंके बारेमें उनका कहना था—रामजी बनवासको आवेंगे यह ख्याल कर विश्वकर्माने पहाड़ काटकर ये महल बनाये, कि इनमें देवता लोग वास करेंगे, और रामजीको बनवासमें कष्ट न होगा; किन्तु महल बनाकर जब तक विश्वकर्मा ब्रह्माको खबर देने गये, तब तक राक्षसोंने आकर उन महलोंमें डेरा डाल दिया। लौटकर विश्वकर्माने देखा, उन्हें बहुत क्रोध आया; और शाप दिया—जाओ तुम सब पत्थर हो जाओ। नानाकी परम्पराके अनुसार अजन्ता-एलोराकी गुफा-

मूर्तियाँ वही पथराये राक्षस हैं । वे बड़ी गम्भीरतासे भौहोंको तानकर नानीसे कहते-'जो राक्षस जहाँ जैसे रहा, वह वैसा ही वहाँ पत्थर हो गया । शराव पीनेवालेकी वोतल वैसी ही हाथ और मुंहमें लगी रही । नाचनेवाले वैसे ही नाचते रहे । सोने-वैठनेवाले वैसे ही सोये-वैठे रहे । आज भी देखनेसे मालूम होता है, अभी उठकर बोल देंगे ।' नानी प्रोत्साहन दे कहती-"क्या जाने शाप छूट जाये, तो वे फिर जिन्दा हो जावें ।"

पन्दहामें एक और व्यक्ति थे, जिनकी वातें सुननेमें मुझे वड़ा मजा आता था, वह थे जैसिरी (जयश्री पाठक) । थे तो वह काने, और ऐसे आदमीको जरासी वातमें भी काना कहकर ताना मारना लोगोंको आसान मालूम होता है, किन्तु जैसिरी[1]-के वारेमें वैसा कहते मैंने किसीको नही सुना । घुटने तककी साफ धोती, देहपर या शिरमें वँधा एक वैसा ही साफ अँगोछा, पैरमें वाधा-खड़ाऊँ, हाथमें वाँसका छाता या डंडा लिये उनकी पतली, किन्तु स्वस्थ सवल मूर्ति अव भी मेरे सामने है । जिस समयकी वात मैं कर रहा हूँ, उस वक्त वह ४० से ऊपरके हो चुके थे; किन्तु वचपनसे अव तक वह वरावर चरवाही करते चले आये थे, और आगे भी करते रहे । इसीलिये मैंने जव भी उनको देखा, चरवाहे लड़कोंकी ही मंडलीमें । कहानियाँ उन्हे बहुत याद थीं, और वर्षोंसे जिस तरहके श्रोताओंको वह सुनाई जा रही थीं, उससे मँजी-तुली और मनोरंजक वन गई थीं । नाना तो मुझे सदर-आला या डिप्टी-कलेक्टर वनाना चाहते थे, इसलिये घास छीलने या भैंस चरानेका मौका क्यों देने लगे ? तो भी किसी न किसी वहाने मुझे दो-चार वार जैसिरीकी मंडलीमें शामिल होनेका मौका जरूर मिला । चरवाहीसे छुट्टी रहनेपर जैसिरीको कभी-कभी रामायणका अर्थ करते भी मैंने सुना था । कुल्हाड़में आग तापते हुए भी उनकी वातें मैंने सुनी थीं । उस समय इस असाधारण प्रतिभाके धनी किन्तु अवसरसे वंचित व्यक्तिको, एक मनोरंजक आदमीके तौरपर जानता था, किन्तु अवसर मिलनेपर वह क्या वनता, इसका खयाल कर अफसोस तो दुनिया देख लेनेपर होने लगा ।

शायद १९०२ के ही अप्रैलमें मेरा जनेऊ हुआ । आमतौरसे हमारे परिवारमें धूमधामसे जनेऊ हुआ करता था । मंडप वनाया जाता, कलशा सजाया जाता; आमके नये पीढ़े और पट्टी-लिखनेकी-तैयार की जाती; पंडित आते; देर तक देवताओंकी पूजा और मन्त्रोच्चारण होता, लड़केको धोती-लँगोटी पहना, कन्धेपर मृगचर्म वांध हाथमें पलाशका दंड दे "काशी पढ़नेके लिये भेजा जाता", हां, और चन्द ही मिनटों वाद उसी मंडपके एक कोनेसे यह कहकर लौटा लिया जाता-चलो लौट चलो, तुम्हारा व्याह कर देंगे ।

---

[1]-देखो मेरी कहानी "जैसिरी" ("सतमीके वच्चे")

६

पहिली यात्रा

पढ़नेका काम मेरे लिये बिलकुल मुश्किल न था। वस्तुतः ४ मासकी पढ़ाईके लिये मेरे बारह मास यों ही बरबाद किये जा रहे थे। नानाको गप-शपकी बहुत आदत थी, यह कह ही आया हूँ। घरमें भी रहते वक्त विशेषकर फुरसतके वक्त—और वह उनके पास काफी था, उन्हें देखना था, सिर्फ श्रोताको क्योंकि उसके बिना बात की नहीं जा सकती—नानाकी पुरानी आप-बीतियाँ शुरू होतीं। जैसे निद्रित या मूर्छित अवस्थासे बातका ताँता शुरू हो, और आदमीको मालूम न हो कि बात कब शुरू हुई, उसी तरह मेरे भी होश सँभालनेसे पहिलेसे वह कथाएं होती चली आ रही थीं, और कबसे मैंने नानाकी कथाएं सुननी शुरू की, इसका मुझे पता नहीं। जाड़ेके दिनोंमें रातके वक्त खाना खा लेनेके बाद आगके सामने ही बड़ी रात तक कथाएं होतीं। सोनेके समय भी उनका समय था। दोनों ही वक्त या तो नानाकी बगलमें या उनकी गोदमें, मैं बैठा रहता। कहानियोंके सुननेमें जितना रस आता, उससे कम नानाकी शिकार और यात्राकी बातोंमें न था। भारतके भूगोलको पढ़नेका मुझे पीछे मौका मिला, किन्तु कामठी-अकोला-बुलडाना-औरंगाबाद-बम्बई शिमला ही नहीं कोचीनबन्दर और कौन-कौन पचासों नाम मैं सुन चुका था। सब मुझे याद थे। वस्तुतः भूगोल पढनेमें नानाकी ये ही कथाएं दिलचस्पी पैदा करनेका कारण हुईं। इन कथाओंमें जहाँ व्यक्तियों, भिन्न-भिन्न प्रान्तों और उनकी भाषाओं का जिक्र आता, वहाँ भूमिके प्राकृतिक स्वरूपका भी जिक्र होता। बाघके शिकारमें अर्दली होकर नाना बराबर अपने कर्नेलके साथ जाते थे। कैसे जंगलों और पहाड़ोंमें बाघ रहता है? कैसे स्वच्छन्द बाघ-परिवार किलोलें करता है? बाघके शिकारमें कितना तरद्दुद और जोखिम उठाना पड़ता है?—इन बातोंके जाननेका उनकी बातोंमें काफी मसाला होता था।

नानाकी पल्टन हैदराबादकी जालना छावनीमें थी। नाना कई बार अजन्ता, एलौरा, और औरंगाबादकी गुफाओंका दूसरे नामोंसे वर्णन करते। एलौरा और अजन्ताकी गुहामूर्तियोंके बारेमें उनका कहना था—रामजी वनवासको जायेंगे यह खयाल कर विश्वकर्माने पहाड़ काटकर ये महल बनाये, कि इनमें देवता लोग वास करेंगे, और रामजीको वनवासमें कष्ट न होगा; किन्तु महल बनाकर जब तक विश्वकर्मा ब्रह्माको खबर देने गये, तब तक राक्षसोंने आकर उन महलोंमें डेरा डाल दिया। लौटकर विश्वकर्माने देखा, उन्हें बहुत क्रोध आया; और शाप दिया—जाओ तुम सब पत्थर हो जाओ। नानाकी परम्पराके अनुसार अजन्ता-एलौराकी गुहा-

मूर्तियाँ वही पथराये राक्षस हैं। वे बड़ी गम्भीरतासे भौहोंको तानकर नानीसे कहते—'जो राक्षस जहाँ जैसे रहा, वह वैसा ही वहाँ पत्थर हो गया। शराब पीनेवालेकी बोतल वैसी ही हाथ और मुंहमें लगी रही। नाचनेवाले वैसे ही नाचते रहे। सोने-बैठनेवाले वैसे ही सोये-बैठे रहे। आज भी देखनेसे मालूम होता है, अभी उठकर बोल देंगे।' नानी प्रोत्साहन दे कहती—"क्या जाने शाप छूट जाये, तो वे फिर जिन्दा हो जावें।"

पन्दहामें एक और व्यक्ति थे, जिनकी बातें सुननेमें मुझे बड़ा मजा आता था, वह थे जैसिरी (जयश्री पाठक)। थे तो वह काने, और ऐसे आदमीको जरासी बातमें भी काना कहकर ताना मारना लोगोंको आसान मालूम होता है, किन्तु जैसिरी[1]-के बारेमें वैसा कहते मैंने किसीको नहीं सुना। घुटने तककी साफ धोती, देहपर या शिरमें बँधा एक वैसा ही साफ अँगोछा, पैरमें बाधा-खडाऊँ, हाथमें बाँसका छाता या डंडा लिये उनकी पतली, किन्तु स्वस्थ सबल मूर्ति अब भी मेरे सामने है। जिस समयकी बात मैं कर रहा हूँ, उस वक्त वह ४० से ऊपरके हो चुके थे; किन्तु बचपनसे अब तक वह बराबर चरवाही करते चले आये थे, और आगे भी करते रहे। इसीलिये मैंने जब भी उनको देखा, चरवाहे लड़कोंकी ही मडलीमें। कहानियाँ उन्हें बहुत याद थीं, और वर्षोंसे जिस तरहके श्रोताओंको वह सुनाई जा रही थीं, उससे मँजी-तुली और मनोरंजक बन गई थीं। नाना तो मुझे सदर-आला या डिप्टी-कलेक्टर बनाना चाहते थे, इसलिये घास छीलने या भैंस चरानेका मौका क्यों देने लगे? तो भी किसी न किसी बहाने मुझे दो-चार बार जैसिरीकी मंडलीमें शामिल होनेका मौका जरूर मिला। चरवाहीसे छुट्टी रहनेपर जैसिरीको कभी-कभी रामायणका अर्थ करते भी मैंने सुना था। कुल्हाड़में आग तापते हुए भी उनकी बातें मैंने सुनी थीं। उस समय इस असाधारण प्रतिभाके धनी किन्तु अवसरसे वंचित व्यक्तिको, एक मनोरंजक आदमीके तौरपर जानता था, किन्तु अवसर मिलनेपर वह क्या बनता, इसका खयाल कर अफसोस तो दुनिया देख लेनेपर होने लगा।

शायद १९०२ के ही अप्रैलमें मेरा जनेऊ हुआ। आमतौरसे हमारे परिवारमें धूमधामसे जनेऊ हुआ करता था। मंडप बनाया जाता, कलश सजाया जाता; आमके नये पीढ़े और पट्टी—लिखनेकी—तैयार की जाती; पंडित आते; देर तक देवताओंकी पूजा और मन्त्रोच्चारण होता, लड़केको धोती-लँगोटी पहना, कन्धेपर मृगचर्म बांध हाथमें पलाशका दंड दे "काशी पढनेके लिये भेजा जाता", हां, और चन्द ही मिनटों बाद उसी मंडपके एक कोनेसे यह कहकर लौटा लिया जाता—चलो लौट चलो, तुम्हारा ब्याह कर देंगे।

१—देखो मेरी कहानी "जैसिरी" ("सतमीके बच्चे")

मुझे बहुत असन्तोष हुआ, जब सुना कि मेरा जनेऊ गाने-बजाने, धूम-धामके साथ घरपर नहीं बल्कि विन्ध्याचलमें होगा। मांने या किसीने दीर्घायु होनेके ख्यालसे वैसी मिन्नत मानी थी, इसलिये दूसरा करके विन्ध्याचलकी जागता देवीके कोपका भाजन कौन बनता ? लाचार, एक दिन मेरे चचा प्रताप पांडे—वह मेरे पितासे छोटे थे—मुझे पन्दहा लिवाने आये। अप्रैलका महीना था, गर्मी थोड़ी-थोड़ी शुरू हुई थी। पहिले हम लोग कनैला गये, वहासे १४ मील चलकर सादात स्टेशन। कह नहीं सकता, उस वक्त तक रानीकीसराय रेल पहुँच गई थी। सम्भवत: रेलके लिये जमीन नप गई थी। मैंने रेलकी सवारी अभी तक नहीं की थी। सादात हम दो ही तीन बजे दिनको पहुँच गये थे, और रेल सूर्यास्तके बाद आनेवाली थी। चचाके पास एक गठरी, कम्बल, लोटा-डोरके अतिरिक्त हाथमें सेर-डेढ़ सेर गायका घी मिट्टीके वर्तनमें था। गायके घी हीमें पूड़ी पकाकर विन्ध्याचलमें ब्रह्मभोज कराना था। शामको सादातके पोखरेपर-स्टेशनके पास ही—चचाने दाल-बाटी बनाई, शायद आलूका भर्ता भी था। भोजन हुआ। गाड़ी आनेपर सवार हुए। भीड़ थी या नहीं इसका मुझे स्मरण नहीं, यह भी याद नहीं कि रेलके 'चलते हुए घरोंमें' बैठकर मुझे क्या-क्या खयाल आ रहा था।

रात थी जब हम अलईपुर (बनारस-शहर) स्टेशनपर उतरे। शहरमें घुसनेसे पहिले चुंगीवालेने घेरा। और भी बहुतसे दिहाती मुसाफ़िर थे। कुछ देर इन्तजार करनेके बाद हमारी बारी आई। मोटरी खोलकर देखी गई, शायद घीपर कुछ चुंगी लगी। पिताके मामा ईसरगंगीपर एक छोटेसे वैरागी महन्थ थे, वहीं हम लोग ठहरे।

बनारससे विन्ध्याचल तककी सभी बातें क्रमश: याद नहीं हैं। ईसरगंगी मठमें आते-जाते दोनों बार हम ठहरे थे। अब तक रानीकीसराय ही मेरे लिये शहर था। वहांके लड़कोंको एक बूट एड़ी, और दूसरा फांड घुटने तक रखकर धोती, नाखूनी किनारेकी बूटेदार टोपी पहिने देख, मैं उन्हें नागरिकताका चरम नमूना समझता था। हम दिहातवाले जिसे 'धरना' कहते थे, उसे रानीकीसरायके हमारे साथी 'पकड़ना' कहते, और इसे हम पूर्ण नागरिक भाषाकी बानगी समझते थे। फिर अब छोटे-मोटे शहरोंसे न गुजरकर सीधा बनारस जैसे महान् नगरमें पहुँच जाना—मेरे लिये बड़े कौतूहलकी बात थी। मीलों चली गई उसकी सड़कें, गलियां और उनके किनारेके आलीशान मकान—जिनकी ऊपरी छतको देखनेमें बाबू पत्तरसिंहके कथनानुसार सिरकी पगड़ी गिर जाती थी—मेरे लिये बिलकुल दूसरी दुनियाकी चीजें थीं। सबेरे चचा मुझे ले पंचगंगाघाट नहाने गये। गंगा जैसी बड़ी नदी पहिले-पहिल देखी, और फिर उसपरके पत्थरके घाट, जिनकी सीढ़ियां उतरनेमें खतम ही नहीं मालूम होती थीं। शायद हमारे साथ मठका

कोई साधु भी था, क्योंकि चचा जैसे अटट दिहातीके साथ घाटियोंकी छीना-झपटीका मुझे स्मरण नहीं है। चचाने हाथ पकड़े हुए मुझसे गंगामें डुबकी लगवाई। विश्वनाथ और अन्नपूर्णाका दर्शन हुआ। फिर चौकके रास्ते जब लौटा रहे थे, तो वहां मैंने किसी बिसातीकी चद्दरपर शीशा, कंघी और क्या-क्या चीजोंके साथ लियोमें छपी कुछ उर्दूकी पुस्तकें देखी। शायद चचा भी वहांसे कुछ खरीद रहे थे। मैंने देखा कि उन किताबोंमें कुछ किस्से और कुछ उर्दू हरफमें छपे तुलसी-कृत रामायणके भिन्न-भिन्न कांड थे। चचाने दो या चार पैसेमें एक-दो किताव मेरे लिये खरीद दी, लेकिन मेरी इच्छा उतनेसे पूरी होनेवाली नहीं थी।

दूसरे दिन सवेरे, चचा मुंह धोने या किसीसे बात करनेमें लगे थे, मैं चुपकेसे निकला। मठके दरवाजेसे बाहर वह पत्थरका शेर था, जिसके लिये पिछले सालों हिन्दू-मुसलमानोंका झगड़ा होने लगा था; और अब वह कठघरेके अन्दर चबूतरे-पर रखा है। उस वक्त उस शेरको कोई नही पूछता था, रास्तेकी बगलमें आधा धरतीमें दबा और आधा ऊपर पड़ा हुआ था। वहांसे होते सड़कपर आया, और फिर सीधे चौक। रास्तेमें कई जगह मुड़ना था, किन्तु मालूम होता है, वह सारे मुड़ाव मेरे दिमागपर नक्श थे। मैंने न खिलौने लिये, न मिठाई, सीधे जा बिसाती-से दो-दो पैसेमें पांच या सात किताबें खरीदी, और फिर लौट पड़ा। दो तिहाई रास्ता पार करके जब मैं आ रहा था, तो चचा हैरान-परेशान मिले। लोग बहुत शंकित हो उठे थे। बनारस जैसे 'रांड़-सांड़-सीढ़ी-संन्यासीवाले' शहरमें एक दिहाती भटकते लड़केके लिये और दूसरी आशा ही क्या हो सकती? मार नही पड़ी सिर्फ़ डांटे ही भर गये, चचाके लिये खोये लड़केका मिल जाना ही भारी प्रसन्नताकी बात थी।

एक तरह मेरी साहसपूर्ण यात्राओंका क-ख यहींसे शुरू हुआ।

राजघाटके पुल-पारका मुझे स्मरण नहीं। मुगलसरायमें गाड़ी बदलनेका कुछ खयाल जरूर है। विन्ध्याचलमें स्टेशनसे उतरकर हम अपने पंडेके पास गये। बस्तीके बारेमें मुझे इतना ही याद है, कि वहांकी कितनी ही दीवारें मिट्टीकी जगह पत्थरकी ईंटोंकी थी। विन्ध्याचलकी भगवती दिनमें तीन रूप धारण करती हैं—सवेरे बालिका, दोपहरको तरुणी, शामको वृद्धा। मालूम नहीं मुझे भगवतीके किस रूपका दर्शन मिला। मन्दिरमें उत्कीर्ण अक्षरवाले कितने ही बड़े-बड़े घंटे टंगे थे। पासके आंगनमें बलि दिये बकरोंके खूनकी पाँकसी पड़ी हुई थी।

भगवतीके मावदानमें नया जनेऊ डुबोया गया, और मेरे गलेमें डाल दिया गया। बस जनेऊकी विधि समाप्त।

लौटकर हम बनारसमें फिर ईसरगंगीमठमें ठहरे। मठमें एक गुफा है। लोग बतला रहे थे, यह पतालपुरी गुफा है, इस रास्ते आदमी पतालपुरी पहुँच

जाता है; किन्तु आजकल सरकारने भीतरसे रास्तेको बन्द कर दिया है, सिर्फ़ बाहर से दर्शन होता है। बाहरसे दर्शन मैंने भी किया। मठकी एक कोठरीमें १४-१५ वर्षकी उम्रका एक संस्कृतका विद्यार्थी रहता था। उसने यहांकी बातोंका परिचय देनेमें मेरी बड़ी सहायता की। मठमें तो पानीका नलका नहीं था, किन्तु सड़कपर शेरके मुहवाले नलकोंको मैंने देखा था। मेरा साथी बतला रहा था, है तो गंगाजल ही, किन्तु उसके पानीसे धर्म चला जाता है, क्योंकि उसके भीतर चमड़ा लगा हुआ है। उसने 'ओले' का शर्बत पिलाया, सचमुच ही यह बहुत मीठा और ठंडा मालूम हुआ। मठके हातेमें पीछेकी ओर इमलीके वृक्षोंके नीचे कुछ स्त्री-पुरुष रेशमका ताना-बाना करते थे। उन्होंने कुछ टूटे धागे मुझे दिये थे, और उन रंगीन चमकते धागोंको मैं अपने साथ घर ले आया था। मठकी बगलमें जगेसरनाथका मन्दिर था। उनकी विशाल-पिंडीका दर्शन करते वक्त मुझे बतलाया गया, कि बाबा हर साल जौभर मोटे हो जाते हैं।

बनारससे हम दिनकी गाड़ीमें लौटे थे, इसलिये सारनाथ पार होते लोगोंके इशारा करते वक्त मैंने भी "लोरिककी धमाक" (धमाक स्तूप) को देखा। लोरिक अहीरका नाम शायद मैं सुन चुका था। लोग बतला रहे थे, लोरिक दोनों हाथोंमें दो घड़ा भैंसका दूध दुहकर एक धमाक (चौखंडी) से दूसरेपर कूद जाता था।

लौटकर मैंने अपने स्कूलमें अपनेसे अगले दर्जेके लड़के राजाराम—जो रानी-कीसरायके डाक-मुशीका बेटा था, और अंगरेजी अक्षर लिख लेता था—से पूछा, कि ईसरगंगीके विद्यार्थी मित्रको मैं कैसे पत्र भेज सकता हूँ। उसने बड़ी संजीदगीके साथ पूछा—पता बनारस छावनी है या शहर? मुझे नही याद मैंने उसका क्या जवाब दिया। उसके बताये अनुसार एक पोस्टकार्ड—जिसका दाम उस वक्त एक पैसा था—मैंने भेजा जरूर, किन्तु उसका जवाब कभी नहीं आया, शायद वह पहुँचा भी नही।

७

रानीकीसरायकी पढ़ाई (२)

१९०३ ई० में शायद रेल रानीकीसराय आ गयी थी। मेरे सहपाठी सेठवलके शोभितलालका बहुतसा खेत रेलमें चला गया। नीलका उजड़ा गोदाम, छोटी पोखरी, उसके किनारेके आमके वृक्ष और कितने ही खेत अब भी उनके पास थे। शोभितके दादा आमके दिनोंमें उनकी रखवारी किया करते थे। मदरसा छोड़नेपर वहां तक अक्सर मेरा और शोभितका साथ रहता। जाड़ेके दिन बड़े सुहावने लगते

थे। ऊख, साग, छीमी खेतोंमें मौजूद थीं। रानीसागरके भीटेसे लगे रेलकी सड़कके पास रानीकोसरायवालोंके मटरके खेत थे। फलियां खाने लायक हो गयी थी। दो लड़कियां हमारी ही उमरकी खेतकी रखवाली करती थी। हम भीटेकी आड़से पहिले झाकते, फिर ग़फ़लतमें देखकर खेतपर टूट पड़ते और खेतमें सरपट भागते, छीमी तोड़ते कई फेरा कर डालते। लड़कियां हमारे पीछे-पीछे दौडती, और हमें न पकड़ पाती, वह बनावटी क्रोध दिखलाती। फ़सल कट जानेपर लड़कियां खेतपर न आतीं, लेकिन द्वारसे गुजरते वक्त वे पहचानती और खुश होती। सलाम, बन्दगी, हाथ उठाने या टोपी उठानेकी कोई प्रथा तो थी नही, देखकर मुखपर हँसीकी रेखा ला देना बस यही अभिवादन-प्रत्याभिवादन होता।

क्वार-कातिकके महीने मलेरियाके महीने थे। लड़कपनमें प्रायः हर साल मुझे जूड़ी आती। विवनैनको लोग बुरा समझते, इसलिये नानी भटवासकी जड़को पीसकर गरम जलके साथ देती थीं। ज्वरके कारण वैसे ही मुंहका स्वाद खराब रहता, ऊपरसे अरहरके दालका 'जूस' (रस) पीनेको दिया जाता। दाल तो मुझे स्वस्थ रहते वक्त भी विष मालूम होती, फिर बीमारीमें कैसे पसन्द आती ? मैंने भी एक तरीका निकाल लिया था। पेट दर्दका बहाना करके छटपटाने लगता, नानी घबराकर उपचार करने आती। उनसे सिर्केका लहसुन मांगता। नानी भूल जातीं, कि पेटके दर्दके लिये सिर्केका लहसुन अच्छा होते भी जाड़ा-बुखारमें हानिकारक है। फल होता, ज्वर छूटनेके साथ तिल्लीका बढ़ना। ज्वर छूटते ही फिर स्कूल। अब दोपहरके खानेको भुना हुआ चना या दूसरा दाना नहीं दिया जाता, बल्कि घरकी बनी पूड़ी मिलती, जो अक्सर मीठी होती थी। नानीको इतना ही मालूम था, कि घीकी पूड़ीमें ताकत होती है, और ताकत आनेपर तिल्ली दब जाती है। तिल्ली पन्दहामें कम खतरनाक बीमारी न थी। सतमीका लड़का सुद्धू और हमारे कुछ दिनोंके स्कूलके साथी सम्पत् तिल्लीसे ही मरे थे।

नानाने मुझे अपना उत्तराधिकारी बनाकर रखा था, इसलिये उनके भतीजो विशेषकर बड़े भाईके लड़कोंको बुरा लगना स्वाभाविक था। कभी-कभी दोनों घरोंमें कहा-सुनी भी हो जाती। मुझे ये बातें कुछ विचित्रसी मालूम होतीं, और दुःख इसलिये होता कि जेठे नानाके घर मेरा जाना कुछ दिनोंके लिये रुक जाता। वहां मेरी पांच मामियां थीं, जिनमें सबसे छोटी—रामदीन मामाकी प्रथम स्त्री—मुझे बहुत मानती थी, और मै अक्सर इन मामी साहिबाके दरबारमें हाजिर हुआ करता। उस वक्त मुझे यह भी मालूम नहीं था, कि भांजेको मामीसे मजाक करनेका हक है। यह बात तो पीछे छोटी नानीसे मालूम हुई, जब फागुनके दिनोंमें मैं उनके आगनमें सूरजबली मामाकी स्त्रीके पास चुपचाप बैठा था। छोटी नानीने कहा—'आधी मामी आधी जोय। पद लागे तो सबरो होय।'

८

रानीकीसरायकी पढ़ाई (३)

१९०३ ई० में मैं दर्जा २ पास हो गया । दर्जा ३ की नयी पुस्तकें पाकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई, क्योंकि वे पहिलेसे संख्यामें अधिक और मोटी थीं ।

इसी सालकी पाठ्य पुस्तक (मौ० इस्माईलकी उर्दूकी चौथी किताब) में मैंने नवाजिन्दा वाजिन्दाकी कहानी (खुदराईका नतीजा) पढ़ी । उसमें बाजिन्दाके मुंहसे निकले, "सैर कर दुनियाकी गाफिल जिन्दगानी फिर कहां । जिन्दगी गर कुछ रही तो नौजवानी फिर कहां"—इस शेरने मेरे मन और भविष्यके जीवनपर बहुत गहरा असर डाला, यद्यपि वह लेखकके अभिप्रायके बिलकुल विरुद्ध था ।

१९०४ की जनवरीसे फिर मैं उसी तरह रानीकीसराय पढ़ने जाता । शायद इसी साल, दो सालकी प्रतीक्षाके बाद दलसिंगारको फिर पढ़नेकी इजाजत मिली । दलसिंगार अब मुझसे दो दर्जा नीचे थे, और हम टाटपर दो जगह बैठते थे । तो भी रास्तेमें आते-जाते तथा घरपर हमें अधिक साथ रहनेका मौका मिलता था, हम दोनों को इसके लिये बड़ी प्रसन्नता थी । किन्तु यह प्रसन्नता देर तक नहीं रही । कुछ ही महीने बाद शायद बरसातके अन्तमें दलसिंगार सख्त बीमार पड़ा । मैं हर रोज देखने जाता । कौन बीमारी थी यह मुझे मालूम नहीं । आखिरी दिनोंमें मैंने देखा, उसका मुंह बहुत सूज गया है, और आंखें सूजनमें ढँक गयी हैं । जब दरवाजेपर पहुँचता, तो दलसिंगारकी मा मुझे दौड़कर भीतर ले जातीं । शायद उन्हें मालूम था कि बीमारी बहुत सख्त है । शायद उनको विश्वास था कि उनके घरमें विद्या नहीं 'सहती' और जो गति उनके दो पढ़े-लिखे देवरोंकी हुई, वही दलसिंगारकी भी होनेवाली है । वह जानती थी, कि जब मैं दलसिंगारके पास रहता हूँ, तो वह अपने दर्दको भूल जाता है ।

दलसिंगार आखिर चल बसा । इसी वक्त सर्वप्रथम मुझे मृत्युके चोटका अनुभव हुआ । मैं रोता नहीं था, बल्कि मेरे हृदयमें एक तरहकी असह्य एकान्तताका अनुभव होता था । मेरे दिमागमें मौतके बारेमें तरह-तरहके खयाल पैदा होते थे । —मर कर दलसिंगार गया कहां? अगर कहीं गया है, तो क्या मैं उससे मिल सकता ?

रेल और प्लेगका चोलीदामनका सम्बन्ध है, यह धारणा गांवके लोगों[illegible] जाती थी, और उसीकी पुष्टि हुई, जब कि १९०४ [illegible] सरायमें चूहे गिरने लगे । चूहोंको फूंक देना, घरको छोड़ देन[illegible] हिदायत सरकारकी ओरसे छपकर पुलिन्देके पुलिन्दे हमारे स्कूलमें

आते थे। बाबू पत्तरसिंहने स्कूलको हटाकर दो मील उत्तर रेलकी सड़कपरके गांव मैंनीमें ले जाना तै किया। इतने लड़कोंके बैठने लायक वहा मकान कहासे मिले। जाड़ोंका दिन था, पढ़ाई खुले आसमानके नीचे होती थी। उसी समय रमजान पड़ा, और हमारे नायब-मुदर्रिस मुशी अब्दुल्कदीर सूर्यास्तके समय दातुवन करते देखे जाते। पन्दहामें भी प्लेग आ गया था, इसलिये मुझे मैंनी हीमें रहना पड़ता। यही पहिले-पहिल अपने हाथसे खाना बनाने और दाल खानेकी नौबत आयी। मेरी दाल कभी भी गलती न थी, लेकिन न जाने वह क्यों बहुत मीठी मालूम होती थी।

ब्याहमें जेठे भाईकी जरूरत होती है, क्योंकि ब्याहकी विधिमें ज्येष्ठ द्वारा दुलहिनके गलेमें एक लाल-सूत (ताग-पाट) डालना आवश्यक है। यागेश कुछ महीने मुझसे छोटे थे, इसलिये उनके ब्याहमें यह रसम मुझे अदा करनी थी। बारात देखी तो मैंने जरूर थी, किन्तु बाराती बनकर जानेका यह मेरे लिये पहला अवसर था। जिस समय मैं मैंनीमें पढ़ रहा था, उसी वक्त बछवलमें यागेशका 'तिलक' चढ़ा। ससुरालवाले वैभव दिखलानेके लिये अपने साथ दो हाथी लाये। अब इसका जवाब देना बारात ले जानेवालोंके लिये जरूरी हो गया। महादेव पंडितने अपने भतीजेकी बारातमें जितने हाथी हो सके उतने ले आनेके लिये अपने सम्बन्धियोंके पास सन्देश भेजा। कनैलासे जब सन्देश पन्दहा पहुँचा, तो नानाने दो हाथी ठीक किये। मेरी परीक्षा समाप्त हो चुकी थी, उन्हीके साथ मैं पहिले कनैला, फिर जखनियांके पास बारातके गाव पंडरी गया। २१, २२ हाथी जमा हुए थे। बारात बड़े धूमकी रही। लड़कीवालोंने भी खूब हौसला दिखलाया, और बारातियोंको खाने-पीनेकी शिकायत नहीं हुई। मेरे लिये हाथियोंका जमावड़ा, दर्जनों घोड़ोंकी घुड़दौड़, धूमधामसे द्वारपूजा, दो रात नाच-गाना देखने-सुननेका मजा रहा। हां, जिन्दगीमें पहिले-पहिल इसी वक्त मुझे जूता पहिननेको मिला था। ठोक-पीटकर उसे अपनेसे ड्योढ़े पैरके लिये बनाया गया था, और उसने दस ही मिनट चलनेपर आवे दर्जन जगहोंमें काट खाया। बारातमें नंगे पैर घूमना इज्जतके खिलाफ था, इसलिये काटनेमें जो और भी कसर बाकी थी वह भी पूरी हो गयी। यह सब हो जानेके बाद तीसरे दिन जब बारात विदा होनेवाली थी, तो एक जूता ही गायब। यागेशके चचेरे भाई और मेरी बुआके बड़े लड़के रामेश बारातमें सहबाला (शाहबाला) बनकर गये थे। रंडीके नाच-गाने और खासकर 'मिलन' के दिनकी उसकी वीभत्स गालियोंको तो मैंने भी सुना था, किन्तु रामेश उनमें एकाध-कड़ीको कंठस्थ कर चुके थे, और बड़ी तत्परतासे घरकी स्त्रियोके सामने उन्हें रागसे अलाप रहे थे। मैं तो शरमके मारे गड़ा जाता था।

बारातसे लौटकर आनेपर मालूम हुआ, बाबू पत्तरसिंहका प्लेगमें देहान्त हो

गया। शायद नायब-मुदर्रिस भी बदल गये थे, अब हमारे स्कूलमें दो नये जवान अध्यापक आये थे, बड़े अध्यापक बाबू लालबहादुरसिंह नगरा (बलिया) के रहनेवाले थे, और उनकी बलियावाली 'रउआ'वाली बोली हमें दूसरे द्वीपकी भाषा मालूम होती थी। बा० पसरसिंह जितने ही क्रोधी थे, बाबू लालबहादुरसिंह उतने ही शीतल थे, उनके मुंहपर सदा हँसी बनी रहती थी। हमें अफसोस यही था, कि वे स्थायी अध्यापक होकर नहीं आये हैं, क्योंकि वे नार्मल पास नहीं हैं। दूसरे अध्यापकका नाम याद नहीं, वह करहाके रहनेवाले योगी (मुसलमान) थे, उनका ननिहाल निजामाबादके पास पड़ता था, और पन्दहाके रास्तेमें पड़नेसे वे अक्सर नानाके घर आते रहते थे। वह भी मार-पीट बहुत कम करते थे। यह कहनेकी आवश्यकता नहीं कि लड़के इस युगल जोड़ीको सदा बने रहनेकी प्रार्थना किया करते थे।

१९०४की गर्मी चल रही थी। स्कूलकी छुट्टी हुई, प्लेग अब भी चल रहा था। मुझे फिर कनैला जाना पड़ा, शायद एकाध मासके लिये। उस वक्त बछवलकी बुआ भी कनैला आयी थीं, और रामेश तथा मैं धरवारा—तीन मीलसे अधिक दूर—रोज पढ़ने जाया करते थे। यह सिलसिला ज्यादा दिन नहीं चला। मुझे फिर पन्दहा लौट जाना पड़ा। लेकिन वहां एक और मुसीबत पड़ी। मेरा ब्याह करनेके लिये नानाकी ससुरालके एक सज्जन एक बार आ चुके थे। नाना या नानीकी शायद उन्हें अर्धस्वीकृति भी मिल चुकी थी, तभी तो हिम्मत करके अचानक—कमसे कम मेरे लिये तो अवश्य—वे तिलक चढ़ानेके लिये आ पहुँचे। नाना शायद स्वयं असहमत थे, अथवा पिताजीकी असहमतिका उन्हें डर था, उन्होंने चुपकेसे मुझे कनैला भेज दिया। तिलक चढ़ानेवाले दूसरे दिन वहाँ जा धमके, और बहसा-बहसीके बाद कई घंटा रात चढ़े तिलक चढ़ा। उसी गर्मीमें एक छोटीसी बारात गई, और ब्याह भी हो गया। उस वक्त ग्यारह वर्षकी अवस्थामें मेरे लिये यह तमाशा था। जब मैं सारे जीवनपर विचारता हूँ, तो मालूम होता है, समाजके प्रति विद्रोहका प्रथम अंकुर पैदा करनेमें इसने ही पहिला काम किया। १९०८ ई० में जब मैं १५ सालका था, तभीसे मैं उसे शंकाकी नजरसे देखने लगा था, १९०९ ई० के बादसे तो मैं गृहत्यागका बाकायदा अभ्यास करने लगा, जिसमें भी इस "तमाशे" का थोड़ा-बहुत हाथ जरूर था। १९१०-११ ई० से निश्चित तौरसे मैं इसे अपना ब्याह नहीं कहता था।—ग्यारह वर्षकी अबोध-अवस्थामें मेरी जिन्दगीको बेचनेका घरवालोंका अधिकार नहीं, यह उत्तर उस वक्त भी मैं अपने बुजुर्गोंको दिया करता, जो कि ब्याहके प्रति अपना कर्तव्य मुझे समझाते। मेरा उस वक्तका ज्ञान बहुत परिमित था, तो भी मैं इसे घर और समाजवालोंका अन्याय समझता था, और उसे बर्दाश्त करनेके लिये तैयार न था। १९०९ के बाद घर शायद ही कभी जाता था, १९१३ के बाद को सो यह भी खतमसा हो गया, और १९१७ की प्रतिज्ञाने

वाद तो आजमगढ़ जिलेकी भूमिपर पैर तक नही रखा (१९४३ से पहिले)। किसी वाकायदा तिलाकसे मेरा यह तिलाक—जो वस्तुतः अस्वीकृत अबोधविवाहके लिये जरूरी भी न था—कहीं बढ़कर था, और मैंने उसी रूपमें लिया था, इसलिये मैं समझता हूँ, उक्त घटना—ब्याह—केलिये समाजकी जगह मुझे जिम्मेवार ठहराना गलत होगा। मैंने उसे कभी न ब्याह समझा, न उसकी जिम्मेवारी अपने ऊपर मानी।

जून-जुलाई तक रानीकीसरायके मदरसेकी पढ़ाई अस्थिर-सी हीरही, क्योंकि प्रधानाध्यापक लालबहादुरसिंह अस्थायी थे, और उन्हें शायद छुट्टी भी जाना पड़ा। वरसातके शुरूमें नये प्रधानाध्यापक मुशी जगन्नाथराम आये। ये रानीकीसरायके ही रहनेवाले थे। यद्यपि पहिले, पट्टावाले बालो, ऊपरकी ओर सँवारी मूछोंके साथ धोतीका एक फन्दा अँगूठे तक पहुँचते देख हमें बा० पत्तरसिंह याद आने लगे, किन्तु पीछे वे बहुत मुलायम स्वभावके निकले।

रानीकीसरायके मदरसेका आसपासके इलाकेमें खास स्थान था, खासकर रेलके स्टेशन हो जानेपर तो स्थानका महत्व और बढ़ गया। ऊँचागाँव, आँवकके लोअर-प्राइमरी मदरसे इसके हल्केमें थे, और वहांके मुदर्रिस अपने यहांकी रिपोर्टोको रानी-कीसरायके प्रधानाध्यापकके द्वारा ऊपर भेजते थे। उस वक्तका तो याद नहीं है, किन्तु बाबू द्वारिकासिंहके समय आँवकके इम्दादी मदरसेके अध्यापक एक काफ़ी उम्रके मौलवी थे। बगलेके पर जैसा सफेद और हाथीके पैर समाने लायक उनका पायजामा, उसी तरहका साफ अचकन, बूटेदार सफेद दुपलिया लखनऊकी टोपी, दिल्लीवाला नोकदार लाल जूता, यह सब खर्चीली चीजें तो थीं ही, साथ ही छोरपर तीन बल खाये तीन-चौथाई सन जैसे बालोंका सँवारा पट्टा और आँखोंमें पतला सुरमा हम गँवार लडकोंके दिलमें भी कुतूहल पैदा किये बिना नहीं रहता था। आँवकमें कातिक शुक्ल षष्ठी (?) को मेला लगता था, शायद सूर्यका। एक बड़े तालमें लोग स्नान करते थे। मन्दिर और पूजाका मुझे याद नही, शायद मन्दिर नहीं था। गाँवमें कितने ही मुसलमान सम्भ्रान्त परिवार थे, जिनमेंसे एकके घर उक्त मौलवी साहब रहते और लड़कोंको पढ़ाते थे।

अपर प्राइमरी खुल जानेपर आसपासके कई स्कूलोंके लड़के रानीकीसराय पहुँचने लगे थे। दर्जा चारमें लड़कोंकी संख्या तेरह-चौदह थी, जिसमें उर्दूका विद्यार्थी अकेला मैं ही था। शोभित शायद पिछड़ गये थे। सभी दर्जोमें उर्दू पढनेवालोंकी संख्या बहुत कम ही होती थी। मुझे बाबू द्वारिकासिंह हों या पत्तरसिंह, लाल-बहादुर या जगन्नाथ सबके पास हिन्दीवाले लड़कोंके साथ पाठ पढ़ते वक्त बैठा रहना पड़ता और उनके पाठको सुननेका मौका मिलता था। लिखनेका तो अवसर नहीं मिलता था, लेकिन सुनते-सुनते हिन्दीकी पुस्तकोंको भी मैं वैसेही समझ लेता

जैसे अपनी उर्दूकी ; बल्कि हिन्दीकी पुस्तकोंको और अच्छी तरह समझता था, क्योंकि हमारे साथी प्रायः सभी अधिक हिन्दी-पठित और उर्दूसे अल्प-परिचित थे।

सालाना इम्तिहान होता, तो रानीकीसरायसे उत्तर कुछ दूरपर पक्की सड़कके पूर्वके बागमें स्कूलके डिप्टी-इन्स्पेक्टरका शामियाना पड़ता। कभी-कभी कोई असिस्टेंट-इन्स्पेक्टर भी पहुँच जाते, नहीं तो डिप्टी-इन्स्पेक्टर ही इम्तिहान लेते। आस-पासके कई स्कूलोंके दूसरे और चौथे दर्जेके विद्यार्थी परीक्षा देने आते। कपड़े तो उनके ऐच्छिक होते, किन्तु कश्तीनुमा टोपीका खास रंग होता, और उसमें लड़के-का नम्बर उर्दू या हिन्दी अंकोंमें सफ़ेद पन्नीसे काटकर चिपकाया रहता। जिस साल मैंने चौथे दर्जे (अपर प्राइमरी)का इम्तिहान दिया, उस साल शामियाना नहीं पड़ा था। शायद रेलके सुभीतेने यह परिवर्तन उपस्थित किया हो। जिलेके डिप्टी इन्स्पेक्टर और दो-तीन सब-इन्स्पेक्टर पहिले ही दिन शामको पहुँच गये थे। असिस्टेंट इन्स्पेक्टर बाबू व्रजवासीलाल आनेवाले थे। दस बजेकी गाड़ी चली गयी, तो डिप्टी लोगोंने समझा अब वह नहीं आवेंगे, और उन्होंने हम लोगोंका इम्तिहान लेना शुरू कर दिया। दो फेल बाकी सभी लड़के पास हुए, और ज्यादा लड़के तो 'कसाई' (पूर्ण) पास।

व्रजवासीलाल, वस्तुतः, गाड़ीमें सो गये थे। दो स्टेशन आगे जानेपर उनकी नींद खुली तो उतर पड़े, और दूसरी गाड़ीसे ३ बजेके आसपास हमारे स्कूलमें पहुँचे। व्रजवासीलाल अपनी कड़ाईके लिये काफी बदनाम थे, लेकिन किसीको यह आशा न थी, कि वह दुबारा परीक्षा लेनेका आग्रह करेंगे। आते ही उन्होंने पहिलेके परीक्षाफलको रद्द कर दिया और फिरसे परीक्षा लेना शुरू किया। परिणाम बिलकुल उल्टा निकला। सारे दर्जेमें सिर्फ़ दो लड़के पास हुए—मैं और गिरिधारी-लाल, जिसमें गिरिधारीलाल भी शर्तिया या रियायती पास हुए थे। लड़कोंमें कुहराम मच गया इसके कहनेकी आवश्यकता नहीं। हिन्दी-शिक्षावली (चौथा भाग) शायद उस समय हमारे दर्जेकी पाठ्य पुस्तक थी। व्रजवासीलालके प्रश्न शब्दोंके रटे हुए अर्थके बारेमें उतने न होते थे, जितने कि विद्यार्थीकी चतुराई देखनेके लिये। जिन प्रश्नोंके उत्तर देनेमें मेरे दर्जेके लड़के चुप रह रहे थे, उनका उत्तर देनेको मैं व्याकुल हो रहा था, यद्यपि मैं हिन्दीका विद्यार्थी न था। इसमें शक नहीं यदि मुझे हिन्दीमें भी परीक्षा देनेका मौका मिलता, तो मैं उसमें कसाई पास हुआ होता।

खैर, परीक्षा समाप्त हुई। मैं अच्छे नम्बरोंसे पास हो गया, इसे सुनकर नाना-नानीको बहुत प्रसन्नता हुई। महावीरजीको अगले मंगल नवागिर लड्डू चढ़ाया गया, यही महावीरजी जो रानीसागरके उत्तरी घाट पर रहते थे, और जहाँपर दूर-

दूरके साधु-सन्तों और मृदंगमें रेलकी आवाज निकालनेवाले उस्ताद मदनमोहनके दर्शनोंका मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ था।

सारे जिलाके अपर प्राइमरी पास लड़कोंकी छात्रवृत्तिकी प्रतियोगिताकी अभी एक और परीक्षा मुझे देनी थी, इसलिये इम्तिहानकी छुट्टियोंमें कनैला जानेका अवसर न था। माँ छै-सात महीनेसे बीमार थी। पहिले मेरे सबसे छोटे भाई श्रीनाथके जन्मके समय प्रसूतज्वर हुआ, और वही आगे बढ़ते-बढ़ते पांडुरोगमें परिणत हो गया। बीमारीमें एक बार मैं जरूर देखने गया था, किन्तु तब अवस्था उतनी अब्तर नहीं हुई थी। मेरे पिताका स्वभाव था—जब जिसकी आवश्यकता पड़ी, तब उसी ज्ञानकी प्राप्तिमें जुट पड़े—, अब वह रसराजमहोदधिपर पिले हुए थे, और शायद उन्होंने माँको अपनी बनायी एकाध दवा खिलायी हो, तो भी तअज्जुब नहीं।

जनवरी (१९०६ई०) का महीना था। प्लेगके कारण अबकी बार स्कूल रायपुर गया हुआ था, और मैं वहांसे पढ़कर घर लौट रहा था। कुल्हाड़वाले घरसे हमारे घरका द्वार छिपा हुआ था, लेकिन कूएंपर मैंने माँकी सखी दिलासीको पानी भरते देखा। मुझे देखते ही वह घड़ेको मनपर रखकर जरासा ठमक गयी, और फिर आँखोंसे झरझर आँसू बहाते अपनेपर काबू न रखते बोल उठी—'अब बच्चेको बहिनीका मुँह देखनेको नही मिलेगा'!

एक ही दिन पहिले खास सन्देशा आया था, और नाना जल्दी-जल्दी कनैला गये थे। दिलासीके शब्दोंसे मुझे मालूम हो गया, कि माँका देहान्त हो चुका। दिलासी अहिरिन मेरी माँकी सखी थी। बचपनमें लड़कियाँ मिठाई या दूसरी चीज—एक दूसरेके दांतकी कटी हुई—को खाकर सखी बनती है। एक सखी दूसरी सखीका नाम नही ले सकती। वे आपसमें झगड़ा नही कर सकतीं। ब्याहके बाद तो अपनी-अपनी ससुराल चली जाती है, इसलिये यह सखित्व अचल स्थायी बन जाता है, क्योंकि उनमें पारस्परिक वैमनस्यकी गुंजाइश नहीं रह जाती। दिलासी मेरी माँकी वैसी ही सखी थी। उसका ब्याह हुआ था, किन्तु मैं उसे हमेशा अपने भाइयोंके घरमें ही देखता था। शायद पति-पत्नीमें झगड़ा रहता हो। दिलासी मुझको लड़केकी तरह मानती थी। वह गरीब थी, इसलिये उसका प्रेम उसके भावोंसे ही प्रकट हो सकता था। दिलासीने, मैं शायद घबरा जाऊँ—इसी डरसे अपने ऊपर पूरा नियंत्रणकर अपना वह उद्गार प्रकट किया था।

घरमें जानेपर देखा नानी विह्वल हो रो रही है। नाना अलग आँसू बहा रहे हैं। मेरे कलेजेमें भी ठंडी हवाके झोंके धक्का देते थे, चित्तमें एक अजीब तरहका अवसाद मालूम होता था, तो भी न मैं चिल्ला रहा था, न आँखोंमें आँसूका नाम था। मैं एक घोर चिन्तामें पड़ गया था। रह-रहकर माँका चेहरा मेरे मानसनेत्रोंके सम्मुख आता। मर जानेकी बातसे चित्त विकल होने लगता, फिर खयाल आता,

नहीं माँसे भेंट जरूर होगी, शायद वह फिर जी जावेगी—मुर्दे जी जाते भी सुने ग हैं; शायद वह यमराजके यहांसे लौट आवे, मरे हुए आदमी चितापर जी जा देखे गये हैं। लेकिन यदि कहीं माँको जला दिया गया हो—नानाने कहा था, कि उ गंगाजी जलानेको ले गये—, तो फिर ? तो भी मैं निराश नहीं होता था, मुझे विश्वा ही नहीं पड़ता था, कि माँ फिर नहीं आवेगी। ग्यारह वर्षकी अवस्थामें भी लड़ विस्तृत ज्ञान रखनेवाले देखे जाते है, लेकिन मेरी परिस्थिति उन लड़कोंकी-स नहीं थी। मैं एक गांवमें पैदा हुआ था, और ऐसे नानाके घरमें, जिन्होंने अँगूठ लगानेके डरसे सिर्फ़ अपना हस्ताक्षर भर करना सीखा था। मुझसे अधिक पढ़ा न नानाके गांवमें कोई था और न कनैलामें। बहुश्रुत, बहुवित्, बहुदर्शी पुरुषोंक दर्शन और संग भी मुझे अप्राप्य था। धार्मिक कथाओंके सुननेका भी अवसर नहं मिलता था। इस प्रकार मेरे आँसू न 'ब्रह्मज्ञान'के कारण रुके हुए थे, और न किसी और तत्त्व-साक्षात्के कारण। मेरी सान्त्वना और धैर्यका कारण एक भोलेभाले ग्रामीण लड़केका सीधा-सादा विश्वास था। श्राद्धके वक्त कनैला जानेपर यद्यपि माँके लौटनेका विश्वास कम हो गया था, तो भी कातरता नहीं आने पाती थी। शायद, इसमें बँटा हुआ स्नेह भी कारण हो सकता है। आखिर, सालमें साढ़े ग्यारह महीनेके लिये तो नानी मेरी मां थी—और मैं उन्हें मांके ही नामसे पुकारता भी था।

६

एक क़दम आगे

रानीकीसरायकी पढ़ाई समाप्त हो गयी। पन्दहासे नजदीक ३-४ मीलपर निजामाबादका मिडल स्कूल पड़ता था, नानाने मुझे वहीं भेजनेका निश्चय किया। यद्यपि मार्च (?) के महीनेमें अभी छात्रवृत्ति-प्रतियोगिताकी परीक्षामें शामिल होना था, किन्तु फ़रवरी (१९०६ई०)में ही नाना निजामाबादमें पहुँचा आये। उस वक्त वहां भी प्लेग था, और स्कूल टौंस नदीके उसपार एक नीलके गोदाममें चला गया था। यद्यपि उस वक्त तक, नीलकी खेती बन्द हो जानेके कारण आम तौरसे पुराने नील-कारखाने गिर-पड़ गये थे, किन्तु इस कारखानेके सभी मकान अभी साबित थे। मकानोंके भीतर नीलकी बटियोंके रखने या सुखानेके लिये तहपर तह जमाये बाँसके चाँचरोंके तख्ते भी मौजूद थे। इन्हीं चाँचरोंपर रातको हम लोग सोते थे। अभी तक अपने दर्जेमें मैं उर्दूके अकेले-दुकेले लड़कोंमें था, किन्तु यहां हिन्दीवालोंका बहुमत होते भी उर्दूवाले भी काफी संख्यामें थे। यहांका वायुमंडल गांवसे अलगसा मालूम होता था। मेरे दर्जेमें जनकसिंह, द्वारिकाप्रसाद और दो-तीन और निजामाबाद मसबेके रहनेवाले लड़के थे, सभी उर्दू पढ़ते थे, इसलिये हम

सबका उठना-बैठना एक साथ होता था। कस्बाती लड़के अपनी नागरिकताके घमंडमें, हम सबको दिहाती कहकर चिढ़ाते थे, और हमलोग भी उन्हें कोई न कोई पदवी दिये विना नहीं रहते थे। यह कस्बाती और दिहाती संस्कृतिका झगड़ा बहुत दिन तक नहीं चलता था। कुछही महीनोंमें अधिकांश दिहाती लड़के भी कस्वाती संस्कृतिमें दीक्षित हो जाते थे। हा, हमारे निजामाबादके गौड़-कायस्थ 'आइन'-'गइन'-वाली जो अवधी बोलते थे, उसे हम नहीं सीख पाते थे।

अभी बाकायदा पढ़ाई नही हो रही थी। बाहरसे आनेवाले नये लड़के भी बहुत कम आ पाये थे। मिडल-वर्नाक्यूलरका इम्तिहान मार्च या अप्रेलमें होता था, इसलिये नये दर्जेकी पढ़ाई उसके बादसे ही होती थी। मेरे कस्वाती सहपाठी भी छात्रवृत्ति-प्रतियोगिताकी तैयारी कर रहे थे, मैं भी उनके साथ शामिल हो गया। मैं गणितका अच्छा विद्यार्थी था, और दूसरे विषय भी मेरे अच्छे थे। हमारे रानीकी-सरायके अध्यापकका कहना था, कि मैं जरूर छात्रवृत्ति पाऊँगा; किन्तु जब मैंने यहां अपने साथियोंको घड़ी तथा दूसरे हिसाबको लगाते देखा, और पूछनेपर मालूम हुआ कि यह भी दर्जा ४ के पाठ्यमें है, तो मुझे निराशा-सी हो गई। रानीकीसरायके पाठ्य-विषयमें अज्ञता या आलस्यके कारण कितनी ही बातें नहीं पढ़ाई गई थीं। शुरू हीसे मेरे उर्दू पढ़ानेवाले अध्यापक—द्वारिकासिंह, पत्तरसिंह, लालबहादुरसिंह या जगन्नाथराम—सभी जबर्दस्ती उर्दू पढ़ाते थे, और इसीलिये निजामाबादके साथियोंके मुकाबिलेमें मुझे अपनी उर्दू कमजोर जँचती थी। अब प्रतियोगिताके लिये समय भी कम रह गया था, इसलिये कमीके पूरा करनेकी सम्भावना नहीं थी, और इसी बीच रानीकीसरायके अध्यापकका सन्देशपर सन्देश आने लगा—प्रतियोगिताकी सफलताका श्रेय उन्हें मिलनेवाला था, इसलिये वह विशेष तैयारी करानेके लिये उकता रहे थे। रानीकीसराय पहुँचनेपर जब मैंने घड़ीके तथा दूसरे हिसाबोंको निजामाबादमें लगाये जानेकी बात कही, तो उन्होंने यह कहकर टाल दिया—वे लोग अगले सालका हिसाब लगा रहे हैं। आजमगढ़से उत्तर मँदुरीमें पोखरेके पासके बड़े बगीचेमें सारे आजमगढ़ जिलेके दर्जा ४ में 'कतई' पास लड़के परीक्षा देने आये। आधे हिसाब वे ही आये, जिन्हें हमारे अध्यापक दर्जा ५ का पाठ्य समझते थे। परिणामके लिये कमसे कम मुझे प्रतीक्षा करनेकी आवश्यकता न थी।

मार्च या अप्रेलमें, जबसे निजामाबादमें हमारी बाकायदा पढ़ाई शुरू हुई, तब तक प्लेग चला गया था, और स्कूल अपने मकानमें चला आया था। मिडल स्कूलका मकान भी शकल-सूरतमें रानीकीसरायके मकान ही जैसा था। वैसा ही बीचमें बड़ा हाल, चारों तरफ़ बरांडा, खपड़ैलकी छाजनी—हाँ, जहाँ रानीकीसरायमें बरांडेमें कोनोंपर सिर्फ दो कोठरियाँ थीं, वहां यहां चारों कोनोंपर चार कोठरियां

थी, और हाल बहुत बड़ा था। हालमें दक्षिण तरफ़ प्रधानाध्यापक मौलवी गुलाम-गौसखां, बीचमें द्वितीयाध्यापक पंडित सीताराम श्रोत्रिय, और उत्तरी छोरपर तृतीयाध्यापक बा० जगन्नाथरायकी कुर्सियां, और तीन तरफ़ तीन बेंचोंसे घिरे तीन मेजें थीं—तृतीयाध्यापककी जगह पहिले एक मौलवी थे। उत्तर और दक्षिणवाले अध्यापक क्रमशः दक्षिण और उत्तर मुंह बैठते थे, और श्रोत्रियजी पूरब मुंह। अध्यापकोंकी कुर्सीके पीछे थोड़ासा बाएं हटकर तख्ता-स्याह (ब्लैक-बोर्ड) रहा करता था। लड़के पाठ लेते वक्त अध्यापकके सामने बेंचोंपर बैठते थे, नहीं तो पूरबवाली दीवारकी जड़में उनके बैठनेके लिये जमीनपर दो फ़ुट चौड़े टाटकी पट्टी बिछी हुई थी। हालके पश्चिमवाले बरांडेमें ब्रांच-स्कूल था, जिसमें लोअर और अपर प्राइमरीके लड़के पढ़ते थे। पंडित गंगा पांडे उसके प्रधानाध्यापक, हमारे दूरके रिश्तेमें पड़ते थे, इसलिये कितने ही समय तक मेरी रसोई उनके साथ बनती थी। इस बरांडेके पीछे कुछ खाली जमीन थी, जिसमें हारीजेंटलबार, पैरेललबार और कूदनेके लिये एक अखाड़ा था। बारका इस्तेमाल होना शायद ही मैंने कभी देखा था, किन्तु अखाड़ेमें कूदनेका कभी-कभी मुझे मौका मिला था, और लम्बी तथा ऊँची कुदान में भी काफ़ी कूद लेता था; यद्यपि सबमें प्रथम होनेवाले हमारे सहपाठी सरयूसिंह थे। अखाड़ा कोनेवाली कोठरीके करीब था, और उसके बाद ही हरफा-रेवड़ीका एक दरख्त था; जिसके छोटे-छोटे खट्टे फलोंको हम बड़े चावसे खाते थे। स्कूलके पूरबवाले बरांडेके बाहर एक लम्बासा पक्का प्लेटफ़ार्म था, जो प्लेटफार्मके खयालसे उतना नहीं बना था, जितना कि चार-पांच फ़ुट नीचेसे जानेवाली सड़कमें गिरनेवाले पानीकी धारसे स्कूलकी इमारतकी हिफ़ाजतके खयालसे। गर्मीके वक्त कभी-कभी हमारा पाठ इस प्लेटफ़ार्मपर भी होता था।

सड़ककी दूसरी तरफ़ दो जगह बोर्डिंगकी कोठरियोंकी कतारें थीं, जो स्थानीय एक बड़े जमींदार सरदार नान्हकसिंह (?) की सम्पत्ति थीं। कोठरियोंके बरांडों, होमें रसोई बनानेके चूल्हे थे।

नानाने मेरे रहनेका इन्तजाम बाजारमें एक ठाकुरबाड़ीमें किया था। ठाकुरबाड़ी कस्बेके एक व्यापारी, शायद महँगी साहुकी बनवाई हुई थी। पुजारी बूढ़े, नाटे, किन्तु काम-काजमें बड़े फुर्तीले एक आचारी साधु थे, जो बात-बातमें साहुको दस गुना देना अपना कर्तव्य समझते थे। पता ही नहीं लगता था, कि ठाकुरबाड़ीके मालिक पुजारीजी हैं या साहु। यद्यपि पुजारीके कथनानुसार, ठाकुरबाड़ीमें क्या लगा था,—मुर्देके कब्रोंको खोदकर लाई लाखौरी ईंटें और कुछ चूना सुर्खी; किन्तु वस्तुतः वह एकदम इतनी खराब न थी। ठाकुरजी (शायद राम-लक्ष्मण-सीता) की कोठरीके तीन तरफ़ परिक्रमाकी गली, फिर दो कोठरियां, सामने सभामंडप—झाड़-फ़ानूससे सुसज्जित, जिसके उत्तर-दक्खिनमें फोटेदार बारहदरियां, सामने

छोटासा पक्का आँगन, जिसके एक कोनेमें मीठे पानीकी पक्की कुइयाँ, आँगनके उत्तर-दक्खिन दो कोठरियाँ। बाहरका दरवाजा बाजारकी सड़कपर खुलता था।

यद्यपि मैंनीमें एकाध-महीने कच्ची-पक्की रसोई में बना चुका था, किन्तु वह मेरे और नाना-नानीके विचारमें सन्तोषजनक न था; इसलिये, और लड़केको अनुशासनमें रखनेके खयालसे भी मुझे इस ठाकुरद्वारेमें रखना पसन्द किया गया। पुजारीजी पक्के आचारी थे, इसलिये रसोईके भीतर मुझे जानेकी इजाजत ही कहाँसे हो सकती थी? पानी-बासनका काम भी उनके एक शिष्य किया करते थे। पुजारीको गुस्सा बहुत जल्द आ जाया करता था, तो भी उनका बर्ताव मेरे प्रति बहुत अच्छा था। पढ़ाई रानीकीसरायकी तरह सारे दिनभर नही चला करती थी, वह शुरू होती थी दस बजेसे, खेल-कूद लेकर शामको स्कूलसे छुट्टी मिलती थी। स्कूल ठाकुरद्वारेसे कुछ दूर था। पुजारी एक क्षण भी चुप-चाप बैठ नही सकते थे। स्नान, पूजा, झाड़ू-बहारू, रसोई-अमनिया, दिया-बत्ती, पोथी-पाठ--कुछ न कुछ काम उनको हर वक्त लगा रहता था। कहने को मै अब धर्मस्थानमें था, किन्तु मैं वैसाका वैसा ही कोरा रहा, और मुझपर भक्तिभावकी एक छीट भी पड़ने न पायी। पुजारीजी सिखाने-पढ़ानेकी कभी कोशिश नही करते थे। कुछ दिनों बाद हमारे दर्जेका एक राजपूत लड़का भी ठाकुरद्वारेमें रहनेके लिये आ गया, उसके बादसे तो हमारी दुनिया ही अलग हो गयी।

तीन-चार मास रहते-रहते मेरा मन ठाकुरवाड़ीसे उदास हो गया। कारण, शायद पुजारीका चिडचिडा मिजाज था। नानाने बोर्डिगमें रहनेकी इजाजत दे दी। उत्तरके बोर्डिगमें दक्खिनके छोरवाली कोठरीमें हम दो या तीन लड़के रहते थे। रसोई अध्यापक गगापाडेके साथ थी। दाल, चावल, तरकारी तो मैं बना लेता था, किन्तु रोटी पाडेजीको सेंकनी पडती थी, उसे मुझपर छोड़नेपर तो उन्हे शायद रोज लवणभास्करकी जरूरत पड़ती।

निजामाबाद पुराना कस्बा है। कहते हैं, औरंगजेबके एक लड़के आजमशाहके नामसे आजमगढ़ बसा, दूसरे निजामशाहके नामसे निजामाबाद। यह मैं उस समयकी सुनी-सुनाई बातोंको कह रहा हूँ। हो सकता है, निजामाबाद और पहिलेसे चला आया हो, और बस्ती तो मुसलमानी समयसे पहिलेकी भी हो सकती है, वहाँके कुछ स्थानोंको रजभरोंके राज्यसे सम्बद्ध किया जाता था। किसी समय निजामाबादकी बस्ती और दूर तक फैली हुई थी, यह उसके पुराने आबादीके चिह्न बतला रहे थे, जिनमेंसे कितनेकी दीवारें अब भी खड़ी थीं। छोटी-पतली लाखौरी ईंटोंकी इमारतें, मेहराब और कब्रें तो जगह-जगह खड़ी और गिर-पड़ रही थीं! कितने ही तहखानों, जमीनके भीतर बने अल्लादीनके महल जैसे महलों, तालाबोंकी कथाएं मशहूर थीं। पुजारीजीके कहनेमें कुछ सच्चाई भी थी, उनका ठाकुरद्वारा ही नहीं

कितने ही और भी मकान निजामाबादमें इन्हीं पुरानी इमारतोंकी ईंटोंसे बने थे।

कस्बेके मुसलमानोंकी संख्या काफ़ी थी। पश्चिम तरफ़के काजी साहेबकी जमींदारी यद्यपि बहुत कुछ बिक चुकी थी, तो भी उनकी प्रतिष्ठा बहुत थी। ये लोग शिया थे, और निजामाबादका अलम (झंडा) गाड़ीपर रखे बड़े-बड़े तबलोंके साथ बहुत धूमधामसे निकलता था। काजी-परिवारमें कोई प्रसिद्ध व्यक्ति उस वक्त नहीं था। उनके महल और पक्की चहारदीवारीके भीतर लगे तरह-तरहके फलके बगीचे मेरी नजरमें उस समय दुनियाकी अद्भुत मायासी जान पड़ते थे। काजी-परिवारकी सम्पत्ति कैसे नष्ट हुई, इसके बारेमें बहुतसे कथानक प्रसिद्ध थे। कोई कहता, उनके पाखानेकी दीवारोंमें अतर पोता जाता, कोई कहता झुंडकी झुंड रंडियाँ उनके यहां इन्द्रसभा रचाती थी। मेरे सामने उनके घर जौनपुरसे एक बारात आयी। खूब कागजकी फुलवारी, बाजा-गाजा, गैसकी रोशनीका जलूस निकला। नामी-नामी तवायफ़ नाचने आयी थीं। शादीके बाद भी दामाद साहेब शायद एकाध महीने तक ससुरालमें रहे। काजी-परिवार बादशाही जमानेमें शहरके काजी (न्यायाधीश) रहे होंगे, इसके कहनेकी आवश्यकता नहीं। हो सकता है, ये लोग जौनपुरकी बादशाहतके जमानेमें यहाँ आये हों, और निजामाबाद भी उसी समय उन्नतिके शिखरपर पहुँचा हो। निजामाबाद टौंस नदीके किनारे होनेसे व्यापारके लिये अनुकूल स्थितिमें था। हो सकता है, पहिले यह व्यापारका भी एक अच्छा केन्द्र रहा हो। यद्यपि रेलके आनेके बाद रानीकी सरायका सितारा ओजपर था, उसकी दूकानें मेरे देखते-देखते संख्या और धन दोनोंमें बढ़ गई थीं। नये आये मारवाड़ी व्यापारियोंने तो कपड़ेकी थोक-बिक्रीका कारबार शुरू करके रानीकीसरायको आसपासके इलाकेका व्यापारकेन्द्र बना दिया था। निजामाबाद रेलवे स्टेशनों—रानीकीसराय और फरिहासे ४,५ मील दूर था, इसलिये वहां व्यापारिक उन्नतिकी बहुत सम्भावना न थी, तो भी वहांकी पैठ बड़ी थी। निजामाबाद अपने बेल-बूटा किये काले मिट्टीके बरतनोंके लिये जिले हीमें नहीं प्रान्तमें भी काफी विख्यात था। निजामाबादके कुम्हारोंमें अधिकांश मेरे नानाके चचाके यजमान थे। कथा-पूजा होनेपर भोजमें मेरा बुलावा जरूर होता था, और परनानाकी भाभी—जिन्हें गांवभर भौजी कहा करता था—के हाथकी बनी परवलकी तरकारी मुझे खास तौरसे पसन्द आती थी।

निजामाबादके पूरब छोरपर एक और प्रतिष्ठित मुस्लिम-परिवार रहता था। इनके पास अभी काफ़ी जमींदारी थी। उनका एक गाव रानीकीसरायसे पूरब पड़ता था, और घरके एक तरुणको भोटिया (नेपाली ?) टाँघनपर कदम उड़ाते अक्सर मैं पन्दहा और रानीकीसरायके बीच देख चुका था। उसके ही पोड़ेसी

सवारीको देखकर, बल्कि रानीकीसरायवाले कालमें कितनी ही बार मेरी इच्छा होती—एक तेज घोड़ा रहता, और एक विलायती कुत्ता (यह भाव शायद बाबू द्वारिकासिंहकी कुत्तीसे मिला था), घोड़ेको दौड़ाते हुए में चलता, और कुत्ता पीछे-पीछे भागता आता।

कस्बेके तीसरे बड़े रईस सरदार नान्हकसिंह(?)थे। पुराने बादशाही जमाने में ही निजामाबादमें गौड़-कायस्थ और उनके पुरोहित सनाढ्य ब्राह्मण बस गये थे। ये लोग जिलेकी साधारण आबादीमें द्वीपकी भांति थे। इन परिवारोंको अपनी शादी-ब्याहके लिये दूर-दूर जिलोंकी खाक छाननी पड़ती थी। इनमें यद्यपि केश-धारी सिख कम थे, किन्तु थे सभी सिख। कस्बेके भीतर एक संगत (गुरुद्वारा) थी, और बाहर नदीके घाटपर भी एक मन्दिरसा था। संगतके महन्त बाबा सुमेर सिंह थे। सगतमें कभी-कभी कड़ा-प्रसाद (हलवा) बँटता, जिसे लेनेके लिये हम स्कूलके लड़के बराबर पहुँच जाया करते थे। हमारे दर्जेमें पांच गौड़ लड़के थे, जिनमें जनकसिंह, तथा एक और बाल रखे हुए थे, और बाकी तीन विना बालके। पहिले में सिखोंको अलग जाति समझता था, किन्तु जब मालूम हुआ कि मेरे एक केशरहित साथीका ननिहाल सरदार नान्हकसिंहके यहां है, दो साथियोंमें एक सिखका मामा बिना केशका है; तो बड़ा कौतूहल हुआ। पंडित अयोध्यासिंह उपाध्यायका जन्मस्थान होनेके कारण निजामाबाद एक साहित्यिक स्थान है, किन्तु उस वक्त मुझे इसका कोई पता न था। मुझे इतना ही मालूम था, कि पंडित अयोध्यासिंह कानूनगो पहिले निजामाबादमें प्रधानाध्यापक थे, हमारे गणितके अध्यापक पंडित सीताराम श्रोत्रिय उनके विद्यार्थी और सजातीय हैं। पंडित अयोध्यासिंह कवि है, उनका उपनाम "हरिऔध" है, इससे में बिलकुल अपरिचित था। हाँ, जब अपने एक साथीको अपने पिताकी बनाई कवित्तोंको पढते देखकर मैंने भी कुछ कवित्त-सवैया गढ़ डालीं, तो दूसरे साथियों ने बतलाया—कविता करना बड़े जोखिमका काम है, छन्दमें एक मात्राके भी टूट जानेपर बड़ा पाप होता है। उन्होंने उदाहरणके तौरपर बतलाया—पहिले पंडित सीतारामजी कविता किया करते थे, किन्तु इसी गलतीके कारण उनके लड़के मर जाते थे। अब उन्होंने कविता छोड़ दी है, तभी यह २,३ वर्षका लड़का जीवित है। खैर, कविता करनेकी मुझमें अन्तः प्रेरणा तो थी नहीं, जो भयसे उसे छोड़ बैठता, वह तो देखादेखी थी, और वहीं खतम हो गयी।

निजामाबादमें मनोरंजनकी सामग्री काफी थी। शीतला और नदी पार कोई दूसरा मेला लगता था। शीतलाका मेला तो सावनमें हर सोमवारको लगा करता था, जिसमें दूर-दूरकी स्त्रियाँ शीतला देवीको 'कड़ाई' (पूड़ी-हलवा) चढ़ाने आया करती थीं। पढ़नेके लिये आनेसे पहिले भी में एक बार नानीके साथ वहां आ चुका

था। मन्दिरका स्मरण नहीं, एक बाग था, जिसमें कड़ाइयाँ चढ़ती थी। शायद लड़कोंके बाल काटे तथा सूअरके छौनोंकी बलि भी चढ़ाई जाती थी। नाचनेवाले लड़के रहते थे, मानता माननेवाली माँयें उन्हें जमीनपर बिछे अपने आँचलके कोनेपर नचाती थीं। निजामाबादमें रामलीला भी होती थी, और उसका भरतमिलाप तो हमारे बोर्डिंगके पीछेवाले ठाकुरद्वारेके हातेमें होता था। कस्बेके लाला लोग नाच-गानेके भी शौकीन थे, स्वयं नाचते नहीं, बल्कि बाहरसे आनेवाली रंडियोंका मुजरा अक्सर कराया करते थे। हम विद्यार्थियोंके लिये इन नाचोंमें जाना आसान काम न था। अगर पता लग गया, तो दूसरे दिन पंडित सीतारामकी छड़ी बरसे बिना नहीं रहती। कस्बाती लड़कोंसे खबर भर मिल जाया करती थी, मैं शायद एक-दो बार ही किसी हातेकी दीवार फाँदकर भीतर पहुँचा था, और खड़ी हुई भीड़के पीछे छिपकर देखता रहा। रानीकीसरायमें रहते एक-दो बार डिस्ट्रिक्ट-बोर्डके ड्रिलमास्टर हमारे स्कूलमें भी आये थे, और उन्होंने कुछ दंड-कसरत सिखलाया था, लेकिन उनके जाते ही कहाँका दंड और कहाँकी कसरत? निजामाबादमें तो वैसे किसी चलते-फिरते ड्रिलमास्टरके भी दर्शन नहीं हुए। जिलाभरके स्कूलोंका रस्साकशी, ड्रिल, कूद और दौड़का टूर्नामेंट हर साल आजमगढ़में हुआ करता था। उस साल हमारे यहाके भी १४, १५ लड़के शामिल हुए थे। इसके लिये उन्हें काले गल्ता (आधा रेशमी आधा सूती कपड़ा) के कोट बनवाने पड़े थे। दर्जी हमारे स्कूलके ही कोई भूतपूर्व विद्यार्थी थे, जो जातिसे दर्जी नहीं बल्कि अशराफ़ खान्दानसे तअल्लुक रखते थे। वे बाहर घूमे हुए थे, और वहीं मशीन चलाने और दर्जीके कामको उन्होंने सीखा था। दावा तो उनका पूरे उस्ताद होनेका था, किन्तु कोटोंके सिलकर आनेपर सभी पछता रहे थे। उनके लम्बे-लम्बे अंगरेजी बाल, तड़क-भड़कवाली पोशाकमें छोटी एड़ीवाला लेडी-शू भी शामिल था, जो मेरी नजरमें, उस समय अनुचित नहीं था, शायद टूर्नामेन्टमें हमारे स्कूलको कोई इनाम नहीं मिला, और मिलता क्या, सिर्फ गल्ताका कोट सिला लेनेके लिये!

आरम्भमें अपने कस्बाती लड़कोंके सामने मैं अपनेको हकीर समझता था। उनकी सरौलेकी तरह सरासर चलती जबान—जो भी 'आइन रहा' 'गइन रहा' जैसी किसी विदेशी भाषामें—मेरे जैसे गँवारू लड़केपर रोब जमाये बिना कैसे बाकी रह सकती? मैं जनक, द्वारिकाप्रसाद और दूसरे भी कितने कस्बाती लड़कोंको बहुत तेज विद्यार्थी समझता था, किन्तु वह धाक ज्यादा दिन तक कायम न रही। तीन-चार महीना बीतते-बीतते मैं सारे दर्जेमें अव्वल हो गया। गणितमें जहाँ दूसरे लड़कोंकी रूह काँपती थी, वह मेरे लिये बायें हाथका खेल था। इतिहासमें सनोंको छोड़कर और बातोंको तो मैं पाठ समाप्त होनेके साथ दुहरा दिया करता। भूगोलके अध्यापक बा० जगन्नाथराय तो कितनी ही बार पाठ सुननेका काम मेरे

ऊपर छोड़ दिया करते। बा० जगन्नाथरायके पहिले एक कम-उमरके मौलवी कुछ दिनो तक अध्यापक रहे। सुना जाता था वे अरबी-फ़ारसी भी जानते हैं, किन्तु हमें तो वहारिस्तान और उर्दू व्याकरण भर पढ़नेसे मतलब था। उनके चले जानेपर भाषा पढ़ानेका काम बूढ़े मौलवी गुलामगौसखाँ करते थे।

मौ० गुलामगौस ठिगने-पतले कदके ६० वर्षके बूढ़े आदमी थे। उनके पट्टे और दाढ़ीके सभी बाल सफेद थे। एक बार किसीने ख़बर उड़ा दी '५६ सालामें सभी अध्यापक हटाये जानेवाले हैं', तो कितने ही महीनों तक हर हफ्ते उनके बालोंमें खिजाब लगता रहा। बेचारोंको बीस रुपया मासिक मिलता था, और उसीके सहारे तीन लड़कों और घरके दूसरे व्यक्तियोंका पालन-पोषण करना था। उनका मझला लड़का इब्राहीम हमारा सहपाठी था। वह और उसका छोटा भाई पिताके साथ रहते थे। बड़ा लड़का यासीन (?) मेट्रिकमें फेल होने लगा, तो मौलवी साहेबने उसे गोरखपुर ड्राफ्टमैनका काम सीखनेको भेज दिया। १५) महीना तो उन्हें बड़े लडकेको भेज देना पड़ता था, बाकी पाच रुपयेमें वे कैसे अपना गुजारा करते थे, यह समझना मेरे लिये एक पहेली थी। मौलवी साहेबको गुस्सा बहुत कम आता, जब आता तो लडकोपर तडातड़ छड़ियाँ टूटतीं। हमारी किताबमें जहा-तहा पुराने पैगम्बरों, मूसा, दाऊद आदिका भी जिक्र आता, फिर तो मौलवी साहेब "कसस्सुले-अबिया" लेकर बैठ जाते, और पाठ पढ़नेका सारा समय उसीमें बीत जाता।

पंडित सीताराम श्रोत्रिय बड़े गुरु-गम्भीर तबियतके आदमी थे। विद्यार्थी उनका रोब सबसे ज्यादा मानते थे। गणित और हिन्दीका अध्यापन उनके हाथमें था। उर्दूके विद्यार्थी होनेसे मुझे गणितके लिये ही उनके पास जाना पड़ता। गणित-में मैं तेज था, इसलिये मार खानेकी नौबत नही आती थी। हां, एक बारकी जाड़ोकी बात है। इम्तिहान करीब आनेपर विद्यार्थियोसे दूनी मेहनत ली जाती थी। दिनकी पढ़ाई तो होती ही थी, रातको खानेके बाद लालटेनके किनारे बैठकर हम पाठ याद किया करते। सबकी तरह मैं भी पढ़ने जाता, लेकिन सौ-सौ मनकी नींद मेरे पलकोंपर बैठी रहती। पंडितजी और तृतीय अध्यापक पासमें चारपाई बिछाकर बैठते, कि कोई सोने न पावे। जैसे ही वे लोग वहांसे हटे, कि बन्दा वहां-से रफूचक्कर। बोर्डिंगसे ढूंढ़कर पकड़के आनेपर—'पानी पीने गया था'का बहाना करता था। अक्सर दोनो हथेलियोंपर गाल रखकर जमीनके पास झुककर मैं ऐसे पढ़ता था, जिसमें सो रहा हूँ या पढ़ रहा हूँ, इसका पता न मालूम हो सके। अध्यापकोंका हुक्म था, कि सोनेवाले लड़केकी नाक देखनेवाला लड़का मल दे। मेरी नाक मलनेकी किसीको हिम्मत न होती थी, इसलिये नही कि मैं शरीरसे बलिष्ठ था, और पीछे खबर लेता; बल्कि मैं दर्जेका सबसे तेज लड़का था। किसी

मार्च (१९०७ ई०) के आस-पास हमारी वार्षिक परीक्षा समाप्त हुई। छुट्टीमें मैं ननिहाल आया। वहां उस वक्त प्लेग था। नानीने दूसरे ही दिन मुझे कनैलाकेलिये रवाना किया। अब मेरा भी संस्कृतिका तल कुछ ऊँचा हो चुका था। कनैला मेरे लिये निरा ऊजड़ गाँव मालूम होता था। जबसे वह गाँव बसा था, तबसे अब तक शायद मुझसे ज्यादा पढ़ा-लिखा आदमी उस गांवमें नहीं पैदा हुआ। मेरे तीन छोटे भाई श्यामलाल, रामधारी और श्रीनाथ पढ़ रहे थे, किन्तु अभी निचले दर्जोमें। गांवमें दो-एक ही और आदमी थे, जिन्होंने किसी मदरसेमें शिक्षा पाई हो। इस प्रकार शिक्षितके मनोरंजनका वहां कोई साधन न था। कनैलामें अब भी कसरत और अखाड़ेका रवाज था, यद्यपि वह अधिकतर बरसात हीमें होता था, जब कि कोई नट आकर अखाड़ा बाँधता, किन्तु मेरी रुचिको उधर जानेका कभी मौका ही नहीं मिला। आमके दिनोंमें यदि पहुँच गया, तो मरोसा पांडेके बगीचे-ताल-पोखरा और ऊसरके अकेले पीपरके भूतोंकी कथायें सुनता। आश्विनके नवरात्रमें जो पहुँचा, तो किष्णाके बाबूके देवथुर (देवस्थान) पर भूत खेलनेवाली औरतोंसे 'छोड़ दें' 'क्यों पकड़ा', 'तुम्हें क्या पूजा चाहिए' आदि पूछता, बहुत रात तक मनो-रंजन करता। और अब ये मनोरंजन कुछ फीके भी पड़ने लगे थे।

कनैलामें एक दो दिन ठहरकर मैं बछवल चला गया। बछवल मेरी आंखोंको कुछ अधिक सभ्य जँचता था, और यही कारण था कि पीछे मेरे रहनेके समयमें कनैला और बछवल आधे-आधेके साझीदार थे। फूफा महादेव पंडितकी विद्वतासे लाभ उठानेके अभिप्रायसे न मैं वहां जाता था, और न उसके लिये अवसर ही था। मेरा अधिक समय यागेश और दूसरे समवयस्क विद्यार्थियोंके साथ खेलने-कूदने, गपशपमें कटता था। इन खेल-कूदोंमें तालमें चरनेवाले घोड़े-घोड़ियोंको पकड़कर चढ़ना भी था। एक दिन मैं और यागेश तालसे घोड़े पकड़कर लाने गये। लगाम-की जगह शायद रस्सी हम लोगोंके पास थी। यागेश पहिले चढ़े, और मैं अपनी घोड़ीपर पीछे। यागेशके घोड़ेको दौड़ते देख मेरी घोड़ी भी दौड़ पड़ी। रोकनेसे वहां रुके कौन? एक जगह मेंड़की छलांग मारते वक्त मैं नीचे आ पड़ा। घोड़ी-की एक टाप खोपड़ीके पीछे जरासा छूती चली गई। घाव सख्त नहीं लगी, किन्तु खून बहने लगा। दूसरे दिन जब बुआने पूछा तो कह दिया, दालानकी कड़ी लग गई है।

बछवलमें ही रहते पता लगा, कि नानीका प्लेगसे देहान्त हो गया। मिडलके परीक्षा-परिणामके निकल जानेपर निजामाबाद जाना पड़ा, लेकिन वहां ज्यादा दिन नहीं रहा। नानाकी शिकारकी कथाओं और नवाजन्दा-बाजन्दाके सैर-सपाटोंने रंग लाना शुरू किया। खाने-पीनेके लिये उस समय मेरे पास आटा-चावल था, उसे बाजारमें बेंच डाला। कुल मिलाकर डेढ़-दो रुपये हो गये। मैं

सीधे फरिहा स्टेशन पहुँचा। मन और जीभपर था बाजिन्दाका सुनहला वाक्य—

"सैर कर दुनियाकी गाफ़िल जिन्दगानी फिर कहां ?
जिन्दगी गर कुछ रही तो नौजवानी फिर कहां ?"

फरिहा स्टेशनसे टिकट लेते वक्त बनारस ही सामने था, क्योंकि उसीको मैंने देखा था। टिकट ले गाड़ीपर बैठा। दिनमें ही किसी वक्त बनारस पहुँचा। पिताके मामा का मठ तो मालूम था, किन्तु अकेला जानेपर वहा प्रश्नोंकी झड़ी लग जाती, इसलिये वहा जाना उचित नही जँचा। सोच-समझकर उसी मठके बगलमें जगेसरनाथके मन्दिरमें गया। वहाँ कितने ही संस्कृतके विद्यार्थी रहते थे। पूछनेपर उन्हें बतला दिया, मैं सस्कृत पढ़नेके लिये आया हूँ। हमारी जातिके ब्राह्मणों—सरयूपारियों—में नातेदारीसे बाहर कच्ची रसोई खानेका रवाज नहीं, इसलिये अपने हाथसे रोटी बनायी। स्टेशनसे उतरनेसे लेकर बराबर मनमें खिचड़ीसी पक रही थी। नवाजिन्दा-बाजिन्दा दुनियाकी सैरके लिये यहां तक भगा ला सकते थे, लेकिन आगेके लिये पर कटे मालूम होते थे। पासके पैसे खतम होना चाहते थे। जल्दी निर्णय करना था, नही तो लौटने भरका किराया भी समाप्त होनेवाला था। सब सोच-साचकर शाम तक मनने और आगेकी उड़ानको अनुचित बतलाया, और कहा बस, रानीकीसरायका टिकट कटाओ और लौट चलो।

रातकी गाडी पकड़कर, और शायद मऊमें ट्रेनको बदलकर जब मैं आगे चला, तो नीदने जोर पकड़ा, और रानीकीसराय पारकर गाड़ी फरिहा पहुँची तो आंख खुली। उतरे, लेकिन टिकटसे एक स्टेशन फ़ाजिल चले आये थे। पासमें पैसा था भी नही। शायद स्टेशनमास्टरने तंग नहीं किया।

रात बिताई, सबेरे पन्दहा जानेमें नानाके सवालोंका डर मालूम होने लगा और मैंने कनैलाका रास्ता पकड़ा।

१०

प्रथम उड़ान

पहिला प्रयास विफल रहा, उसमें मैं असफल रहा; दिलने गवाही दी—तुम नवाजन्दा-वाजन्दा वनने लायक नही हो। लेकिन आगे कुछ ऐसी घटनाएं घटी जिन्होंने फिर मुझे साहस करनेके लिये मजबूर किया।

नानीके मरनेपर अब पन्दहामें नाना अकेले रह गये थे। आमोंके पकनेका मौसिम था मईका मध्य या अन्त, जब मैं अपनी बहिन रामप्यारीके साथ पन्दहा पहुँचा। हमीं दोनों बहिन-भाई खाना बनाते और घरका इन्तजाम करते, नानाके पैसा-कौड़ीका भी मैं ही खजानची था। एक दिन मक्खनको पिघलाकर घी बनाया,

पिघले हुए घीको बिल्लीके डरसे एक उल्टी नांदके नीचे दबाना पड़ता था। घीको दबाते वक्त, अँधेरे घरमें मुझे मालूम नहीं हुआ कि मटकी कहाँ है, नांदका किनारा मटकीके ऊपर पड़ा। मैं तो नांद दबाकर निश्चिन्त था, किन्तु दूसरे दिन देखा, तो सारा घी—करीब दो सेर—गिरकर जमीनमें फैला हुआ है। नाना गुस्सा होंगे, इस डरने मुझपर आतंक जमाया, और फिर बैलकी बिक्रीके आये बाईस रुपयोंको लेकर मैं रानीकीसराय स्टेशनकी ओर चल पड़ा। रास्तेमें शोभितका बाग पड़ता था। लाल-पीले आम दरख्तोंपर पके हुए थे। शायद शोभित हीका आग्रह हुआ—दो-चार आम खाकर जाओ। लग्गी ली और आम तोड़-तोड़कर खाने लगे। रेलका समय नजदीक जानकर मैं स्टेशन गया। मुझे ख्याल था, नानाको इतनी जल्दी खबर नहीं मिलेगी, क्योंकि मैंने बहिनसे भी अपना इरादा जाहिर नहीं किया था। मामूली कपड़े जो बदनपर थे, उन्हींके साथ निकल पड़ा था। स्टेशन-पर पहुँच गया। ट्रेनका लाइनक्लियर हो गया था, इसी समय देखा, नानाकी विशाल मूर्ति बड़ी तेजीसे लपकती हुई स्टेशनकी ओर आ रही है। शायद शोभितसे उन्हें मालूम हो गया था कि मैं स्टेशनकी ओर गया हूँ। मैंने सीधे बाजार जाने-वाली स्टेशनकी सड़क पकड़ी, फिर पक्की सड़क पकड़कर बाजार भर तो धीरे-धीरे, किन्तु उसके बाद तेज चलते-दौड़ते दूसरे स्टेशन आजमगढ़का रास्ता लिया। स्टेशनपर मुझे न पा नानाने न जाने क्या ख्याल किया। शायद उन्होंने सोचा हो, शोभितने उन्हें चकमा दे दिया। चाहे यह निर्णय न कर पाये हों कि अगले स्टेशनपर पूरबकी ओर गया या पच्छिमकी ओर। खैर, यदि उसी ट्रेनसे वे स्टेशन चले आये होते, तो मेरे पकड़े जानेकी पूरी सम्भावना थी, लेकिन उन्होंने वैसा किया नहीं।

आजमगढ़ स्टेशन शहरसे बहुत दूर है, और आसपासके लोग उसे आजमगढ़ न कहकर पासके गाँवके नामसे पल्हनी कहते हैं। रानीकीसरायसे वह चार मीलसे कम ही है—लोगोंके कथनानुसार। सिग्नल गिर चुका था, जब मैं रेलवे-फाटकपर पहुँचा। स्टेशनपर पहुँच जानेपर जानमें जान आई। सूर्य अस्त हो चुके थे जब कि मैं ट्रेनमें सवार हुआ। टिकट बनारसका लिया, क्योंकि वही रास्ता जाना हुआ था। बनारसमें एकाध दिन ठहरा या आगे रवाना हुआ, इसका कोई स्मरण नहीं। वहाँसे मुगलसराय और फिर विन्ध्याचल जरूर गया। ये सब पहिलेके देखे स्थान थे। विन्ध्याचलमें शायद पुराने परिचित पंडाके यहाँ गया था। बनारस-मुगलसराय-विन्ध्याचल-मुगलसरायके बीच होते मैंने सोलह-सत्रह रुपये खर्च कर डाले थे; जरूर इस आवा-जाहीमें मैंने कई दिन खर्च किये होंगे; क्योंकि गुलबकावली (हिन्दी) की किताब, तोता-चोटी और एक गमछा छोड़ मैंने सारे पैसे खाने हीपर खर्च किये थे। मन जल्दी किसी निर्णयपर नहीं पहुँच रहा था।

हिचकिचाहट जरूर थी, किन्तु घर लौटना असम्भव था, वहां दो सेर घी बरबाद करनेका ही कसूर न था, बल्कि बाईस रुपये लेकर रफूचक्कर होने, और उन्हें खर्च कर डालनेका भी संगीन जुर्म सरपर था। अन्तमें हार-पछताकर मनको निर्णय करना ही पड़ा—चलो कलकत्ता।

ट्रेन मुसाफ़िरोंसे खचाखच भरी थी, मैं किसी तरह उसमें सवार हुआ। किस तरहकी ट्रेन थी यह तो मुझे याद नहीं, किन्तु इतना जरूर स्मरण है, शामसे रातभर चलकर सबेरे वह हवड़ा पहुँची। लिलुआमें हमारे टिकट ले लिये गये थे। कलकत्तेमें कहाँ जावेंगे, शायद रास्तेमें यह खयाल तग नहीं कर रहा था, क्योंकि समझा था वह भी बनारस ही ऐसा शहर होगा। लेकिन, जब हवड़ाके विशाल स्टेशनपर उतरा, तो वहांकी अपार भीड़को देखकर मुझे वह एक शहर या बड़ा मेला जान पड़ने लगा। उस वक्त हवड़ा स्टेशनमे तीसरे दर्जेके मुसाफ़िर जहां बैठ ट्रेनका इन्तजार करते थे, वह मुसाफ़िरखाना दूसरी तरहका था। फ़र्श इतना साफ़ सीमेंटका न था। सिग्नल जैसे अनेक जोड़वाले लोहेके ऊँचे खम्भोंपर शायद टीनकी छत थी। उस मेलेमें मेरी अक्ल गुम हो गयी। कहां चलना है, इसपर पहिले विचार नहीं किया था, यहा आनेपर तरह-तरहकी बोलियां, विचित्र वेश-भूषा दिखलाई पड़ रही थी। सड़कपर जाकर देखे, गंगाके पक्के घाट, पुलपर चलती अपार जन-राशि, फिर नदीके आर-पार शहरकी अट्टालिकाएं दिखलाई पड़ीं; उन्हें देखकर मनपर एक आतक छा गया। कहां जावें, किसके पास जावें ? बच्चा मामा या जवाहिर मामाके पास जावेंगे—यह किसीसे पूछना अपने हीको भारी हिमाकत जँचती थी। लाचार, लौटकर मुसाफ़िरखानेके एक खम्भेके पास सटकर बैठ गया!

शायद इस तरह चुपचाप बैठे, और अपने कियेपर पछताते मुझे एक युग बीत गये। मैं अथाह समुद्रमें गोते लगा रहा था। समस्याके सुलझनेका कोई रास्ता नहीं दीख पड़ता था। शायद मैं अब भी सघर्षमें डटा हुआ था, या मैदान छोड़कर "कश्ती खुदा पै छोड़ दे लंगरको तोड़ दे" कर रहा था। उसी समय एक गोरा पतलासा लड़का—मेरी उम्रसे कुछ ही ज्यादाका—मेरी ओर आया। उसके बदनपर धोती-कुर्तेके अतिरिक्त सिरपर शायद टोपी भी थी। वह भुक्तभोगी था, इसलिये बिना किसी हिचकिचाहटके मेरे पास चला आया। बात कैसे शुरू की इसकी कुछ याद नहीं। उसने जरूर पूछा होगा—कहाँसे आये हो? हम मदरसा जानेवाले लड़के कुर्तेकी आस्तीनसे सोख्तेका काम लेते थे, शायद उससे उसे अनुमान हुआ हो, कि मैं स्कूलका विद्यार्थी हूँ। अथवा दिहाती चरवाहे और दिहाती विद्यार्थीमें भी अन्तर तो हुआ ही करता है। हमारी बातचीतके बाद यह पता लगा, कि हमारे सहयोगी बा० महादेवप्रसाद मेरी ही तरह हँडिया तहसीली स्कूलके छठे दर्जेके उर्दूके विद्यार्थी थे, और अबके ही साल पाँचवेंसे छठवें दर्जेमें आये थे। याद नहीं

नवाजन्दा-बाजन्दाकी प्रेरणाकी मार उनके ऊपर भी पड़ी थी, उनके तुरन्त भागकर आनेका क्या कारण हुआ था, यह भी स्मरण नहीं। यह मालूम हुआ, कि मह मुझसे कई दिन पहिले कलकत्ता पहुँचे। मैं तो दो-चार आनेमें खरीदकर एक गुलबकावलीका मालिक बना था, और हमारे महादेवप्रसाद अपना सारा बस्ता ही लेते आये थे। मेरी किंकर्तव्यविमूढ़ताको देखकर उन्होंने हिम्मत बढ़ाते हुए कहा—मेरे ऊपर भी वैसे ही बीती थी। लेकिन अब आठ आने महीनेपर हमने बासा किराया ले रखा है। हमारी ही तरह भागकर एक और तरुण साथ ही रहते हैं। महादेवप्रसाद मेरे लिये घोर अन्धकारमें बिजलीके चिराग बनकर मिले। नवाजन्दा-बाजन्दाकी लगाई आग बुझी नहीं थी, यह रातके बड़े बोझसे दब गयी थी। उनकी बातोंको सुनकर मेरी हिम्मत फिर ताजी हो गयी।

हम लोग वहांसे उठकर हवड़ा पुल पार हुए। गंगातटवाली सड़कको पकड़कर जगन्नाथघाटकी ओर मुड़े—दिशा तो तबसे आज तक कलकत्तामें मुझे मालूम ही नहीं होती। टकसालके पास गुजरते वक्त महादेवप्रसादजीने बतलाया—यही रुपये-पैसे ढाले जाते हैं। इससे भी ज्यादा मेरा चित्त इसलिये आकर्षित हुआ, कि हम लोग रोजीका कोई सिलसिला ढूंढ़ रहे थे, और मालूम हुआ था, कि यहां काम मिलने की सम्भावना है। टकसालसे आगे जोड़ा सागूकी किसी गलीमें पहुँचे। वहां आस-पास अधिकतर 'खोलाबाड़ी' (बांसके चँचरेकी दीवार और खपड़ैलकी छतके मकान) थीं। कलकत्तामें आठ आने महीनेका बासा सुनकर मुझे आश्चर्य नहीं हुआ, क्योंकि अब तक किराये-भाड़ेसे मुझे वास्ता ही कब पड़ा था? आश्चर्य होता भी तो अब बासा देखकर उसके लिये गुंजाइश नहीं रह जाती। बासा नहीं वह खुला हुआ बड़ासा मचान था। बांसू-खम्भे गड़े थे, उनपर कड़ियोंपर बांसके फट्ठे बिछाये हुए थे। नीचे बड़ी सीढ़ थी, किन्तु नीचे हमें रहना न था, वहां तो बांस और बाँसूके बल्ले रखे हुए थे। ऊपर भी शायद एक ओर कुछ बांसके फट्ठे रखे हुए थे। बांसकी सीढ़ीसे ऊपर जानेका रास्ता था। सिर्फ एक या डेढ़ तरफ चांचरकी दीवार थी, नहीं तो चारों ओरसे 'कोठा' खुला हुआ था। फ़र्शपर मिट्टी भी नहीं थी, सिर्फ रसोईकी जगह थोड़ीसी मिट्टी डाली हुई थी, जिसमें चूल्हेकी आगसे वह जल न जाये। वस्तुतः बाड़ीवालेको तो हमसे आठ आना भी नहीं लेना चाहिए था, उतनेका तो हम उसकी चीजोंकी रखवाली कर दिया करते थे। वहां पहुँचनेपर बीस-बाईस बरसके एक सांवले-पतले-लम्बे जवान मिले। महादेवप्रसादने हमारा परिचय कराया। हम सबमें यही सबसे बुजुर्ग थे, उम्रके ख्यालसे, नहीं तो उनके लिये काला अक्षर भैंस बराबर था। वे बस्ती जिलेके ब्राह्मण-पुत्र थे। घरमें बहुतसी गाय-भैंसें थीं। हमारे दोस्त शायद अपने भाइयोंमें सबसे छोटे थे, और उनका काम चरवाही करना था। गर्मियों

या जाड़ोंमें वे अपने पशुओंको लेकर नेपाल-तराईके जंगलोंमें चले जाते थे। वहाके दृश्योंको वह बड़े उत्साहके साथ वर्णित करते थे। शेर या हाथीसे साबिका पड़नेकी बात तो उन्होंने नहीं की, किन्तु झाड़ियोंमें उलझ जानेपर भैंसोंकी सींगको उन्हें 'दाव' से काट देना पड़ता था। उनको रह-रहकर अपनी तरुण स्त्री याद आती थी, जो दिनभरके थके-मादे गोसारमें सोये अपने पतिदेवके पैरोंमें तेलकी मालिश करती थी।

रसोई कौन बनावे—यह प्रश्न उठनेपर महादेवप्रसादजीके कायस्थ होनेसे इनकी बात ही नहीं उठ सकती थी। रहे बाकी दो आदमी, उसमें रसोई बनानेमें मैं कच्चा भी था, साथ ही बस्तीवाले देवता किसी दूसरेके हाथका पका खाना खानेको तैयार न थे। स्कूलकी आबो-हवाने मुझमें कुछ हेरफेर जरूर किया था, जिससे कि मैंने आसानीसे एक अज्ञात ब्राह्मणके हाथका भोजन स्वीकार किया।

हमारे पैसे खर्च होते जा रहे थे, इसलिये सबसे ज्यादा फिक्र हमें काम ढूंढ़नेकी थी। १४, १५ वर्षके हम दोनों जैसे लड़कोंको नौकरी मिलना आसान काम नहीं था, तो भी हमारा अधिक समय उसीकी तलाशमें बीतता था। मेरा परिचित तो कोई वहा मालूम नहीं हुआ, किन्तु महादेवप्रसाद अपने परिचितों—रेलमें पैट-मैन या कुलीका काम करनेवालों—के पास ले गये। कभी हम जगन्नाथ घाटपर जा बैठते थे। उस वक्त वहा एक अघेड़ साधु आया हुआ था, जो अंगरेजी सरकार और अंग्रेजोंके खिलाफ़ कड़े-कड़े शब्द निकालता रहता था। हमारे जैसे कितने निठल्ले लोग उसके गिर्द जमा होकर सुनते रहते थे। उस समय बंगभंगके विरुद्ध सशस्त्र आन्दोलन शुरू हो गया था, किन्तु मेरे जैसेको उस दुनियाका पता ही कहां था? सुननेवालोंमेंसे किसी-किसीको कहते सुना—जरूर यह कोई जासूस है। हां, जासूस या पागल छोड़ वह तीसरा आदमी हो भी नहीं सकता था। दिनमें एक बार हम हवड़ा स्टेशनपर जरूर पहुँच जाते थे, और दो-चार ही दिनके भीतर अपने जैसे किंकर्तव्यविमूढ़ दो और व्यक्तियोंको अपनी चौकड़ीमें भरती करनेमें सफल हुए, इनमें एक आराके ३० वर्षकी उम्रके थे, और दूसरे हम दोनोंके ही समवयस्क तथा थोड़ा-बहुत पढ़े हुए जौनपुर जिलेके एक क्षत्रिय-पुत्र। शायद कोई छठां भी आदमी रहा हो।

हमने अपना एक कम्यून् (साम्यवादी समाज) कायम कर लिया था। मैं, और मेराका खयाल भूल गये थे। जिसके पास जो पैसा था, वह सार्वजनिक खर्चके लिये हाजिर था। तै किया गया कि जिसको भी नौकरी मिले, कमाई सबके खर्चमें लाई जावेगी। सबेरे हम मूरी-भूंजापर गुजारा कर लेते। दिनमें एक बार शामको दिन रहते ही रोटी बनाकर खा लिया करते थे। दिनमें दो-दोकी जोड़ी बनाकर नौकरीकी तलाशमें घूमा करते। कभी खिदिरपुर डक्में जहाजसे बस्ता उठानेके

कामकी तलाशमें जाते, कभी कोयला-डिपोमें कोयलाकुलीके कामके लिए।
हमारे लिखे-पढ़ेका भी वहां कोई उपयोग हो सकता है, इससे हम निराश थे; इस-
लिए जांगरकी रोजीपर ही हमारी आशा थी। खैर, जहाज-कोयला-माल-गोदामके
कुलीका तो कोई काम मिला नहीं; और मिलनेपर क्या महादेव और मेरे ऐसे
दुधमुंहे छोकरे—जिन्होंने पढ़नेके सिवा हाथसे कभी काम नहीं किया—उस कामको
कर भी पाते ? अधिकतर मैं और महादेव साथ रहते, हम दोनोंमें बहुत अधिक
समानता थी। शायद कभी-कभी अकेले भी घूमने चला जाता। एक बार हबड़ामें
बर्न कम्पनीके कारखानेमें कामका पता लगा। कुलियोंकी भरती ठीकेदारों द्वारा
होती थी, उसने मुझे काम दे दिया। काम था मालगाड़ीके धुरेके दोनों सिरों—
जहांपर गाड़ी रखी जाती है—को तेल और रुतेसे रगड़कर चमचम करना। यहां
टीनकी छतके नीचे सैकड़ों लोहार-मजदूर काम कर रहे थे। जगह-जगह नलकोंसे
हवा निकल रही थी, जिनके सहारे पत्थरके कोयलेकी अंगीठियां जल रही थीं।
हथौड़े और घनकी आवाजसे भारी टीनकी छत गूंज रही थी। मुझे याद नहीं,
महादेवप्रसाद भी उस समय मेरे साथ थे या नहीं। धुरा रगड़नेमें थोड़ी ही देर
बाद हाथ दुखने लगता। इधर-उधर निरीक्षकको न देखकर, कुछ सुस्ताते और
फिर रगड़, जब उससे भी काम न बनता, तो पांच-सात बार पेशाब करने चले
जाते। मालूम नहीं, दो दिन काम किया या चार दिन। रहनेका इन्तजाम एक
मिस्त्रीके साथ था। मिस्त्रीकी स्त्री मेरे खाने-पीनेकी ओर बड़ा ध्यान रखती
थीं, रसोई में गुद बना लेता था। मेहनत कुछ भी रही हो, किन्तु उससे डरकर
नहीं बल्कि वहांसे ओड़ागाबूमें, साथियोंसे मिलने आया इसी ख्यालसे, 'गुलबका-
वली' और लोटाडोरको भी वहीं मिस्त्रीके यहां छोड़ आया था।

इधर आनेपर लौटना भूल गया। साथियोंको छोड़कर जाना पड़ता, शायद
यह भी उसमें कारण हुआ। फिर नौकरीकी तलाशमें—और बहुत कुछ निरुद्देश्य
चक्कर काटना आरम्भ हुआ। कभी चितपुर, तो कभी धर्मतल्ला, कभी खिदिरपुर
तो कभी नीमतल्ला। दिनमें दस घंटे क्या काम घूमते रहे होंगे। दीवारोंपर
चिपके बंगला इश्तिहारोंको देखते-देखते न जाने कब बंगला वर्णमाला मुझे याद
हो गई। हमारे बासेके बगलवाले घरोंमें बंगाली गृहस्थ रहते थे। उनके घरोंकी
स्त्रियां कभी-कभी कुछ बात भी करती थीं, किन्तु मैं बहुत डरता था। मैंने सुन
रखा था, बंगालमें बड़ा जादू है वहांकी औरतें जादू मारकर भेड़ा बना लेती
हैं। मुझको उस वक्त इन बातोंपर पूरा विश्वास था, और मैं भेड़ा बननेके लिये
तैयार न था।

एक दिन मैं अकेला धर्मतल्लामें कहीं आगे जा रहा था। एक आदमी भी
उधर ही जा रहा था। पूछा-पेखी हुई। नौकरीकी तलाश करनेपर कहा—'नौकरी-

की क्या कमी है । बस्ता (बोरा) ढो सकते हो ?' 'क्यों नहीं, और मेरे और भी साथी हैं ?' 'अच्छा तो शामको मेरे बासामें कुलीबाजारमें आओ।' 'मैं अपने और साथियोंको लेकर आज आऊँगा । हम सब एक ही जगह काम करेंगे, एक ही जगह रहेंगे।' 'अच्छा' कहकर पोस्टमैन चला गया । मैं लौटकर अपने बासेमें आया । वहां जौनपुरी साथी मौजूद थे, बाकी लोग तलाश-रोजगारमें गायब थे । शाम होनेवाली थी, और पोस्टमैनसे मिलना जरूरी था, इसलिये मैं और ज्यादा इन्तजार नही कर सकता था । जौनपुरीको साथ लिये मैं चल पड़ा । खिदिरपुर काफ़ी दूर है । वहां जाकर कुलीबाजारके ढूंढ़नेमे भी दिक्कत नही हुई । शायद तब तक सूर्य डूब चुके थे । हम लोगोंने पोस्टमैनका पता लगाना शुरू किया । मुहल्लेमें ज्यादातर देशवाली आदमी थे । वहा देशवाली पोस्टमैनका पता लगना मुश्किल न था, किन्तु यदि वह वहा हों तब न पता लगे । हम इधरसे उधर पूछ-ताछमें लगे ही हुए थे, कि बारिश शुरू हो गयी मूसलाधार । हमारे सारे कपड़े भीग गये, ऊपरसे दो घड़ी रात बीत चुकी थी । इस समय जोड़ासाखू लौटकर जाना दूरकी बात थी । अन्तमें हमने आसपासके घरवालोंसे रातको रहनेकी प्रार्थना की । दो-चार जगह 'अज्ञात कुलशील' को बास देना अस्वीकृत हुआ; किन्तु आखिर एक घरवालोंको वर्षा, रात और हमारी उम्र देखकर दया आ ही गयी । उन्होंने भीतर बुला लिया । शायद वहां चार-पाच आदमी रहते थे, सभी पूरबी युक्तप्रान्तके । काम—शायद कुलीका करते रहे होंगे । पूछनेपर पहिले तो पोस्टमैनके न्योतेकी बात कही । घर-द्वारके पूछनेपर जौनपुरी साथीने दोनोंका घर एक गावमें बतला दिया । फिर तो हमें पुरोहित-यजमानका लड़का भी कहना पड़ा । भागकर आना—हमारी उम्रके लड़कोंके लिये कलकत्ता पहुँचनेका सर्व-प्रसिद्ध कारण था । दूसरे दिन घरवालोंने रातका उपदेश जारी रखते हुए कहा—'परदेशमें कलेश होगा, तुम्हारी उम्रके लड़कोंको काम नहीं मिल सकता, घर चले जाओ । घर चिट्ठी लिख दो, रुपया आ जायेगा न ?'

हम दोनों बोल उठे—'जरूर ।'

"तो यही रहो । खाने-पीनेकी चिन्ता मत करो । चिट्ठी लिख दो, रुपया आ जानेपर घर चले जाना ।"

शील-संकोचके मारे हम 'नही' करके वहासे चल देनेकी हिम्मत नही रखते थे, साथ ही एक बारके मुंहसे निकल आये झूठ—हम दोनों एक गांवके हैं—को वापस लेनेकेलिये तैयार न थे । रहनेको रह तो गये, और जौनपुरी भाईके घर चिट्ठी भी लिखकर डाल दी गयी, किन्तु मुझे बड़ा तरद्दुद मालूम होने लगा । यदि कहीं इन लोगोंको असली बात मालूम हो गयी, तो क्या कहेंगे । चिट्ठीके जवाब आनेका समय जितना ही नजदीक आता जाता था, उतना ही मैं साथीसे

चल देनेका आग्रह करने लगा, किन्तु वह चलनेको तैयार नहीं था। लाचार, एक दिन मैं यह कहकर वहांसे अकेला चल पड़ा—'मैं तो जाता हूँ, तुमको तरद्दुदमें पड़ना हो तो रहो।' उसके बाद फिर उनसे मुलाकात नहीं हुई, इसलिये नहीं कह सकता, उन्होंने क्या किया।

मैं लौटकर हरीसन रोडसे गुजर रहा था। उस वक्त आने-जानेकी कोई खास जल्दी थी नहीं। कहीं देखनेकी कोई चीज हुई, तो उसे ही थोड़ी देर ठहरकर देखने लगता था। उसी जगह साफ धोती, कोट, गोल-फ्लेल्ट टोपी लगाये हाथमें छाता लिये एक बूढ़े आदमी मिले। उन्होने घर-बारके बारेमें पूछा, और फिर बेसरोसामानीका पता लगनेपर कहा—चलो, मैं तुम्हें अपना घर दिखला देता हूँ, जरूरत हो तो आना, यदि मैं तुम्हारे लिये कुछ कर सकता हूँ, तो करूँगा। उनकी कोठरी राजा बर्दवानके कटरेके तीसरे तल्लेपर थी। पाठकजी—बिन्दाप्रसाद पाठक यही उनका नाम था—की बातपर मुझे विश्वास हो गया, और साथ ही कलकत्तामें मुझे एक अवलम्ब-सा दिखलाई पड़ा। किन्तु पहिले मुझे अपने साथियोंकी खबर लेनी थी। जोड़ासाम्कूकी खुली खोलाबाड़ीमें किसीका पता नहीं था। जौनपुरी शायद कुलीबाजारसे टले न थे। महादेवप्रसाद और दूसरे साथी रोजगारकी तलाशमें गये हुए थे। शाम तक किसीको आया न देख मैं पाठकजीके घरपर गया।

तीसरे तल्लेपर सीढ़ीके पास शायद ६४ नम्बरकी कोठरी थी। कोठरी ६ हाथ लम्बी चार हाथ चौड़ी रही होगी। बगलमें सीढ़ीके ऊपर एक थोड़ासा और स्थान था, जो नीचेकी कोठरीसे दो हाथ ऊँचेपर पड़ता था, और उसमें कभी कोई सामान रख दिया जाता था। दरवाजेके पास दो हाथ चौड़ी जमीन पानी-गिराने और जूता रखनेके लिये थी, फिर हाथभर ऊँचा बाकी कोठरीका फर्श था। कोठरीके दूसरे सिरेपर खिड़की थी, और कलकत्ताकी गर्मीमें उसकी हवा बड़ी शीतल और सुखद मालूम होती थी। पाठकजी रसोई मारवाड़ी बागेमें खाया करते, इसलिये कोठरीमें कोयले या धुआँ-धक्कड़की जरूरत न थी। उनको हुक्का पीनेकी बड़ी आदत थी, और उसके लिये टिकियोंसे काम चल जाता था। हुक्काकी जगह मुरादाबादी फर्शी थी। मेरा काम था, कोठरीको साफ रखना, नीचे नलकेसे पानी भर लाना—जो कि सारे दिनके लिये एक घड़ा काफी था, और जब पाठकजी घरपर हों तो दो-चार या दस चिलम भरकर देना। चिलमकी बात पहिले मुझे नागवार मालूम होती थी, क्योंकि हमारे सरवरिया ब्राह्मणोंमें इसे घोर पाप समझा जाता था। मुझे तो इसके कारण पाठकजीके ब्राह्मण होनेमें सन्देह भी होता था, किन्तु एक बार रानीसरायमें किसी असिस्टेंट इन्स्पेक्टर ब्राह्मणको फर्शी गुड़गुड़ाते देखकर इस शंकाका समाधान हो चुका था। धीरे-धीरे पाठकजीको मेरे कुल-शील, पढ़ने-लिखने आदिके बारेमें और भी बातें मालूम हुईं। पाठकजीका

बर्ताव मेरे साथ नौकरका-सा नहीं लड़के जैसा होने लगा। उन्होंने पढ़नेका शौक देखकर मुझे अंग्रेजी पढ़ानी शुरू की।

पंडित बिन्दाप्रसाद पाठक—डाइरेक्टरी और चिट्ठी-पत्रीमें एम्‌-बी-पाठक लिखे हुए थे—मुरादाबादकी मियांसाहेबकी गलीके रहनेवाले, सारस्वत ब्राह्मण थे। १९०७ में उनकी आयु ५५ से ऊपर थी। हिन्दी-उर्दूके अतिरिक्त वह अंग्रेजी भी जानते थे। फौजी कमसरियटमें वह कन्ट्राक्टरका काम कर चुके थे, और इसी सिलसिलेमें वे पेशावर और आसाममें रह आये थे। पीछे कलकत्तामें उन्होंने दलालीका काम शुरू किया, और कुछ वर्षों तक उनको बड़ी सफलता मिली। बँगला, बग्घी, नौकर-चाकर सब हो गये थे। लाखोंका कारबार करते थे। किन्तु, इसी वक्त—उनके कथनानुसार नक्षत्रने पलटा खाया—उनका कारबार पट पड़ा। थोड़े ही दिनोंमें बग्घी-बँगले, नौकर-चाकर सब विलीन हो गये, और वह अकेले रह गये। आज कई वर्षोंसे उनका नक्षत्र पल्टा खाये हुए था। पुराने कारबारके वक्तके जान-पहिचानी मारवाड़ी सेठ या किसी अंग्रेजी कम्पनीका कोई साहेब कभी कोई हल्कासा काम दे देते थे, जिससे तीस-चालीस रुपये महीनेका हिसाब लग जाता था। उसमेंसे ५ रुपया महीना वह मकानका किराया दे देते थे, बाकीमें अपना खाना-खर्चा चलाते थे। उनके एक मात्र लड़के अपने शहर मुरादाबादमें ही रेलवेमें क्लर्क थे। घरका खर्च किसी तरह चला लेते थे, और पिताके ऊपर घर चले आनेके लिये बहुत जोर देते थे, किन्तु पाठकजी कहते थे—यहां समुद्रके किनारे पड़ा हूँ, न जाने किस वक्त लक्ष्मीकी लहर चली आवे; मुरादाबाद जानेपर तो भविष्यसे इस्तीफा दे देना पड़ेगा।

बस्तीवाले ब्राह्मणके सम्पर्कमें आकर रिश्तेदारीमें ही कच्ची रसोई खानी चाहिये—इस पारिवारिक नियमको मैंने तिलांजलि दी। पाठकजीका छुआ, तथा उनके गौड़ ब्राह्मणोंके बासेका भोजन भी थोड़ेसे मानसिक संकटके साथ मैंने स्वीकार कर लिया; किन्तु मुझे यह सुनकर बड़ा धक्कासा लगा, जब कि मालूम हुआ कि महीने भरसे जिसे मैं रबड़ी समझकर बड़े चावसे खा रहा हूँ, वह दूधमें भिगोई पावरोटी है! पावरोटीको मैं पूरा क्रिस्तानी खाना समझता था। पाठकजीने हवड़ा पुलके पास ले जाकर पावरोटीकी उन दूकानोको दिखलाया, जिनमें शंखसे सफ़ेद मोटे-मोटे जनेऊ पहिने बंगाली ब्राह्मण पावरोटी बेचा करते थे। मैं पहिले बंगालीको ब्राह्मण ही माननेके लिये तैयार न था। मैंने समझ लिया, धरम तो चला ही गया, लेकिन सन्तोष करता था—अच्छा यहां कलकत्तामें घर-खान्दानका कौन है जो इसे जानता है। इसके बाद तो कितनी ही बार पाठकजीके साथ और अकेले भी मैं हवड़ामें स्टेशनके पासकी एक सँकरी सड़कपर सिक्खोंकी तन्दूरी दूकानोंपर चला जाता, और गर्मागर्म तन्दूरी रोटियाँ 'महाप्रसाद' के साथ छक

आता। पाठकजीके साथ एक बार एक साहेबके बँगलेपर जाना पड़ा, बेहराने लेमनेडकी दो बोतलें लाकर सामने रखी, तो मैंने उसमे इनकार नहीं किया। बंगाली हिन्दू भोजनालयोंमें तो अक्सर जाकर खाना खा आता था। किसी मुसल्मान क्रिस्तान होटलमें खाना खाने तो नहीं गया, लेकिन पाठकजीने उसके लिये भी मुझे तैयार कर दिया था, न खाना संयोगकी बात थी।

पाठकजी दिनमें दोपहरको थोड़ा समय छोड़कर बाहर ही घूमते रहते थे, उधर अंग्रेजी पढ़नेकी मेरी रुचि कुछ बढ़ चली थी, इसलिये एक दिन वह मुझे ले जाकर विशुद्धानन्द सरस्वती विद्यालयमें दाखिल करा आये। फर्स्ट बुक पढ़नेको मिली। मेरे दर्जेमें अधिकतर मारवाड़ी लड़के थे, एक सहपाठीको सरवरिया ब्राह्मण कहते सुनकर मुझे यह पता लगा, कि सरवरिया मारवाड़में भी होते हैं। हमारे अध्यापक बलिया जिलाके रहनेवाले एक दुबले-पतले सज्जन थे।

धीरे-धीरे कलकत्ताकी नवीनता जाती रही। राजाचौकके नीचेकी दूकानोंकी मसाला, हल्दी, प्याजकी गन्धकी विचित्रता भी लुप्त हो गयी। दोतल्लेके बंगालीबासेकी 'झी' (नौकरानी) चिरदृष्ट होनेसे मेरी ओर जब लौंग बिधा हरे पानका बीड़ा, अपनी बड़ी-बड़ी आँखोंमें हँसी भरकर बढ़ाती; तो जादूके डरसे मैं उसे अब छोड़ न देता। घरसे चिट्ठी-पत्री भी होने लगी। नानाका बार-बार लौट आनेका तकाजा था। इस तरह मेरा मन घर आनेके लिये उतावला हो पड़ा। नानाने चिट्ठी लिखी, रुपया भेज दिया। पाठकजी ले जाकर एक दिन हवड़ा गाड़ीमे चढ़ा आये।

११

अन्यमनस्कता

रानीकीसरायमें रातको उतरा था, इसलिये रातको स्टेशन हीपर रह गया। सबेरे रानीकीसरायके कुछ सहपाठियोंसे भेंट की। मेरी नजरमें वे बिल्कुल भिन्न-से मालूम होते थे। एक दिन पहिले-पहिल जब मैं पन्दहाके यहां पढ़ने गया था, तो वहांके लड़कोंकी थोड़ीसी विभिन्नता उनकी नागरिकताकी परिचायक मालूम होती थी; और आज चार महीने बाद कलकत्तेसे लौटनेपर वे मुझे निपट असंस्कृत अनागरिक मालूम होते थे। मैं अब सफेद धोती, सफेद कुर्ता, फ्रेन्च टोपी और बूट जूता पहिने हुए था। घुघने चबने तथा माथुन-केन्से सहा-पांरर साल-

पहिले वहां वही छोटासा मन्दिर और बगलमें एक घर था। वही अब भी वहां थे, किन्तु बीचमें वह कुटिया बहुत गुलजार हो गयी थी। बराबर पांच-सात साधु रहा करते थे। बाजारवाले रसद-पानी देनेमें बड़ी तत्परता दिखलाते थे। वह तत्परता तो शायद अब भी कम न थी, लेकिन मालूम होता है यह परिवर्तन किसी योग्य साधुके न रह जानेके कारण हुआ। वहां अब एक अनपढ़ लँगड़ा साधु रह गया था। बन्दरोंकी भरमार अब भी वैसी ही थी।

नानाके सामने जानेमें अब संकोच न था, क्योंकि बीचके चार महीनों और उनके भीतर हुई घटनाओंने उनके दिलसे दो सेर घी गिराने और २२) रुपयेपर हाथ फेरनेवाली बातको भुलवा दिया—इसका मुझे पूरा विश्वास था। नाना मुझको देखकर बड़े प्रसन्न हुए। मुझे पढ़ानेकी उनकी बहुत चाह थी, किन्तु अब मेरी इच्छाके विरुद्ध जोर देना नहीं चाहते थे। यद्यपि मैं सितम्बरके महीनेमें लौटा था, तो भी यदि तुरन्त पढ़नेमें लग जाता तो मिडलकी अगली परीक्षामें बैठ सकता था, यदि उपस्थितिका खयाल न किया जाता; किन्तु, न नानाने कहा और न मैंने ही पढ़नेका नाम लिया। मेरा समय अधिकतर पन्दहामें बीतता, कनैला और बछवल भी एकाध बार हो आया था। इसी समय उमरपुरके परमहंसके दर्शनका मौका मिला। दिसम्बर या जनवरी (१९०८ ई०) में एक बार निजामाबाद गया। उस वक्त मेरे साथी परीक्षाकी तैयारी कर रहे थे। मेरे कलेजेमें टीससी लगी, किन्तु अब क्या किया जा सकता था?

नानाने सर्वेमें गावके सरकारी कागजमें अपने नामके साथ मेरा नाम दर्ज करा दिया था, जिसपर उज्र हुआ था, और बन्दोबस्तके डिप्टीने समझाकर हटवा दिया, यह मैं पहिले लिख चुका हूँ। नानीने अपने अन्त समयमें बहुत जोर दिया, कि नातियोंके नाम लिखा-पढ़ी हो जानी चाहिये, जिन्दगीका क्या ठिकाना है। उनके जीतेजी हम चारो भाइयोंके नाम नानाने अपनी सारी स्थावर सम्पत्ति हिब्बा लिख दी। ऐसा करके उन्होंने अपने भतीजो, विशेषकर बड़े भाईके लड़कोंको युद्धका अल्टीमेटम् दे दिया। इस वक्त अभी काना-फूसी ही हो रही थी, खुला संघर्ष नहीं हो रहा था, तो भी भविष्य संकटापन्न दीख पड़ता था। वैसे नानाके छोटे भाईके दो लड़कों—सूरजबली और नरसिंहका भी नानाकी सम्पत्तिपर उतना ही दावा था, जितना बड़े भाईके लड़कोंका, तो भी वे अपनेको जन-धनमें निर्बल समझते थे, इसीलिये उनसे खटपट नहीं थी। नरसिंह मामा तो मेरे समवयस्क थे, और अब मृत छोटी नानीके संकेतके अनुसार उनकी भावज तथा अपनी मामीके साथ हँसी-मजाक मेरे मनोरंजनका एक खास साधन बन गया था।

× × ×

धीरे-धीरे जाड़ा बीत गया। गर्मीके महीने और उनके साथ आमोंकी फ़सल

आता। पाठकजीके साथ एक बार एक साहेबके बँगलेपर जाना पड़ा, बेहराने लेमनेडकी दो बोतलें लाकर सामने रखीं, तो मैंने उससे इनकार नहीं किया। बंगाली हिन्दू भोजनालयोंमें तो अक्सर जाकर खाना खा आता था। किसी मुसल्मान क्रिस्तान होटलमें खाना खाने तो नहीं गया, लेकिन पाठकजीने उसके लिये भी मुझे तैयार कर दिया था, न खाना सयोगकी बात थी।

पाठकजी दिनमें दोपहरको थोड़ा समय छोड़कर बाहर ही घूमते रहते थे, उधर अंग्रेजी पढ़नेकी मेरी रुचि कुछ बढ़ चली थी, इसलिये एक दिन वह मुझे ले जाकर विशुद्धानन्द सरस्वती विद्यालयमें दाखिल करा आये। फ़र्स्ट बुक पढ़नेको मिली। मेरे दर्जेमें अधिकतर मारवाड़ी लड़के थे, एक सहपाठीको सरवरिया ब्राह्मण कहते सुनकर मुझे यह पता लगा, कि सरवरिया मारवाड़में भी होते हैं। हमारे अध्यापक बलिया जिलाके रहनेवाले एक दुबले-पतले सज्जन थे।

धीरे-धीरे कलकत्ताकी नवीनता जाती रही। राजाबाजारके नीचेकी दूकानोंकी मसाला, हल्दी, प्याजकी गन्धकी विचित्रता भी लुप्त हो गयी। दोतल्लेके बंगाली-बासेकी 'झी' (नौकरानी) चिरदृष्ट होनेसे मेरी ओर जब लोग बिधा हुऐ पानका बीड़ा, अपनी बड़ी-बड़ी आंखोंमें हँसी भरकर बढ़ाती; तो जादूके डरसे मैं उसे अब छोड़ न देता। घरसे चिट्ठी-पत्री भी होने लगी। नानाका बार-बार लौट आनेका तकाजा था। इस तरह मेरा मन घर आनेके लिये उतावला हो पड़ा। नानाने चिट्ठी लिखी, रुपया भेज दिया। पाठकजी ले जाकर एक दिन हवड़ा गाड़ीमें चढ़ा आये।

११

अन्यमनस्कता

रानीकीसरायमें रातको उतरा था, इसलिये रातको स्टेशन हीपर रह गया। सबेरे रानीकीसरायके कुछ सहपाठियोंसे भेंट की। मेरी नजरमें ये बिलकुल भिन्नसे मालूम होते थे। एक दिन पहिले-पहिल जब मैं पन्दहासे वहां पढ़ने गया था, तो वहांके लड़कोंकी थोड़ीसी विभिन्नता उनकी नागरिकताकी परिचायक मालूम होती थी; और आज चार महीने बाद कलकत्तेसे लौटनेपर वे मुझे बिलकुल असंस्कृत अनागरिक मालूम होते थे। मैं अब सफेद धोती, सफेद कुर्ता, फेल्ट टोपी और बूट जूता पहिने हुए था। धूपसे बचने तथा मालुमऔलमे महा-गोरेर माट-गुदरा रहनेका मेरे रंग और चेहरेपर भी जरूर असर हुआ होगा। तो भी मैं अपने कुछ पुराने साथियोंसे मिलकर बड़ा प्रसन्न हुआ। मदरसा देखने गया नहीं, किन्तु रानीसागरपर महावीरजीवाली कुटियाकी अब उतनी रौनक न थी। रेलके आनेसे

पहिले वहां वही छोटासा मन्दिर और बगलमें एक घर था। वही अब भी वहां थे, किन्तु बीचमें वह कुटिया बहुत गुलजार हो गयी थी। बराबर पांच-सात साधु रहा करते थे। बाजारवाले रसद-पानी देनेमें बड़ी तत्परता दिखलाते थे। वह तत्परता तो शायद अब भी कम न थी, लेकिन मालूम होता है यह परिवर्तन किसी योग्य साधुके न रह जानेके कारण हुआ। वहां अब एक अनपढ़ लँगड़ा साधु रह गया था। बन्दरोंकी भरमार अब भी वैसी ही थी।

नानाके सामने जानेमें अब संकोच न था, क्योंकि बीचके चार महीनों और उनके भीतर हुई घटनाओंने उनके दिलसे दो सेर घी गिराने और २२) रुपयेपर हाथ फेरनेवाली बातको भुलवा दिया—इसका मुझे पूरा विश्वास था। नाना मुझको देखकर बड़े प्रसन्न हुए। मुझे पढ़ानेकी उनकी बहुत चाह थी, किन्तु अब मेरी इच्छाके विरुद्ध जोर देना नही चाहते थे। यद्यपि मैं सितम्बरके महीनेमें लौटा था, तो भी यदि तुरन्त पढ़नेमे लग जाता तो मिडलकी अगली परीक्षामें बैठ सकता था, यदि उपस्थितिका खयाल न किया जाता; किन्तु, न नानाने कहा और न मैंने ही पढ़नेका नाम लिया। मेरा समय अधिकतर पन्दहामें बीतता, कनैला और बछवल भी एकाध बार हो आया था। इसी समय उमरपुरके परमहंसके दर्शनका मौका मिला। दिसम्बर या जनवरी (१९०८ ई०) में एक बार निजामाबाद गया। उस वक्त मेरे साथी परीक्षाकी तैयारी कर रहे थे। मेरे कलेजेमें टीससी लगी, किन्तु अब क्या किया जा सकता था?

नानाने सर्वेमें गांवके सरकारी कागजमें अपने नामके साथ मेरा नाम दर्ज करा दिया था, जिसपर उज्र हुआ था, और बन्दोबस्तके डिप्टीने समझाकर हटवा दिया, यह मैं पहिले लिख चुका हूँ। नानीने अपने अन्त समयमें बहुत जोर दिया, कि नातियोंके नाम लिखा-पढ़ी हो जानी चाहिये, जिन्दगीका क्या ठिकाना है। उनके जीतेजी हम चारो भाइयोके नाम नानाने अपनी सारी स्थावर सम्पत्ति हिब्बा लिख दी। ऐसा करके उन्होंने अपने भतीजों, विशेषकर बड़े भाईके लड़कोंको युद्धका अल्टीमेटम् दे दिया। इस वक्त अभी काना-फूसी ही हो रही थी, खुला संघर्ष नही हो रहा था, तो भी भविष्य संकटापन्न दीख पड़ता था। वैसे नानाके छोटे भाईके दो लड़कों—सूरजवली और नरसिंहका भी नानाकी सम्पत्तिपर उतना ही दावा था; जितना बड़े भाईके लड़कोंका, तो भी वे अपनेको जन-धनमें निर्बल समझते थे, इसीलिये उनसे खटपट नहीं थी। नरसिंह मामा तो मेरे समवयस्क थे, और अब मृत छोटी नानीके संकेतके अनुसार उनकी भावज तथा अपनी मामीके साथ हँसी-मजाक मेरे मनोरंजनका एक राग साधन बन गया था।

×   ×

धीरे-धीरे जाड़ा बीत गया।   ?र उनके साथ आमोंकी

खतम हो गयी। बेकार रहते मन उकताने लगा, तब जाकर मैंने फिर पढ़ाई शुरू करना तै किया। निजामाबादमें नाम लिखानेके बाद देखा, मेरे पुराने साथी अधिकांश पास होकर चले गये हैं। नये साथियोंमें अधिकांश बाहरके स्कूलोंसे आनेवाले अपरिचित चेहरे थे, कुछ अबके सालके फ़ेल तथा स्थानीय स्कूलके चौथे दर्जेके पास लड़के परिचित भी थे। अध्यापकोंमें परिवर्तन नहीं हुआ था। मेरे हृदयमें एक प्रकारकी उदासी बनी रहती थी। मैं अपने एक सालके खोये जानेको जिस रूपमें देखता था, मुझे मालूम होता है, जैसे दौड़में मेरी घोर पराजय हुई। दर्जेमें जाते ही पुराने परिचित लड़कोंने मेरी योग्यताको काफ़ी बढ़ा-चढ़ाकर कह दिया था, किन्तु उसको पूरा दिखानेमें मुझे कुछ देर लगानी पड़ी। यही नहीं कि पिछले सवा वर्षके पुस्तक-त्यागसे मैं बहुतसी बातें भूल गया था, बल्कि अबके सालकी कई पाठ्य-पुस्तकें बदल गई थीं। बहारिस्तानकी जगह एक दूसरी ही किताब आई थी। उक्लैदिस (रेखागणित) की जगह ज्यामेट्री आई थी। इतिहासमें भी शायद कुछ परिवर्तन हुआ था। और इन पुस्तकोंके कितने पाठ हो चुके थे, जब मैं फिरसे दाखिल हुआ। रातको न पढ़नेकी 'कसम' अबके भी मेरी जारी रही, तो भी दो-तीन महीनेके बाद फिर मैं दर्जे और स्कूलका सबसे तेज लड़का हो गया।

इधर दो-तीन बरसोंसे मैं मलेरियासे बचा हुआ था। एक दिन पुराने पुजारीके यहा गया तो उन्होंने बताशा डाला हुआ तरबूजा खानेको दिया। बोर्डिंगमें उसी दिन राव (पतले गुड़) में डालकर मक्काका लावा खाया। खानेमें दोनों ही अच्छे लगे थे, किन्तु शामको कै हुई, उसके बाद जड़ैयाके साथ ज्वर। मालूम हुआ ज्वर या कमजोरी अभी कुछ दिन रहेगी, इसलिए मैं पन्दहामें बिना ठहरे कनैला चला आया। मुझे यह सुनकर बड़ा अफ़सोस हुआ कि मेरी बहिन मर गई। मरनेके बाद जो रंज हुआ, उससे मालूम हुआ, कि मैं उसे कितना प्यार करता था। माँकी मृत्यु नानीकी उपस्थितिके कारण सहय हुई थी, और नानीके बूढ़ापनने उनकी मृत्युको अवश्यंभाविनी कहकर सहय बना दिया होगा, लेकिन बहिनके बारेमें वैसे कोई कारण न थे, इसलिए उसकी मृत्युको मैंने ज्यादा अनुभव किया। उसका चेहरा-मुहरा माँसे कुछ मिलता था, हा उसके बाल काले नहीं कुछ भूरेसे थे। वह किसीसे झगड़ा करना नहीं जानती थी, और संकोचशीला थी। एक बार नानीके मरनेके बाद हम दोनों पन्दहामें थे। किसी बातमें मैंने उसे डांट दिया—आखिर बड़ा भाई हो क्या जो छोटेपर कुछ हुकूमत न जताये। रामप्यारी चुपके उठी और कनैला चली गई। मुझे उसका बड़ा अफ़सोस हुआ, और नाना भी पता लगाने १० मील दौड़े-दौड़े कनैला गये। आजी बतला रही थी—कोई बड़ी बीमारी नहीं थी। जरा-जरा जड़ैया आ रही थी, वह भी सूखी-सी मालूम होती थी। मुझसे

कहा, 'बड़की मैया ! जरा दालानसे बाहर जाती हूँ'। लौटकर तुरन्त ही आई। पुआलके बिछौनेपर बैठनेके साथ ही गिर पड़ी। मैं दौड़ी, देखा दो-तीन हिचकी आई, जरासा खून मिला कफ़ गिरा, और उसका बदन ठंडा हो गया है।

रामप्यारीको मरे अभी हफ्ता नहीं बीता था। आमतौरसे अविवाहित छोटे बच्चेका श्राद्ध नहीं होता, किन्तु पिताजी इसे माननेवाले न थे। वह अपनी रामप्यारीके प्रति प्रेम और श्रद्धाको किसी रूपमें दिखलाना चाहते थे।

दो-तीन सप्ताहमें अच्छा होकर मैं फिर निज़ामाबाद चला आया। उस साल वर्षाके शुरू होते हीसे नाना और उनके भतीजोंमें हिब्बाके लिए झगड़ा हो रहा था। उन्होंने एक मुकदमा दीवानीमें दायर किया था। लेकिन उन्हें वकीलोंने बतला दिया था, कि कानून नातीके हकको मानता है। वे यह भी नहीं साबित कर सकते थे; कि नाना और उनका सम्मिलित परिवार है; क्योंकि इसके खिलाफ़ छोटे नानाका नानाके नाम लिखा बैनामा मौजूद था। दीवानीमें पक्ष कमजोर देखकर उन्होंने फ़ौजदारी शुरू किया। जबर्दस्ती खेत काट लिया। नाना अकेले और बूढ़े थे, बेचारे कहां तक जोर लगाते। पिताजीको भी उनकी मददमें आना पड़ा, जिससे उनके घरका काम हर्ज होने लगा। मैं इन खबरोंको सुनता था, किन्तु अन्यमनस्कसा रहता था।

परीक्षाके तीन-चार मास रह जानेपर सारे जिलेके तहसीली स्कूल अपने यहांके छठे दर्जे (मिडलके अन्तिम दर्जे) के विद्यार्थियोंका मासिक सम्मिलित इम्तहान लेते थे। आजमगढ़के किसी प्रेसमें छपकर हर विषयके प्रश्नपत्र हमारे पास आते थे। इस परीक्षासे यह भी पता लगता था, कि कौन स्कूल और उसका कौन विद्यार्थी कितना तेज है ? सारे जिलेके विद्यार्थियोंमें मेरा और मकबूल (?) का मुकाबिला रहा करता था, और सो भी जबान (भाषा) को लेकर; क्योंकि जहां उर्दूकी नींव मेरी शुरूसे नहीं बन पाई थी, वहां मकबूलको उसकी योग्यता बढ़ानेके अच्छे साधन प्राप्त थे। तो भी अधिक बार मैं ही प्रथम रहता रहा। मकबूलका मकान तो नहीं मालूम, किन्तु वह आजमगढ़के तहसीली (मिडल) स्कूलमें पढ़ता था।

जनवरी (१९०९ ई०) तक ही शायद हर तरहसे तंग आकर पिताजीको मेरे चचेरे मामा लोगोंसे सुलह करनी पड़ी थी। उन्होंने देख लिया कि ५ कोस दूर दूसरे गांवमें जाकर वह लाठी तो लाठी कानूनकी लड़ाई भी ठीकसे नहीं कर सकते। उन्होंने यह भी देखा कि हजार-डेढ़ हजारकी जायदादाके लिए पांच-छै सौ रुपये अभी उनके खर्च हो गये हैं। मामा लोगोंने भी ऊँच-नीच सोचा और अन्तमें मेरे फूफा पंच बनाये गये। उन्होंने फ़ैसला दिया कि जायदादाके लिए मामा लोग भांजोंको ग्यारह सौ (?) रुपये दें। नानाकी भावनाका खयाल करके

उन्हें अपने साथ पत्थरके कोल्हूको भी कनैला ले जानेका अधिकार दिया गया। भतीजोंमें बच्चा पाठक और जवाहर तो बराबर कलकत्ता ही अपनी नौकरीपर रहते थे। रामदीहलकी भाइयोंसे पटती कम थी, सीताराम सबसे बड़े भाई मुंह-जोर बहुत थे, किन्तु असली दिमाग था सबसे छोटे रामदीन मामाका। झगड़ेमें रामदीन मामाका ही सबसे बड़ा हाथ था, किन्तु उनके प्रति मेरा भाव सदा सम्मान और प्रेमका था। उसका कारण भी था। उन्होंने रानीकीसराय ले जाकर मेरा अक्षरारम्भ कराया था। वह लोअरप्राइमरी पास कर कुछ महीने निजामाबाद दर्जा २ में पढ़ने गये थे—उस वक्त रानीकीसरायमें अपरप्राइमरीके दर्जे नहीं थे, लेकिन उन्होंने कहींसे उर्दू सीख ली थी। किताब आदिकी सहायतासे वह रोमनमें भी लिख लेते थे—और रोमन लिखना उस वक्त मेरे जैसोंकी नजरमें अंग्रेजी-साहित्यमें पारगति प्राप्त करना था। दूसरे-तीसरे दर्जेमें पढ़ते वक्त जब मैं घर लौटता, रामदीन मामा घसीट उर्दू लिखकर मेरे पढ़नेकी परीक्षा करते, अ मेरे पढ़ लेनेपर शाबाशी देते हुए नानासे कहते—चाचा! अब केदारनाथके पढ़ में कोई हर्ज नहीं है। यह सुनकर मुझे बड़ी खुशी होती। सच पूछो तो रामद मामा बचपनके मेरे प्रथम आदर्श थे, और शायद उसीलिए बीचके कड़वाह जमानेमें भी मेरे भाव ज्योंके त्यों रहे। यह भी हो सकता है, कि पन्दहाकी जा दादके प्रति मेरा कोई आकर्षण नहीं था।

शायद जनवरीका ही महीना था, जब कि मैं पन्दहामें किसी छुट्टीमें आ था। दोनों घरोंमें सुलह हो गई थी। नानासे उनके भतीजों, और खासक भतीज-बहुओंका आग्रह था, कि वह यहीं रहें। रामदीन मामाकी स्त्री (पहि नहीं, जो मेरे वात्सल्य स्नेह और श्रद्धाकी आराध्य देवी थी) से नाना भी बहु खुश थे, किन्तु उनको डर था, कि किसी दिन कोई ताना न मार दे—जमीन खं खींचकर तो नातियोंको दे दिया, अब यहां पड़े हैं टुकड़ा तोड़नेके लिए। नान कनैला जानेके लिए तैयार बैठे थे, लेकिन अभी गये नहीं थे। एक तरह नानाव घर उनके भतीजोंके सुपुर्द हो गया था, और नाना उन्हींके घर खाना खाते थे अबकी मैं भी वहीं ठहरा। ऊखका मौसिम था, यद्यपि पत्थरके कोल्हूकी बग लोहेके कोल्हूका प्रचार हो जानेसे ऊखके शर्बतमें न वह मिठास थी, और न व सामूहिक कार्य करनेका दिलबहलाव। हां, इस समय मुझे एक काम करन पड़ा, जो मेरी स्मृतिको उस दिनकी ओर ले गया, जब कि रामदीन मामाने जाकर रानीकीसरायमें मेरा अक्षरारम्भ करवाया था। बड़े नानाने अपने पौत्र रामदीन मामाके पुत्र देवानन्दको मुझे ही ले जाकर अक्षरारम्भ कराना आदेश दिया, और मुझे इस आदेशको पालन करनेमें बड़ी खुशी हुई। मालूम होता था, मैं उसके द्वारा एक बड़े ऋणसे उऋण हो रहा हूं।

लड़कपनसे ही सम्मिलित बड़ा परिवार मुझे बहुत प्रिय लगता था। जब मैं अभी सात ही आठ सालका था, तभी मझगांवांके एक राजपूत परिवारके रामफल, बांके आदि ५, ६ लड़के रानीकीसराय पढ़ने आते थे। मझगांवां पन्दहासे भी मील डेढ़ मील और आगे है, इसलिए उन्हें रोज छै मील आना-जाना पड़ता था। मुझे देखकर रश्क आता था, जब कि वे पांचों-छओं लड़के एक अँगोछेसे भूजा या सना हुआ सतू खाते थे। मझगांवामें मैं सिर्फ एक बार गया था, और उनके घरको शायद नजदीकसे देखनेका मौका नहीं मिला। तो भी मुझे यह सुनकर बड़ी खुशी होती थी, कि उनके घरमे चालीस-पचास व्यक्ति है, मनभर चावल एक दिनमें खर्च हो जाता है। वह परिवार मुझे आदर्शसा मालूम होता था। मेरे सामने उस परिवारमें अलगा-बिलगी नही हुई थी। इसी तरहका एक राजपूत-परिवार कनैलाके पासके एक गाव....में था। कनैलामें हमारे यहां यजमानी नहीं होती थी, और यजमानके नाते था इन्हीका एक परिवार। मै बहुत छोटा था, जब कि उस परिवारके अन्तिम प्रधानका देहान्त हुआ था, और बाकी बचे लोगोंमें सबके विश्वासका पात्र कोई व्यक्ति न रह गया। मेरे चचेरे आजा (दादा) महादेव पांडे—जिनको मेरे आजा जानकी पांडे बहुत मानते थे—बड़े भाईके मरनेके बाद मुखिया होकर सारे परिवारको इकट्ठा रखकर चलानेमें समर्थ तो नहीं हुए—और शायद इसका बहुत कुछ दोष मेरी आजीकी नीमसी कड़वी जबान और क्षुद्र-हृदयता थी, किन्तु वे गांवके प्रधान और आसपासके इलाकेके भी एक माननीय पंच माने जाते थे। उक्त राजपूत परिवारके लोग उस वक्त परिवारके बँटवारेके लिए दौड़-धूप कर रहे थे। महादेव बाबा उन्हें बहुत समझा रहे थे इकट्ठा रहनेके लिए, लेकिन वे उसमें सफल न रहे। मै समझता हूँ, सम्मिलित परिवारकी मौखिक बरकतोंको यदि सुननेका मुझे कभी मौका मिला होगा, तो इसी समय। सम्मिलित और बड़ा परिवार, मालूम होता है, मुझे स्वभावतः प्रिय था, यह मैं आज साम्य-वादी मनोभावके कारण नहीं कह रहा हूँ। दाल मुझे बहुत नापसन्द थी, चावलको भी मै खा नही सकता था; किन्तु, मुझे तअज्जुब होता था, कि कनैलाके बिरादरी के भोजोंमें मटरकी भी दाल मुझे इतनी स्वादिष्ट क्यों मालूम होती है? साठी का बिलकुल मोटा-झोंटा भात बार-बार मै मागकर क्यों खाता जा रहा हूँ? हो सकता है सम्मिलित बड़े परिवार और सम्मिलित बड़े भोज मुझे इसलिए ज्यादा आकर्षित मालूम होते हों, कि मेरे नानाके घरमें दो बूढ़े व्यक्ति और मैं अकेला लड़का था, उसपरसे खेल-कूदमें भी मुझपर कड़े निर्बन्ध थे, और इसीलिए एक ही परिवारमें बहुतसे बच्चोंको देखनेके लिए मैं तरसा करता था।

कुछ भी हो, नानाके यहाके झगड़ेकी शान्तिसे मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। बरसों-से मुझे देखते ही रामदीन मामाके घरकी कितनी ही त्योरियां जो चढ़ जाया करती

थी, अब उनमें एक तरहका स्नेह दिखलाई पड़ता था। कह नहीं सकता, वार रामदीन मामासे मुलाकात हो पाई। वे पढ़ाई छोड़नेके बाद कुछ समय घरपर रहे, फिर पोस्टमैन हो गये, रहते जिले हीमें थे, किन्तु घरसे दूर। प जब मैं रानीकीसरायमें पढ़ा करता, तो अतवारकी छुट्टियोंमें उनसे भेंट हु करती, किन्तु निजामाबाद चले जानेके बाद उसका बहुत कम मौका मिलता था

× × ×

निजामाबादकी पढ़ाईके दिन समाप्तिपर पहुँच रहे थे। नौ महीने पहि सहपाठियोंमें जो अधिकांश अपरिचित चेहरे देखे थे, अब वे सुपरिचित हो गये थे आज (२१-४-४०) ३१ वर्ष बाद, सो भी २३ सालसे जब कि जिले तकको देखनेक मौका मिला, यदि सभी नाम याद नहीं पड़ रहे हों, तो स्मृतिको बहुत दोष नहीं दिय जा सकता। उनमेंसे बहुतसे चेहरे अब भी स्मृति-पटपर साफ़ दिखलाई पड़ हैं, यद्यपि वे ३१ वर्षके पहलेके उनके लड़कपनके चेहरे हैं, और उनके बलपर आ अपने उन सहपाठियोंको पहचानना मेरे लिए सम्भव नहीं होगा। 'नई' गाँवके बहुत बचपनसे ही पन्दहासे कनैला आते-जाते में रास्तेसे कुछ हटकर देखा करत था। वहांके तीन लड़के मेरे साथ पढ़ते थे। तीनों चचेरे भाई किन्तु एक परिवारके थे। पतले-दुबले तो सभी थे, किन्तु बड़े श्यामनारायण पाँड़े सबसे ज्यादा दुबले थे, शायद इस अन्दाजमें उनकी लम्बाई भी कारण रही हो। मझ और सबसे छोटे भाई पढ़नेमें अच्छे थे, मझले पढ़नेमें कमजोर; किन्तु वे अक्सर हमारे रवि-वारके 'व्रत' (मांसभोजन) में शामिल हो आया करते थे। मुझे याद नहीं, कभी इन तीनों भाइयोंसे मुझसे अनबन हुई हो, किन्तु बाकी दो भाई ताना दे देते थे—केदारनाथ तो हमारे भाईको फोड़ लेते हैं। मेंहनगरके दो चचा-भतीजे महा-ब्राह्मण लड़के पढ़ते थे, उनमें भतीजा मेरी उम्रका था, दर्जेमें मेरे बाद तेजीमें उसी-का नम्बर था। उसका स्वास्थ्य भी अच्छा था, कद और आयुमें मेरे बराबर होने-पर भी वह बहुत मजबूत था, मिडल पास करनेके बाद एक बार बनारसमें उनसे भेंट हुई थी, वह वहाँ कोतवालीमें कान्स्टेबल थे।

सारे जिलेके मिडलके लड़कोंका इम्तिहान आजमगढ़के मिशन-स्कूलमें हुआ करता था। यह वही मिशन स्कूल था, जिसके बारेमें रानीकीसरायके आरम्भिक दिनोंमें नाना कहा करते थे—"ईं पढ़ जाबे, फिर तो जहां मैंने एक बार पादरी साहेब (मिशन स्कूलके हेड मास्टर) को फ़ौजी सलाम किया, कि उसे भरती करवाकर छोड़ूंगा। उनके फुफेरे भाई इसी स्कूलमें पढ़े थे, जो कि पीछे सबजज बनकर जवानी हीमें मरे थे। स्कूलके पास ही एक घर किरायेपर लिया गया था, जिसमें हम निजामाबादी परीक्षार्थी ठहरे हुए थे। याद नहीं हम लोगोंके साथ कौन अध्यापक गया था। दस बजे परीक्षाभवनमें हम पहुँचते थे। सारे मुश-

प्रान्तके लिये एक ही तरहके प्रश्नपत्र छपकर आते थे। हम उर्दूवालोंके पर्चे नस्तालीकमें नहीं बल्कि कांटेवाले टाइपमें छपे होते थे। देखनेमें तो खैर वे भद्दे होते ही हैं, साथ ही उनके पढ़नेमें विद्यार्थियोंको दिक्कत भी होती है। हम लोगोंको प्रायः सारी ही पुस्तकें नस्तालीकमें छपी थीं, इसलिये हमारे वास्ते और भी दिक्कत थी। और मुझे तो इन कँटीले टाइपोंका गुन और भी नही भूल सकता, क्योंकि मेरे जीवन-प्रवाहको एक दूसरी धारामें बहानेमें उनका भी खास हाथ था। मेरे फ़ेल होनेकी तो कोई सम्भावना थी नही; हा, सवा साल पढाई छोड़कर पहिलेके पढ़ेको भुलवा देने तथा पाठ्य-पुस्तकोके परिवर्तनके बाद भी लोगोंकी राय थी, कि मुझे सरकारी छात्रवृत्ति मिलेगी। लेकिन जब इन कटीले टाइपोंमें छपे अनुवादके पर्चेमें 'इलाहाबाद' या 'अल्लाह् अल्लाह' मेंसे एकको जगह दूसरा पढ़कर मैंने सारे अनुवाद हीको उल्टा कर डाला, तो मुझे तो पूरा सन्देह हो गया।

परीक्षा देकर मैं कनैला चला आया। अबकी एकसे अधिक बार उमरपुरके परमहंस बाबाकी कुटीपर गया। परमहस बाबाके बारेमें चारों ओर ख्याति थी, कि वे १२० वर्षके हैं। आसपासके कितने ही बूढ़े आदमी गंगा-तुलसी उठानेके लिये तैयार थे, कि पिछले पचास सालोंसे वे उन्हें उसी सूरतमें देख रहे हैं। परमहंस बाबा अपने जन्मस्थान पोखरा (नेपाल) से काशी विद्या पढ़ने आये थे। वहीं वैराग्य हुआ, और सन्यासी हो गये। बनारसमें जब रेल आयी, तो वे राजघाटकी एक गुफामें योगाभ्यास करते थे। किसी अपने भक्तसे उन्होंने रेलसे दूर ले चलनेके लिये कहा, जिसपर वह उन्हें कटहनसे दक्खिनके अपने गांवमें ले आया। एकाध जगह कुटी बदलनेके बाद आसपासके गांवोसे मील-मील पौन-पौन मील दूर मँगई नदीके दाहिने तटको अपने लिए पसन्द किया। जल्दी ही वहां उनके लिए कुटी बन गई। एक दो कोठरी और बरांडेवाली खपड़ैलसे छाई मूल कुटी थी। इसके चारो ओर खपड़ैलसे छाई कच्ची चहारदीवारी। इस चहारदीवारीके बाहर एक और बड़ा हाता—मिट्टीके ऊँचे 'खांवें' (परिखा) से घिरा था, जिसके भीतर दो पोखरियां, एक झोपड़ी और बहुतसी खाली जगह थी। उत्तरवाली पोखरीमें पक्की सीढ़ियां थीं; और इसमें परमहंस बाबाको छोड़कर कोई दूसरा, नहाने-धोनेकी तो बात ही क्या आचमन भी नहीं कर सकता था। पूरबवाली पोखरी सार्वजनिक सम्पत्ति थी। भीतरी चहारदीवारीके दरवाजेके बाहर पूरबमुंहकी एक फूसकी झोपड़ी थी, जिसमें सह्य भक्त लोग बैठा करते थे। हां, सह्य भक्त इसलिए कहता हूँ, कि परमहंस बाबा भक्तोंको भी असह्य समझते थे। कुटीके बाहरी हातेके भीतर घुसनेपर भी कितनोंपर मार पड़ती थी। चरवाहे डरके मारे अपने पशुओंको दूर रखते थे। यह डर मारका उतना नही था, जितना परमहंस बाबाके सिद्धबलका। आसपासके साधारण लोग ही नहीं, फूफा महादेव

पांडे जैसे संस्कृतके धुरन्धर पंडित और कितने ही अंग्रेजी पढ़े लिखे अफ़सर उन्हें अगाध पंडित, जीवन्मुक्त योगी और सिद्ध मानते थे। लोग जब दुःख-सुखमें उनसे वरदान मांगने जाते, और उनके इनकार करने तथा चले आनेके लिए कहनेपर भी नहीं हटते थे, तो कभी-कभी वह डंडा भी चला देते थे, किन्तु जिसपर डंडा पड़ता था, वह समझता था, हमारा मनोरथ सुफल हो गया।

परमहंस बाबामें दिखलावा नहीं था। वह एकान्तप्रिय थे, और अपनी भीतरी चहारदीवारीसे बाहर शायद ही कभी निकलते थे। भीतरी चहारदीवारीके भीतर इमलीके कितने ही दरख्त तैयार हो गये थे, जिनपर चिड़ियोंने घर जमा लिया था। शायद यह उन्हें नापसन्द न था, क्योंकि कभी-कभी चिड़ियोंको चहचहाते देख, वह भी उसी तरह नकल करके कहते थे—'चूं चूं करता है।' एक बार हजारों चिड़ियोंने अपना शहर बसाकर बाकायदा चहल-पहल शुरू कर दिया। परमहंस बाबाने इमलीकी सारी डालियोंको कटवा दिया, और चिड़ियोंको डंडा-कुंडा लेकर भागनेके लिए मजबूर किया।

परमहंस बाबाकी सेवामें दो व्यक्ति बहुत तत्पर थे, एक हरिकरणदास—हां यह सन्यासीका नाम नहीं है। हरिकरणसिंह पासके गांवके एक जवान राजपूत थे। परमहंस बाबाकी सेवाके लिए उन्होंने पहिले तो घरका कारबार छोड़ यहीं—किन्तु कुटियासे दूर हटकर, परमहंस बाबा अनन्य सेवकको भी पास रहने नहीं देते थे—रहने लगे। बाबा तो किसीको चेला बनाते न थे, इसलिए हरिकरणसिंहने स्वयं गेरुआ रंग लिया, चुटिया-जनेऊ तोड़ फेंके, और हरिकरणदास बनकर कुटियासे तीन-चार सौ गज दूर दक्षिण तरफ एक खपड़ैलकी कुटियामें रहा करते थे। परमहंसजीके भोजन तथा भीतरी कुटियाकी सफ़ाई आदिका भार उनके ऊपर था। उनके अतिरिक्त बाल्दत्तसिंह एक दूसरे भक्त थे। इन्होंने बूढ़ी मां, स्त्री, तथा परवार छोड़ वैराग्य और सन्त-सेवाके लिए परमहंस बाबाकी कुटियापर धुनी रमाई थी। बाल्दत्तसिंहने कपड़ा नहीं रंगा था। घरमें रहते वक्त भी वह धार्मिक प्रकृतिके आदमी थे, और मेरे पिताके उनकी बहुत पटती थी—दोनोंमें पुरोहित-यजमानका भी नाता था। परमहंस बाबा पहिले ब्राह्मण-क्षत्रियोंके घरके बने भोजनको खा लिया करते थे, एक बार किसी स्वच्छन्दवृत्ति स्त्रीने परमहंसजीको खिलाकर पड़ोसियोंको ताना मारा—'तू क्या कहेगी, मेरे हाथकी रसोई तो परमहंस बाबाने स्वीकार की।' इसीके बाद किसीके घरकी रसोई खाना उन्होंने छोड़ दिया। जब मैं स्थानपर आनेसे बहुत पहिलेकी बात है। मामूली फल-फूल छोड़कर, बाकी भोजन वह सिर्फ एक व्यक्तिका स्वीकार किये हुए थे। मछुरीके एक राजपूत जमींदारको इसका सौभाग्य प्राप्त हुआ था। उनकी ओरसे एक दूध देनेवाली भैंस बराबर बंधा करती थी। बाल्दत्त भैंसकी

सेवा द्वारा परमहंसजीकी सेवा करते थे। गोभी-आलूकी गाढ़ी तरकारी, रोटीसे नहीं खाली खानेके लिए, और दूधमें भिगोया धानका चूरा परमहंस बाबाका प्रधान भोजन था। ऊखका रस भी उन्हें पसन्द था, इसके लिए लकड़ीके बेलनका कोल्हू बाहरी हातेकी मँड़ैयाके सामने गड़ा हुआ था।

मेरे पिता धार्मिक आदमी थे, किन्तु अन्ध श्रद्धा उनमें बहुत कम थी। सिसवाके पौहारी बाबाकी कनैला और आसपासके गावोंमें बड़ी पूजा होती थी; किन्तु पिताजी साधारण शिष्टाचार भरका उनसे सम्बन्ध रखते थे। इसी तरह आजमगढ़के पासके एक कबीरपंथी साधु भी दो-तीन अनुयायियोंके साथ हरसाल गावमें अनाज जमा करने आते थे। गांवके बीचमें एक पुराना पीपलका वृक्ष था, जिसे गांवकी स्थापनाके समय ही रोपा गया बतलाया जाता था। गांवके पासका पोखरा भी तभी खोदा गया था, किन्तु पानी नहीं निकल रहा था। कहते हैं; उसी समय गोविन्द साहेब एक सिद्ध फकीर कनैला पहुँचे। उन्हींके वरदानसे पोखरेमें पानी निकल आया, और उन्होंने अपने हाथसे यह पीपल लगाया था। इस पीपलको भी 'गोविन्द साहेब' कहा जाता था। उस विशाल वृक्षकी घनी छाया गर्मियोंमें बहुत शीतल मालूम होती थी, गांव भरके कितने ही आदमी उसके नीचे या पासके सुखदेव पांडेके बैठकमें बैठे रहते थे। रामायण और फाग-मंडलीके जुटनेका यही स्थान था। कबीरपंथी महात्मा भी आकर यही ठहरते थे। परमहंस बाबाकी बात दूसरी थी। दूसरे सन्त-महात्माओंसे गावके लोग तभी खुश रहते थे, जब वे प्रसाद बाटनेमें उदार देखे जाते। पौहारी बाबा तिन्नीके चावलके भातमें घी-साग-तरकारी आदि मिलाकर चूंचूंका मुरब्बा बांटते थे, कबीरपंथी महात्मा नारियल-गिरीके टुकड़े। पिताका अनुराग इन महात्माओंमें न था, किन्तु परमहंसजीके वे बड़े भक्त थे। बालदत्त और पिताजीके कारण मैं भी वहां आने-जाने लगा। शायद हरिकरणदाससे एकाध बार बात करनेका भी मौका लगा था, और मुझे साधु-जीवनकी ओर हल्कासा आकर्षण भी हुआ, किन्तु भविष्यके गर्भमें जो था, उसका अभी कोई आभास न दिखलाई पड़ता था।

परीक्षा देकर आनेके बाद दो सप्ताहसे ज्यादा घरपर नहीं रह सका। तबियत लग नही रही थी।

१२
दूसरी उड़ान

'सैर कर दुनियाकी गाफ़िल' का मंत्र चैन नहीं लेने दे रहा था। पहिली उड़ानके लिए धोखा गिरना और नानाकी डांटका डर भी कारण था, किन्तु अबकी

बारके लिए उसकी आवश्यकता न थी। रास्तेके लिए पैसेकी जरूरत होती है, यह तो मैं शैशवसे जानता था, जब कि सुना था कि नाना अपने पिताके रखे सौ रुपयोंको लेकर सुदूर दक्षिण-हैदराबादकी ओर चंपत हुए थे। मुझे अबकी बार एक या दो रुपये तथा रुपयोंकी मालावाला जेवर हाथ लगा। मालाको तो प्रश्नोत्तरके डरसे मैं नहीं बेच सका, और आठ महीने बाद उसे वैसा ही लौटा लाया, लेकिन रुपयोंने कलकत्ता पहुँचनेमें मदद दी। रेलका टिकट शायद मुगलसराय ही तक खरीदा जा सका, बाकी सफ़र टिकटके बिना ही तै हुआ। शायद रास्तेमें कोई टिकट-चेकर नहीं मिला। लिलुआमें कैसे जान बची, इसका भी स्मरण नहीं। दो साल पहलेके कलकत्ता आने और अबके आनेमें बहुत अन्तर था। अब मैं वह पुराना सीधा-सादा चौदह वर्षका गँवार लड़का न था, जिसकी अकल हवड़ाके मुसाफिर-खाने हीको देखकर खब्त हो जाती। मुझे पुरानी यात्राके तजरबेके अतिरिक्त यह भी मालूम था, कि मेरे मेहरबान पाठकजी कलकत्तामें मौजूद हैं।

पाठकजी अब भी अपनी उसी कोठरीमें रहते थे। अभी भी उनके लिए लक्ष्मी-की लहरका कहीं पता न था। हाँ, अपना खर्च किसी-न-किसी तरह चल जाता था। आजमगढ़में अभी कैरियाँ देखकर आया था, किन्तु यहाँ कलकत्तामें पके आम बिक रहे थे। उस वक्त पाठकजी ग्रेट ईस्टर्न होटलको चटनी-मुरब्बेके लिए आम देनेका ठीका लिये हुए थे। मुझे आनेके साथ ही काम मिल गया। बाजारमें आमोंको गिनवाने तथा होटलमें उन्हें सँभलवानेमें मैं भी उनकी सहायता करता था। आमोंका काम खतम हो जानेपर हवड़ामें रेलवेका कोई उच्च कर्मचारी पेंशन लेकर विलायत जा रहा था। पाठकजीने उसकी कोठीकी चीज़ें नीलाम ली थीं। पाठकजीके पास, वस्तुतः, उनके खरीदनेके लिए भी रुपया कहाँ था, रुपया किसी मारवाड़ी सेठका था, नफ़ेमें कमीशन पाठकजीको भी कुछ मिलनेवाला था। कोठीसे सामान लानेमें मुझे भी सहायता करनी पड़ी। उसी वक्त मुझे मालूम हुआ, अंग्रेजोंकी तरह रहनेमें कितने सामानकी आवश्यकता होती। दर्जनों तो कुर्सियां थीं। कांटे, छोटे-बड़े-चम्मच, प्याले, चायदानियाँ, प्लेटों, तश्तरियों और खाना परोसने तथा खानेके न जाने कितने बरतन थे। सूती-ऊनी कपड़ोंके थैलियाँ गूट थे। कुर्सी-मेज आदिके साथ एक मसालेका घर्र जमानेकी मशीन भी थी। सामान लदवाकर लाया गया। कुछ चीजें तो थोक ही बेच दी गईं, किन्तु कपड़ोंमें से कितनोंको पाठकजीने मेरे वास्ते फेरीके लिए छोड़ रखा। चन्द दिनों मैंने उन कपड़ोंकी फेरी भी की। कालेज स्क्वायरके जैसे मोड़के फुटपाथोंपर उन कोटों, कमीजों और पतलूनोंको टांग देता था, और फिर गाहकोंके आनेकी बाट जोहता था। गाहक मेरे पास शायद ही कभी आये। मैं समझता था, किसीमें भी हाथ-हाथकी बात होती है, किसीको मछली और आम मारनेमें अधिक सफलता मिलती

करते देख ऐसा ही मैं समझा करता था । मुझे उस वक्त खयाल नहीं आता था, कि जिन लोगोंके सामने मैं इन सूटों—अधिकांश जीनके—को फैलाये हुए हूँ, उनमेंसे एक भी तो, इनाम देनेपर भी उन्हें पहिनकर बाजारमें चार कदम चलनेके लिए तैयार नही हो सकता । हार मानकर फेरीका काम बन्द करना पड़ा ।

मारवाड़ी सेठोंके कामके लिए पाठकजीको साहेब लोगोंके पास अक्सर आना-जाना पड़ता था । हवड़ा स्टेशनके मालगोदामके सुपरिन्टेंडेन्ट या असिस्टेंट सुपरिन्टें-डेन्टसे उनका परिचय था । वह एंग्लो-इंडियन था । पाठकजीके कहनेपर उसने मार्कामैनका काम मुझे दे दिया । मुझे अभी काम सीखनेको मिला था, और मुफ्त भी वहा कितने ही बंगाली तरुण काम करते या करनेके लिए लालायित थे । उम्मी-दवारोंको भी रोज कुछ-न-कुछ आमदनी हो जाती थी, और नौकरी मिल जानेपर तो वह खासी आमदनीकी नौकरी समझी जाती थी । काम था बिल्टी देखकर सफेद या काली स्याहीसे मालपर भेजने और पानेवाले स्टेशनोंके संकेताक्षर तथा बिल्टीके नम्बरको अंग्रेजीमें लिख देना । इसके लिए बहुत ज्यादा अंग्रेजी जाननेकी जरूरत न थी । माल बहुत पड़ा रहता था, जब तक मार्का न पड़ जावे तब तक माल रवाना नही हो सकता था, इसीलिए हर एक माल भेजनेवाला मार्का बाबूकी भेंट-पूजाके लिए तैयार रहता था । मुझे छोड़ सभी मार्काबाबू बंगाली थे । वह पुराने और उम्रमें मुझसे बहुत बड़े थे । पैसा मिलनेवाला मार्का कभी मेरे पास नहीं आया । मुझे उस आमदनीकी उतनी चिन्ता भी न थी, क्योंकि भोजनके लिए मैं निश्चिन्त था । पाच-सात दिन बाद मालूम हुआ, मेरे नज़दीकी चचा जयमंगल भी उसी गोदाममें कुलीका काम करते हैं । वह कभी-कभी चीनीका शरबत पिलाते थे । जब लाखों मन चीनीको वहासे गुजरना था, तो शरबतका कौन दुःख ! एकाध फटे बोरे निकल आनेसे लखपती व्यापारियोंका दीवाला थोड़े ही निकलनेवाला था ।

दो-तीन सप्ताह बीतते-बीतते मेरा मन वहांसे ऊब गया । काम में अच्छी तरह करने लगा था, किन्तु वहां दिलबहलावके लिए कोई साथी न था । दूसरे बाबुओंसे भाषा-भेदके कारण भी शायद घनिष्ठता न पैदा हो सकती थी, लेकिन उससे भी अधिक कारण था उनका मेरे रहनेको भीतर ही भीतर नहीं पसन्द करना । साहेब-की ओरसे भेजे जानेके कारण वह मेरा कुछ कर नहीं सकते थे, किन्तु उनके अलग-थलगपनने खुद मेरे ऊपर असर डालना शुरू किया । यदि जीविका और रुपये कमानेकी फ़िक्र होती, तो उस एकान्तताको सह्य भी कर लेता, और कुछ महीने रहनेके बाद शायद कुछ दोस्त भी बन जाते, इस प्रकार हवड़ा मालगोदामकी मार्कामैनी अचल हो जाती; लेकिन क्या करूँ, स्वभावसे मजबूर था । काम छोड़-कर मैं चला आया, उसके बाद भी साहेबने पाठकजीसे मुझे भेजनेके लिए कहा, किन्तु मैं नही गया ।

पाठकजी मुरादाबादके रहनेवाले थे, यह कह चुका हूँ। उनकी और उनके शहरके कुछ दूसरे साथियोंकी बोली सुनकर मुझे पता लगा, कि किताबोंमें पढ़ी और माँके दूधके साथ बोली जानेवाली हिन्दीमें कितना अन्तर है। कह नहीं सकता, पहिलेके चार और अबकीके आठ मासके सहवासमें मैं भी पाठकजीकी-सी हिन्दी (या उर्दू कहिये) बोलने लगा था, किन्तु दोनोंके उच्चारण और मुहावरेकी बारी-कियोंको तो जरूर समझता था। पाठकजीके हाथमें था ही क्या, किन्तु पैसा होने-पर वह बहुत उदार हो जाते थे, साथियोंकी मदद करनेमें। मैं तो उनका पोष्य-पुत्रसा हो ही गया था, उनके शहरके एक व्यक्ति—जिनका नाम तो कुछ दूसरा था, किन्तु एक आँखके धनी होनेके कारण सब लोग उन्हें 'नवाब', 'नवाब' कहा करते थे—को कितनी ही बार वह सहारा देते थे। 'नवाब' साहेब दस-बारह बरससे कलकत्तामें रहते थे। कचालू फर्स्ट क्लासका बनाते थे। सवा रुपयेकी घुइयाँ, आलू, केला, अमरूद, नीबू, मसाला आदि चीजें लगती थीं। सवेरेसे दोपहर तक चीजोंको तैयार करनेमें लगता था। बारह बजे बाद नवाब साहेब अपना खोंचा लेकर निकल जाते तो शाम तक तीन-साढ़े तीन रुपये तो धरे हुए थे। डेढ़-दो रुपये रोज कमा लेना 'नवाब' के लिए बायें हाथका खेल था, लेकिन नवाब पूरे नवाब-मिजाज थे। रुपये हाथमें आते ही उन्हें काटने लगते थे। सट्टेके पीछे वे मरते थे। अफीम, चाँदी ही नहीं पानीका भी जुआ कलकत्तामें होता था। तुलापट्टीमें किसी मारवाड़ी सेठके छतका पनाला वह निकलता, और पानीके खेलमें पैसा लगानेवालोंके पौ बारह हो जाते। रुपया पास हो और नवाब सट्टेके बाड़ेमें न जावें, यह असम्भव बात थी। और फिर सट्टा करते उनको इसका भी ध्यान नहीं रहता था, कि खोंचेके लिए माल खरीदनेभर का पैसा तो बचा रखें। दस-पाँच दिन खोंचा लगाते, कुछ पैसे जमा होते, फिर मूलसहित सट्टेबाजीमें हार जाते। दो दिन चार-दिन भूखे पड़े हैं, मारे-मारे फिर रहे हैं, किसी साथीने सवा रुपयेका इन्तजाम कर दिया, और फिर खोंचा उन्होंने उठाया। दो-तीन हफ्ते बाद फिर वही रफ्तार-बेढंगी। पाठकजी नवाबकी बराबर फिक्र रखा करते थे। पैसा देकर मदद करनेसे ज्यादा फायदा न होते देख, एकाध बार तो वह नवाबको अपने यहाँ लिवा लाये। नवाब कोयलेके चूल्हेपर ऊपरवाली आग जैसी कोठरियामें कचालूका सामान तैयार करते। जीरा, धनिया और क्या-क्या मसाले भूनते और पीसते, जिनकी सुगन्ध बड़ी मीठी लगती। मुफ्तका और सो भी स्वादसे अधिक खानेको मिल जानेके कारण मुझे उस कचालूका वह मजा न आता था, जो कि पैसा गिन-गिनकर दोना-दोना लेकर खानेवालोंको। नवाबके एक और दोस्त थे, शायद नथुनिया चौबे। मछुआ बाजारमें उनकी मिठाईकी दूकान थी। मिठाई अच्छी बनाते थे, लेकिन जब सट्टेकी सनक चढ़ती, तो ओढ़ना-चादर सभी

पूंजी तक स्वाहा कर आते। खैरियत यही थी, कि उन्होंने एक रखेलिन रखी थी, और वह किसी तरह दूकानको बिलकुल उजड़ जानेसे बचा लेती थी।

नवाबके दोस्तोंमें मुरादाबादका ही एक ब्राह्मण नौजवान था। दोनों साथ ही कलकत्ता पहुँचे थे। वह देखने-बोलनेमें बंगाली मालूम होता था। बंगालका किसी भी जिलेका कोई मेला उससे छूटता नहीं था। कोई भी छोटी-मोटी चीज बेचकर उसीके सहारे वह अपने राह-खर्च निकाल लेता था। और वह चीज भी बाज वक्त उसका अपना आविष्कार होती। उस समय वह चार-चार पैसोंमें मोहिनी हार बेच रहा था। तांबेका चमकता पतला तार बाजारसे लेकर चरखेके तकुयेपर लपेटकर बाहरको खिसकाता जाता, फिर अपेक्षित लम्बाईका हो जानेपर तोड़कर तागा पिरो बांध देता, बस यही मोहिनी हार था। कुछ देरके लिए, और पसीना न लगे तो जाड़ोंमें पांच-सात दिनके लिए उसका रंग, सचमुच गिन्नीके सोने जैसा होता। उसके बनानेमें धेलेसे भी कम खर्च आता, फिर चार पैसे मे बेचनेमें उसको नफा ही था। वह जब घूमकर आता, तो पाठकजीके यहां जरूर आता, और उस वक्त अपनी ताजी यात्राओंका विवरण सुनाता।

मार्कामैनी छोडनेके बाद दो-तीन सप्ताहसे ज्यादा मैं बेकार नहीं रहा। इसके बाद बनारसके सुंघनी साहुकी कलकत्तावाली दूकानमें नौकरी मिल गई। 'प्रसाद' जीका खान्दान अपनी मशहूर बनारसी सुंघनीके लिए कितने ही सालोंसे 'सुंघनी साहु' के नामसे मशहूर है। उन्हींके चचा गिरिजाशंकर साहुने अपनी एक शाखा तुलापट्टीमें चितपुर रोडके नुक्कड़के पास खोली थी, दूकानका नाम उनके दो लड़कोंके नामपर भोलानाथ-अमरनाथ था। जिस वक्त मैं नौकर रखा गया, उस वक्त मालिकोंमेंसे कोई वहां नहीं था। मुझे काम मिला था, चिट्ठी-पत्री लिखना, तथा हफ्तावार जमाखर्चको उतारकर बनारस भेजना। वही-खाता लिखनेवाले एक अधेड़ मुंशीजी थे। दूकानपर एक रुपयेसे अस्सी रुपये सेरकी जहां सुंघनी बिकती थी, वहां कई तरहका जर्दा, किमाम और सुर्ती-गोलियां भी थी। इनके अलावा खमीरेकी खुशबूदार तम्बाकू वहांकी खास चीज थी। दूकानमें बेचनेके लिए तीन या चार और नौकर रहते थे। हिन्दी-उर्दू चिट्ठियोंके अलावा पाठकजीने एक अंग्रेजी चिट्ठीका मजमून लिख दिया था, जिसे यंत्रवत् कापी करके मैं रोज २५, ३० की तादादमें पुरानी डाइरेक्टरीसे पता देखकर भारतके भिन्न-भिन्न राजा-रईसोंके पास भेजा करता था। उस वक्त मेरा ध्यान तो जाना ही क्या, दूसरोंका भी ख्याल इधर नहीं गया, कि किसी नौसिखियासे चिट्ठी लिखवानेकी जगह पत्र ज्यादा प्रतिष्ठित और आकर्षक होता, यदि उसे अच्छे लेटर-पेपरपर छपवाकर भेजा जाता। तो भी सभी तीर खाली नहीं जाते थे। कुछ आर्डर आही जाते थे। कहीं-कहीं शिकायत आती थी, कि सुरती गोली और कान्

जहाँ पहिले कुछ दिनों तक खानेमें अच्छा रहता है, फिर स्वाद फीका पड़ जाता है। हम लोग जानते थे, कि जब तक अतरकी तरावट रहेगी, तब तक स्वाद बना रहेगा। पीछे हम मोटे कांचकी शीशियोंमें ठंडी जगह रखनेकी हिदायतके साथ भेजा करते थे।

कुछ ही दिनों बाद बूढ़े साहु गिरिजाशंकरजी भी आ गये। उनका रंग गेहुआँ, कद ठिगना और कुछ मोटा था। उमर ५५ के आस-पास होगी। उनके लिलारमें आंवलेके बराबरकी मंसविर्द (मांसवृद्धि) थी, जिसपर किसी चिकित्सक गुनीके परामर्शानुसार वह टिन्चर लगाया करते थे। घुटने तककी धोती, सिरपर सफ़ेद दुपल्लिया टोपी, बदनपर सफ़ेद चादरके अतिरिक्त एक लाल चारखानेकी अँगोछी भी कन्धेपे लटका करती थी। दोपहरके बाद साहुजी दूकानपर आते, सन्ध्या होते ही टहलने निकलते, और उस वक्त अक्सर मैं साथ रहता। टहलनेकी जगहें भी उनकी बहुत सीमित थीं। बहुत दूर गये तो बड़े डाकखाने तक। उनको दमेका रोग था। मुझे किसी तरह मालूम हो गया था, कि दमेका एक सिगरेट होता है। मैंने साहुजीको परामर्श दिया, और बी० के० पालके यहाँसे एक डिब्बा खरीदवा भी दिया। पीनेके साथ उससे आराम होता था। साहुजीकी दृष्टिमें मैं बड़ा होशियार और स्वामिभक्त नौकर जँचने लगा। टहलनेके बाद अक्सर वे अपने एक सम्बन्धी—जिनकी अफ़ीम चौरस्तेपर हलवाईकी दूकान थी—के घर चले जाया करते थे। वहीं शौच होते, कुछ बैठक और मुगदर भांजते, फिर दूकानपर आते। फिर दूकानके बगलके चबूतरेपर आसन लगाकर बैठ जाते, और बाजारसे खरीदकर उनके लिए भोजन आता। शामके भोजनपर बीस-चौबीस पैसे लगते—उसमें रबड़ी, दूध, मिठाइयां, पूड़ी और फल शामिल होते थे। हां, एक बात भूल गया, गिरिजाशंकर साहुकेलिए अठन्नी भर अफ़ीम हर शाम जरूरी थी।

नित्य नियमसे छुटकारा ले रातको नौ या दस बजे जब वह अपने वासस्थान पर जाते, तो मैं उनके साथ रहता। वासस्थानपर चितपुर रोडसे बहुत आगे जाकर छोटी-बड़ी सड़कोंसे होकर जाना पड़ता था। दूकान और वासा दोनों मकान किरायेके थे, किन्तु साहुने सारे मकानको मालिक-मकानसे किराये पर ले लिया था, और अपनी तरफसे किरायेपर लगा रखा था; इस तरह किरायेका बोझ उनके ऊपर बहुत हल्का पड़ता था। उनके किरायेदारोंमें एक रंडी भी थी, जो दूकानके कोठेपर रहा करती थी।

चितपुर रोडका वह हिस्सा, जो हमारे सामने गुजरता था, रंडियोंके कोठोंसे भरा था। अपने गुंडोंके लिये भी यह मुहल्ला बहुत मशहूर था। एक बार अँधेरा होते ही गुंडोंके दो दलोंमें मार हो गई। मारके वक्त पुलिसके सिपाहीका पता नहीं था। छूरे और लाठियां चल रही थीं। हम लोग अपनी दूकानसे देख रहे थे। मरा तो कोई नहीं, हां, घायल कई हुए। लड़ाई समाप्त होनेके बाद एक

गुंडा हमारे साथियोंमेंसे एक–जो उसीके हमजिन्स मालूम होते थे–से कह रहा था, 'गुरु, क्या कहते हो, आदमी हों तब न लड़ें। सालेने न जाने कहांसे देव मँगाये थे।' दोनों तड़ोंमें एकका सरदार मुसलमान था, और दूसरेका एक अहीर। था मुसलमान सरदार–लेकिन उसके दलमें हिन्दू भी शामिल थे, उसने कई बार अहीरके दलको पीट भगाया था, इसीलिए अबकी बार उसने मिर्जापुर-अकोलीके लड़ाके बुला मँगवाये थे।

एक दिन टहलते वक्त साहुकी नजर माजूनकी बर्फियोंपर पड़ी। उन्होंने खरीदकर खुद खाया, और एक टुकड़ा मुझे भी दिया। मुझे वह कलाकन्दकी खुशबूदार बर्फी बहुत मीठी लगी, और जरासे टुकड़ेपर कनायत करनेके लिए मन तैयार नही हुआ। साहु जब थोड़ी दूरपर किसी परिचितसे बात कर रहे थे, मैंने जा एक या दो पूरी बर्फी खरीदकर खा ली। भाँगका नशा जोर करने लगा। खैर किसी तरह मैंने साहुजीको उनके बासेपर पहुँचाया। लौटते बक्त मेरा तालू सूखा जा रहा था। उसी बक्त कोई कुल्फ़ीका बर्फ़ बेचनेवाला आ गया। मैंने एक कुल्फ़ी खाई, दो खाई, लेकिन तालूका सूखना अब भी बन्द न हुआ। आखिर उसकी हँडियामें जितनी कुल्फ़ियाँ थी, उनको खाकर मै अपने बासस्थानकी ओर चला।

इसके बाद मुझे एक बारकी जरासी क्षीण स्मृति है, कुछ आदमी मुझे उठाकर सीढीके रास्ते उतार रहे हैं। एकाध युगके बाद मालूम हुआ, मैं किसी स्वप्न-जगत् में आ गया हूँ। कोई अच्छा साफ हवादार कमरा है, जिसमें छतसे लटकते सुन्दर बिजली के लेम्प जल रहे हैं। छतसे लटकते अनेक पंखे मद्धिम चालसे चल रहे हैं। दरवाजेमें शीशे जड़े हैं, दीवारें कपूर जैसी सफेद हैं। मुझसे दूर कमरेके बीचमें किन्तु एक सिरेके पास एक मेज है, जिसके पास दो-तीन कुर्सियां हैं, उनमेंसे एकपर एक स्वर्णकेशी महाश्वेता अप्सरा शिरमें सफेदसी कोई रूमाल या क्या लपेटे चुपचाप बैठी है। मुझे वह स्वप्न अच्छा लगा, लेकिन ठोसपनका भाव होते ही जिज्ञासायें तरंगित होने लगी। उसके बाद फिर मानो स्वप्न गम्भीर निद्रामें परिणत हो गया।

दूसरे दिन वह चीजें स्वप्नकी नही ठोस जगत्‌की दिखलाई पड़ीं और मुझे मालूम हुआ, कि मै मेडिकल कॉलेज अस्पतालमें हूँ। मेरी पंक्ति और सामनेकी पंक्तिमें कई और चारपाइयां है, जिनमें मरीज लेटे हैं। कुछ दिन चढ़े मेरी चारपाई के गिर्द कनात घेरी गई। एक एंग्लो-इंडियन नर्सने अस्फंज और साबुनसे शरीरके कुछ भागको धोया, पाउडर लगाया। मेरी आंख खुली और मुझे होशमें देखकर वह मुस्कराकर बोली–'बाबू, अच्छा हो जावेगा।'

शामको पाठकजीके आनेपर मालूम हुआ, मैं उस रात घरपर पहुँचते-पहुँचते बेसुध हो गया, और उसके बाद दस्तपर दस्त होने लगे। सबेरे बेहोशीकी हालतमें

ही मेडिकल कालेज अस्पतालमें पहुँचाया गया। मुझे याद नहीं, कितने दिन बाद मुझे होश आया। मेरे बचनेकी आशा लोग छोड़ चुके थे। कुछ देर बाद भाई गिरिजाशंकर भी आये। उसके बादसे पाठकजी तो रोज, और भाईजी हर दूसरे-तीसरे दिन देखने आते थे।

नर्सें वहां सभी एंग्लो-इंडियन थीं। बेहोशीमें जो दवा-दारू पीते रहे वह तो था ही, अब होश-चेतमें भी वह दूध, और पीछे दूध और पावरोटी खिलाने लगीं। पाठकजीने रास्ता पहिले दिखला दिया था, इसलिए यहां उसका कोई सवाल ही नहीं था। नर्सोंमें एकसे मुझसे धीरे-धीरे अधिक घनिष्टता हो गई थी; जिससे अस्पताल छोड़ते वक्त जरासा अफसोस भी मालूम हुआ।

मेरी बगलमें एक चीनी बीमार था। उसको तस्तरीमें छुरी-काटेसे अंग्रेजी खाने खाते देख मेरी भी जीभ लुटपुटाने लगी, लेकिन डाक्टरने अभी भारी खाना मना कर दिया था। खाने लायक होनेपर छुरी-कांटा ख्यालसे उतर गया, और उसकी जगह अस्पतालके ब्राह्मण रसोइया मछली भात दे जाया करने। दो हफ्ता या अधिक अस्पतालमें रहनेके बाद मैं वहांसे चला आया।

शरीरमें जरा बल आनेपर घर याद आने लगा, और अक्तूबर या नवम्बरके महीनेमें कनैला चला आया। चले आनेके लिए मुफलीसाहबकी कई चिट्ठियां आईं, लेकिन अब तो मैं दूसरे रास्तेपर लुढ़क रहा था।

द्वितीय खंड

तारुण्य

१

वैराग्यका भूत

कनैला पहुँचनेपर नाना भी यही मिले । वह पन्दहासे पत्थरका कोल्हू लेकर चले आये थे । उन्हें मेरी बहुत चिन्ता थी । किन्तु वह कहा करते थे–"छ महीनेका कुत्ता बारह बरसका पुत्ता । हुआ सो हुआ गया सो गया ।" और मैं तो सत्रहवें बरसमें था । मुझे यह देखकर अफसोस होता था, कि नानाको कनैलाका रहना उतना अनुकूल नही मालूम होता । खाने-पीनेमें उनकी वह स्वच्छन्दता नही रही; साथ ही वह अनुभव करते थे कि उन्हें लड़कीकी ससुरालमें जिन्दगीका अन्तिम भाग बिताना पड रहा है,–जिसके ग्रामकी सीमामें धर्मभीरु पिता पानी तक नहीं पीता ।

कलकत्ताके लिए रवाना होनेसे पहिले परमहंसजीके दर्शनोने मनमें कुछ भाव पैदा किये थे, जो अब तक सुप्त थे, लेकिन अब वे जागृत होने लगे । मैं फिर परमहंस बाबाकी कुटीपर जाने लगा । वह तो मुझे क्या किसीको उपदेश दिया नही करते थे, महादेव पंडित जैसे विद्वान् भी जाते तो शायद उपनिषद्का कोई वाक्य उनके मुंहसे निकल आया तो निकल आया, नही तो जो ही बात जबानपर आई बच्चोंकी तरह दुहराते गये । हा, हरिकरणदासने ज्ञान फूकना शुरू किया । वह संस्कृत नही जानते थे, हिन्दी भी तेरह-बाईस ही, किन्तु बराबर लगे रहनेसे विचारसागर, विचार-चन्द्रोदय, अष्टावक्रगीता-हिन्दीटीका जैसे ग्रथोको पढते और बहुत कुछ समझ लेते थे । मैं भी उनके पास बैठकर उन ग्रथोंको पढता, और उनसे वार्तालाप करता । धीरे-धीरे मेरी "आंखोंका पट्टर" खुलने लगा, "एकश्लोकेन वक्ष्यामि, यदुक्तं ग्रन्थ-कोटिभिः । ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः ।" मुझे कण्ठस्थ हो गया । उसी वक्तके याद हुए श्लोकोंमें है–

"तावद् गर्जन्ति शास्त्राणि जम्बुका विपिने यथा ।
न गर्जति महाशक्तिर्यावद् वेदान्तकेसरी ॥"

वेदान्तकी हिन्दी पुस्तके समाप्त हो गईं । हरिकरण बाबाने बतलाया, कि

ही मेडिकल कालेज अस्पतालमें पहुँचाया गया। मुझे याद नहीं, कितने दिन बाद मुझे होश आया। मेरे बचनेकी आशा लोग छोड़ चुके थे। कुछ देर बाद साहु गिरिजाशंकर भी आये। उनके बादसे पाठकजी तो रोज, और साहुजी हर दूसरे-तीसरे दिन देखने आते थे।

नर्सें वहां सभी एंग्लो-इंडियन थीं। बेहोशीमें जो दवा-दारू पीते रहे वह तो था ही, अब होश-चेतमें भी वह दूध, और पीछे दूध और पावरोटी खिलाने लगीं। पाठकजीने रास्ता पहिले दिखला दिया था, इसलिए वहां उसका कोई सवाल ही नहीं था। नर्सोंमें एकसे मुझसे धीरे-धीरे अधिक घनिष्टता हो गई थी, जिससे अस्पताल छोड़ते वक्त जरासा अफ़सोस भी मालूम हुआ।

मेरी बगलमें एक चीनी बीमार था। उसको तश्तरीमें छुरी-कांटेसे अंग्रेजी खाने खाते देख मेरी भी जीभ लुटपुटाने लगी, लेकिन डाक्टरने अभी भारी खाना मना कर दिया था। खाने लायक होनेपर छुरी-कांटा ख्यालसे उतर गया, और उसकी जगह अस्पतालके ब्राह्मण रसोइया मछली भात दे जाया करते। दो हफ्ता या अधिक अस्पतालमें रहनेके बाद मैं वहांसे चला आया।

शरीरमें जरा बल आनेपर घर याद आने लगा, और अक्तूबर या नवम्बरके महीनेमें कनैला चला आया। चले आनेके लिए गुपनीसाहुकी कई चिट्ठियां आईं, लेकिन अब तो मैं दूसरे रास्तेपर लुढ़क रहा था।

द्वितीय खंड

तारुण्य

१

वैराग्यका भूत

कनैला पहुँचनेपर नाना भी यही मिले। वह पन्दहासे पत्थरका कोल्हू लेकर चले आये थे। उन्हें मेरी बहुत चिन्ता थी। किन्तु वह कहा करते थे–"छ महीने-का कुत्ता बारह बरसका पुत्ता। हुआ सो हुआ गया सो गया।" और मै तो सत्रहवे बरसमें था। मुझे यह देखकर अफ़सोस होता था, कि नानाको कनैलाका रहना उतना अनुकूल नही मालूम होता। खाने-पीनेमे उनकी वह स्वच्छन्दता नहीं रही; साथ ही वह अनुभव करते थे कि उन्हें लड़कीकी ससुरालमें जिन्दगीका अन्तिम भाग बिताना पड रहा है,–जिसके ग्रामकी सीमामें धर्मभीरु पिता पानी तक नहीं पीता।

कलकत्ताके लिए रवाना होनेसे पहिले परमहंसजीके दर्शनोंने मनमें कुछ भाव पैदा किये थे, जो अब तक सुप्त थे, लेकिन अब वे जागृत होने लगे। मै फिर परमहंस बाबाकी कुटीपर जाने लगा। वह तो मुझे क्या किसीको उपदेश दिया नही करते थे, महादेव पंडित जैसे विद्वान् भी जाते तो शायद उपनिषद्का कोई वाक्य उनके मुंहमे निकल आया तो निकल आया, नहीं तो जो ही बात जबानपर आई बच्चोंकी तरह दुहराते गये। हां, हरिकरणदासने ज्ञान फूकना शुरू किया। वह संस्कृत नही जानते थे, हिन्दी भी तेरह-बाईस ही, किन्तु बराबर लगे रहनेसे विचारसागर, विचार-चन्द्रोदय, अष्टावक्रगीता-हिन्दीटीका जैसे ग्रंथोको पढते और बहुत कुछ समझ लेते थे। मैं भी उनके पास बैठकर उन ग्रंथोंको पढता, और उनसे वार्तालाप करता। धीरे-धीरे मेरी "आखोंका पट्टर" खुलने लगा, "एकश्लोकेन वक्ष्यामि, यदुक्तं ग्रन्थ-कोटिभिः। ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः।" मुझे कण्ठस्थ हो गया। उसी वक्तके याद हुए श्लोकोंमें है–

> "तावद् गर्जन्ति शास्त्राणि जम्बुका विपिने यथा।
> न गर्जति महाशक्तिर्यावद् वेदान्तकेसरी॥"

वेदान्तकी हिन्दी पुस्तकें समाप्त हो गई। हरिकरण बाबाने बतलाया, कि

और ग्रंथोंके पढ़नेके लिए तुम्हें संस्कृत पढ़ना चाहिए; उनका यह विचार मेरे मनमें घर कर गया। मैंने घरवालोंके सामने अपना विचार प्रकट किया। पिता और नाना अब भी अंग्रेजी पढ़ानेके पक्षमें थे, अभी भी मेरे सम्बन्धकी पुरानी वासना उनकी छूटी न थी। दूसरे इधर कुछ महीनोंके मेरे चाल-व्यवहारने उन्हें और शंकित कर दिया था। मैंने सन्ध्या सीख ली थी, दिनमें तीन बार नहाकर सन्ध्या करता। कुशकी आसनी बराबर साथ रहती। सिर्फ एक वक्त सो भी अपने हाथसे बनाकर भोजन करता। धार्मिक पुस्तकोंके पढ़ने या परमहंस बाबाके दर्शन तथा हरिकरण बाबाके सत्संगमें समय बिताता। हँसी-मजाककी तो बात क्या किसीसे बात-चीत करना भी मुझे पसन्द न था। इन बातोंको देखकर घरके लोग बड़े चिन्तातुर थे, संस्कृत पढ़नेका मतलब वे समझते थे, वैराग्यके बिरवेमें पानी सींचना। बछवल बीच-बीचमें मैं जाया करता था, वहां यागेश और पुराने मित्र तथा कालिकादास एक साधु, मेरे विचारोंसे कुछ सहानुभूति दिखलाते थे। मैंने फूफाजीसे संस्कृत पढ़नेका आग्रह किया, किन्तु उन्हें घरवालोंका मनोभाव मालूम था, वह आनाकानी करने लगे। पीछे बहुत पीछे पड़नेपर उन्होंने कहा—संस्कृत पढ़नेको मैं तो हानि-कारक नहीं समझता, किन्तु तुम्हारे घरके लोग नहीं चाहते, अच्छा हो, तुम बनारसमें पढ़ो, मैं अमुक दिन वहां जा रहा हूँ, साथ लिवाते चलूंगा, और अपने एक सहपाठी पंडितको सुपुर्द कर आऊँगा। मुझे उनकी राय बहुत पसन्द आई।

निश्चित दिनसे एक दिन पहिले मैं बछवल पहुँच गया। लेकिन, दूसरे दिन प्रस्थानवेलासे पहिले ही मैंने नन्हा साहेब (प्रताप पांडे) को वहां पहुँचा देखा। उन्होंने फूफाजीको पिताजी, नानाजीकी राय तथा मेरे उग्र वैराग्यकी बात बतलाकर कहा कि उसे बनारस न ले जायें, बल्कि समझावें कि आजमगढ़में नाम लिखाकर अंग्रेजी पढ़े। फूफाजी उनकी बातसे सहमत हुए, और मेरे दिलको बड़ा धक्का लगा, जब कि उन्होंने अपना निर्णय सुनाया।

मेरी वृत्तियां इस वक्त अन्तर्मुखीन थीं। वेदान्त और धर्म सम्बन्धी पुस्तकोंका स्वाध्याय तथा सत्संग बस यही काम था। खानेके समय—जो कि दिनमें सिर्फ एक बारका था—को छोड़ बाकी वक्त परमहंस बाबाकी कुटीपर ही गुजरता था। पुस्तकोंका बड़ा अकाल था। मेरे घरमें पहिले तो पढ़ने-लिखनेका रवाज न था, पिताजीकी जमा की हुई विनयपत्रिका और रामायण थे, जिनसे, वेदान्ती होनेके कारण मेरा उतना अनुराग न था। एक दिन घरके भीतर घूमते एक पुरानी पिटारी-में कुछ पुरानी पुस्तकें मिलीं। मालूम हुआ यह हमारे निनाके फूफाकी पुस्तकें हैं। किन्तु उनमें ज्यादातर फलितज्योतिषकी छोटी-मोटी पुस्तकें, दुर्गासप्तशती तथा एकाध स्तोत्र पाठ थे। उनमेंसे दारिद्र्य-स्तोत्रका बहुत दिनों तक मैं पाठ करता रहा। चाणक्यनीति और भर्तृहरि वैराग्यशतक कुछ दिनके लिए हाथ लगे थे, मैंने श्लोकों

को एक कापीपर लिख डाला, और भापाटीकाके सहारे कितनोंके अर्थोंको भी समझ डाला ।

हरिकरण बाबा दो ही तीन साल पहिले बदरीनाथ हो आये थे । वैराग्य और अरण्यवासकी बात रोज चलती ही थी । एक दिन उन्होंने अपनी बदरीनाथयात्राका वर्णन किया । ऊँचे-ऊँचे पहाड़, हरे-हरे देवदार, सफ़ेद-सफ़ेद वर्फ़, ठंडे पानीके चश्मे तो आकर्षक मालूम हुए ही, क्योंकि वे मेरी पर्यटनकी सतत-उपस्थित लालसाको जगाते थे; किन्तु, सबसे अधिक खिंचाव जिस बातने किया, वह थी एक बालरूपी योगीकी, जिनके दर्शन हरिकरण बाबाको देवप्रयागके आगेके पहाड़ोंमें किसी निर्जन स्थानपर पहाड़से उतरकर आते वक्त हुए थे । वह बतला रहे थे—महापुरुषका शान्त स्वरूप, दिव्य ललाट, छोटी-छोटी पिंगल जटायें थीं । जान पड़ता था कोई दूसरे ध्रुव हैं । उनके पास एक कमंडलू, एक मृगचर्म और एक लँगोटीके सिवा और कुछ न था । वह जरा देरके लिए बैठ गये । उनके मुहसे वेदान्तवाक्य फूलकी तरह झड़ते थे । उनके कमडलूमें मुठिया तालेकी तरहकी एक गोल चीज थी, उन्होंने किनारेपर जरा हाथ लगाया, कि डेढ़ हाथ लम्बी चमकती तलवार लपलपाने लगी । तलवारका हमारे वैराग्य और वेदान्तप्रसंगसे कोई खास सम्बन्ध न था, किन्तु उस वक्त मुझे वह बात अप्रासंगिक नही मालूम हुई ।

होलीमें मैं मुहर्रमी सूरत ही लिये फिरा । चैतका महीना (१९१० ई०) आ गया । सर्दी खतम हुई । थोड़ेसे कपड़ेमें भी अब गुजारा हो सकता था । हाल हीमें सुनी बदरीनाथकी यात्रा और हरिकरण बाबाके 'तपस्वी ध्रुव'की कथाने मुझे रास्ता दिखला दिया था । मैं सोच रहा था, अंग्रेजी—म्लेच्छ भाषा मुझे पढ़नी नहीं है, संस्कृत पढ़नेकेलिए बछवल और बनारसका रास्ता बंद है, फिर कहां जाया जाय । आखिर एक दिन मैंने हरिकरण बाबासे उत्तराखंडकी ओर जानेका अपना इरादा प्रकट किया, उन्होंने उसका समर्थन किया, कालिकादासकी भी वही राय हुई । यागेशको मेरे वैराग्य और वेदान्तसे कोई वास्ता नही था, उनका मुझसे प्रेम था, और देशाटन उनके लिए भी थोडी-बहुत आकर्षक चीज थी ।

उसी वैराग्यकी आंधीके जमानेमें एक दिन मेरे उस्ताद मौलवी गुलामगौसखाँ अपने घरसे हनगरसे कनैला आये । अब वह बुढ़ापेके कारण नौकरीसे अलग हो गये थे । घरवालोंकी शिकायतोंको सुनकर उन्होंने मुझे अपने कर्त्तव्यपर समन देना शुरू किया । शिष्टाचारके नाते ही मैं उसे बर्दाश्त कर सका, नहीं तो वैराग्य और वेदान्तका पारा जितना चढ़ा हुआ था, उसमें उनकी सारी बातें मुझे हेच और असह्य मालूम होती थी । मौलवी साहेब मेरे मिडल पासके सर्टीफिकेटको लेकर देने आये थे, जिसमें दो एक रुपयोंके मिलनेकी आशा थी, और वह उन्हें मिले भी ।

इधर महीने भरसे बीच-बीचमें मैं दो एक दिनके लिए परमहंस बाबाकी कुटिया

—अर्थात् हरिकरण बाबाकी कुटिया—या बछवलमें रह भी जाता था, जिससे लोग घरसे एकाध दिनकी अनुपस्थितिमें घबराते नहीं थे। कनैलामें पहिले-पहिल अबकी साल प्लेग आया था। गांव भरके लोग झोंपड़ियोंमें निकले हुए थे, और मौतकी शंकासे भयभीत थे, किन्तु मुझे उसका हर्ष-विस्मय न था। रोजकी तरह एक दिन फिर मैं दक्षिणकी तरफ़ परमहंस बाबाकी कुटीकी ओर चला। बदनपर एक धोती, एक कोट और गमछा, बगलमें अपने हाथकी बुनी कुशकी आसनी थी। घरवालोंने समझा कोई न्यारा बात नहीं है। उसी शामको मैं बछवल चला गया। बछवलमें फूफाके घर नहीं, बल्कि कुटीपर कालिकादासके पास। वहीं रातको यागेश आ गये। फूफाजीके विद्यार्थी अक्सर कुटीपर आया करते थे, मालूम नहीं कैसे मैंने उनकी नजर पड़नेसे अपनेको बचाया। मैंने दोनों जनोंसे अपना संकल्प प्रकट किया। दोनोंने प्रोत्साहन दिया। पहिली दो उड़ानोंमें पास रुपयेके थे, उनके बिना मैं अपनेको पंगु समझता था, किन्तु अबके वैराग्यका संबल साथमें था। हर वक्त यह श्लोकार्ध जिह्वापर था—"का चिन्ता मम जीवने यदि हरिविश्वम्भरो गीयते।" पानीके लिए मेरे पास कोई बरतन नहीं था, कालिकादासने अपना गया सुन्दर लौकीका छोटासा कमंडलू दे दिया। सबेरे अंधेरा रहते ही जब मैं चलने लगा, तो सिर्फ़ आधपाव गुड़की डली भर साथ ले जानेको मैं तैयार हुआ। साथमें संबल लेकर चलना, मुझे अपने वैराग्यके साथ परिहास करनासा मालूम होता था।

मैंने पैदल ही अयोध्या होते हरद्वार जानेका इरादा किया था, मेरा इरादा तुरन्त साधु बननेका न था, और न तुरन्त योगमें लग जाना ही चाहता था। मैंने तै किया था, पहिले संस्कृत और वेदान्तके ग्रंथोंको खूब पढ़ूंगा, उसके बाद सन्यासी हो जाऊँगा। ९, १० बज रहे थे, जब मैं सिपारीका पुल (टौंसपर, आजमगढ़के पास) पार कर रहा था। देखा, पुलके नीचे नदीके किनारे बैठे मेरे सिंहिहरावाले नाना (प्रताप चचाके ससुर) दातुवन कर रहे हैं। मैंने खुदाका हजार शुक्र किया, जो यह पुल या सड़कपर नहीं मिले, नहीं तो 'कहां'का जवाब देना मेरे लिए आसान न था। और वह जा रहे थे पनैलाको ही। वह बहुत बूढ़े थे, पुलपर आते देखकर मुझे पहिचान नहीं सकते थे। आजमगढ़ शहरसे मैं सीधे गुजर गया। चैत्र शुक्ला अष्टमी थी, गर्मी काफी थी, इसलिए सड़कपर किसी बाग या कूएपर थोड़ी देरके लिए विश्राम मैंने जरूर किया। आधपाव गुड़ खाकर, सो भी चौबीस घंटेके निराहारके बाद, पैदल मंजिल तै करना, फिर भूख क्यों न लगे? सड़कके किनारेवाले दरख्तोंपर पकी गूलरें थीं, उनसे दोपहरके भोजनका काम चल गया।

घंटा भर दिन रह गया था, जब मैं मंदुरीके पोखरेपर पहुँचा। यह वही पोखरा था, जहां चार साल पहिले मैं छात्रवृत्तिकी प्रतियोगिताका इम्तिहान देने आया था। उस वक्त यहीं डिप्टी लोगोंके तम्बुओं, विद्यार्थियों, अध्यापकों और अभिभावकोंकी

भीड़के कारण मेला लगा हुआ था, आज वहां सिर्फ़ वही विशाल पक्का पोखरा, और घना बाग था। घने बागके अँधेरेमें पहुँचनेपर मेरे मनमें कुछ चंचलता, कुछ टीससी उठने लगी। मैं पोखरेपर थोड़ी देरके लिए बैठ गया। दिनभरकी भूख और गूलरके फीके फल याद आने लगे। सिरपर आ पहुँची रात और अपरिचित स्थानका चित्र नजरोंके सामने खिंचने लगा। मनने धमकाना शुरू किया—बेपैसे-कौड़ी, बेगाने देशमें इस तरह पैदल घूमना हँसी-ठट्ठेकी बात नहीं है। वैराग्यने कुछ कहना चाहा, किन्तु उसे यह कहकर दबा दिया—'फिर, क्यों नही हवा-पानी पीकर रहे, क्यों गूलरोंपर ढेले फेंके?' मनने ठंडे दिलसे समझाया—'भितिहरा यहीं कहीं पास हीमें है, चले चलो, अब भी कुछ बिगडा नही है।' वैराग्यकी तरफ़से—'भितिहरा कभी नही गये'—उज्र पेश करनेपर, यह कहकर चुप कर दिया गया—'सगे चचाकी ससुराल है। नाना नही है, किन्तु मामा तो परिचित हैं ही।'

दिनभरकी आपबीतीका काफ़ी असर पड़ चुका था, इसलिए भितिहरा जानेवाली सलाह मुझे माननी पड़ी। भितिहरा वहांसे मील-डेढ़ मील रहा होगा। रब्बीकी फ़सल कट गई थी, जगह-जगह खलियानोंमें लोग थे, उनसे पूछते मामाके घर पहुँचनेमें दिक्कत नहीं हुई। मामाके गावके पहिले एक छोटासा पोखरा मिला, वहाँ पहुँचनेपर मेरा ध्यान अपने कमंडलूकी ओर गया। कमंडलूके साथ मामाके यहां जाना—बैठे-बिठलाये आफत मोल लेनी थी। अभी भी वैराग्यको अन्तिम उत्तर नहीं दिया गया था, मेंदुरी पोखरेका निर्णय अस्थायी था। अन्तिम निर्णयको रामनवमीके दिन और भितिहराके बासपर छोड़ा गया था। मैंने पासके पोखरेमें कमंडलूको इस खयालसे डाल दिया, कि जरूरत पड़नेपर उसे फिर ले सकूंगा।

मामाने मेरे आनेपर बड़ी प्रसन्नता प्रकट की। थोड़ी ही देरमें घरसा हो गया। घरमें मामी और मामा दो व्यक्ति थे, नाना कनैला गये थे। कहाँ और कैसेका सवाल नही हो सकता था, क्योंकि मामाके यहा आना भी तो एक जरूरी कर्त्तव्य था। दूसरे दिन रामनवमी थी। साधारण हिन्दू गृहस्थके यहां भी उस दिन पूड़ी, हलवा बनता है। स्वयंपाकी और दूसरे खट्‌रागको छोड़कर मैंने मामीके हाथके भोजनको स्वीकार किया।

भोजन और विश्रामने वैराग्यको फिर शक्ति प्रदान कर दी, और रातको ही मैंने निश्चय कर लिया—'यात्रा जारी रखनी होगी।' दूसरे दिन गप-शपके साथ मामासे पटसन मांगकर सीखनेके बहाने मैंने रस्सी बटनी शुरू की, क्योंकि रास्तेमें कमंडलूके साथ रस्सीकी भी जरूरत पड़ती। मामा मेरे ऊट-पटाग बटनेको देखकर हँसते, और खुद बँट देनेका प्रस्ताव करते थे, किन्तु मैं सीखनेके बहाने उसे टाल देता। शामको मैंने कह दिया था, कि कल मैं घर लौटना चाहता हूँ।

मेरा सत्रहवा वर्ष पूरा हो रहा था, और मैं अब बच्चा न था, तो भी सवेरे चलते

वक्त मामाने एक आदमी साथ कर दिया। उन्हें मेरी गतिविधिपर कुछ सन्देह हो गया था। पाथेयके लिए गुड़मिश्रित सत्तू और भूंजा था। मामा पहुँचानेके लिए आये, बहुत आग्रह करके मैंने गांवके बाहरसे ही उन्हें लौटा दिया। अब मुझे साथवाले आदमीसे पिंड छुड़ाना था। १७, १८ मील दूर बेगारमें कनैला जाना उसके लिए भी कोई शौककी चीज न थी, जब मैंने उसके सामने लौट जानेका प्रस्ताव किया, तो वह तुरन्त मान गया। मैंने खुशीमें पाथेयमेंसे थोड़ासा सत्तू रखकर बाकी उसीको दे दिया। पोखरेमें आकर देखा, तो वहां कमंडलू कहीं तैरता नहीं दिखलाई पड़ा। चारों तरफ घूमकर एक-एक कोनेको छान डाला, किन्तु वहां कमंडलू हो तब न दिखाई दे। मैंने सोचा था, कमंडलू साधुओंकी चीज है, इसे चोर-चहरी कोई भी नहीं पूछता; लेकिन मुझे लड़कोंका खयाल नहीं आया, जिनके लिए लौकीका कमंडलू फुटबाल या निशानेका काम दे सकता है। मैं पछताने लगा—क्यों नहीं कीचड़में दबा दिया। अब दिन भरकी मेहनतसे बटी रस्सी भी बेकार थी, किन्तु रस्सीको मैंने फेंका नहीं।

मैं फिर पश्चिमकी ओर मुड़ा, और फिर आजमगढ़से अयोध्या (फैजाबाद) वाली पक्की सड़कपर आ गया। दोपहरको स्नान और सन्ध्याकी जरूरत पड़ी। सड़कके किनारे एक स्कूल दिखलाई पड़ा। मास्टरसे लोटा-डोर लेकर स्नान किया। एक धोतीमें नहाते नहीं बनता था, इसलिए उसे फाड़कर दो लुंगियां बना लीं। सत्तू खाकर फिर चला। अब तो अयोध्यामें रामनवमी करनेकी आशा न थी, इसलिए बड़ी मंजिल मारनेकी चालसे नहीं चल रहा था। दोपहरकी गर्मीमें सुस्ताता और सहयात्रीके अभावमें अपने ही मनसे बात-चीत करता चलता रहा।

सूर्यास्तको आते देख रातको ठहरनेका इन्तजाम करना जरूरी था, और उससे भी जरूरी था लोटा-डोर मांगकर स्नान-सन्ध्या करना। सड़कके पास एक छोटासा गांव था, एकाध ही घरके बाद एक कुआं था, जहांपर कुछ स्त्रियां पानी भर रही थीं। उनके घांघरे और ओढ़नीको देखकर मुझे मालूम हो गया, कि मैं अब फैजाबाद जिलेमें हूँ। पासके घरसे लोटा-घड़ा मिलनेमें दिक्कत नहीं हुई। स्नानके बाद कुशासनीपर बैठ मैं सन्ध्या करने लगा, कुछ कंठस्थ स्तोत्रोंका पाठ भी हुआ। फिर कूएंसे जरासा हटकर आसनी बिछा निश्चिन्त बैठ गया। धीरे-धीरे पश्चिमके सूर्यकी लाली अँधेरेकी कालिमामें परिणत होने लगी। पानी भरनेवाली स्त्रियोंमेंसे कुछ मुझे गौरसे देख रही थीं। मेरी आयु, मेरी शकल-सूरत, मेरी पूजा-प्रार्थना सभी अपनी ओर ध्यान आकर्षित करनेकी चीजें थीं। दो स्त्रियोंने आकर घर-द्वार कहां जा रहे हो पूछा; फिर कहा—भोजन नहीं बनाओगे? मैंने तय किया था,—जिसे नहीं बताना चाहता वैसी बातको न बताऊँगा, किन्तु जो बात कहूँगा सच्ची-सच्ची कहूँगा। जब उन्होंने देखा कि मेरे पास न खानेका सामान है और न बरतन-ढँगन।

तीन-चार औरतें अपने घरसे आटा-दाल-नमक, कंडा-हँडिया ले आईं। कंडाका 'अहरा' बनाना मैं जानता नही था, इसलिए एक स्त्रीने उसे बना दिया। आग सुलगनेपर मैंने चावल-आटा-नमक इकट्ठा ही हँडियामें डाल दिया। उन्हें आश्चर्य हुआ। मैंने यह कहकर समाधान कर दिया, कि आखिर पेटमें जाकर तो सब एक हो ही जावेंगे। अधिक आया हुआ सामान डलियोंमें पड़ा था। उन्होंने उसे बांध लेनेके लिए कहा। मैंने कहा—"मैं सामान बांधता नही।"

"कल काम आवेगा।"

"आज क्या मैं यहाँ बांधकर लाया था।"

जहां तक मुझे याद है, स्त्रियोंके अतिरिक्त किसी पुरुषसे वहां मेरी बात-चीत नही हुई। मालूम होता है "किसी मां-बापके कोमल तरुण लड़के"को देखकर स्त्रियोंके चित्तमें करुणा उमड़ आई थी।

दूसरे दिन भिनसारे ही सड़कसे यात्रियोंके चलनेकी आवाज आने लगी। लोग अयोध्यासे रामनवमीका मेला करके लौट रहे थे। रातकी 'विश्वम्भरकी कृपा' देख वैराग्यके गल्बेने और जोर पकड़ा। मालूम होता था, पहिला किला फ़तह कर लिया। मालूम नहीं उसके बाद कितने दिनोंमें अयोध्या पहुँचा। कैसे खाता-पीता रहा इसका भी स्मरण जाता रहा। एक दिन दोपहरको एक गांवमें गया। वहां कूएंपर दो आदमी ढेकली चला रहे थे। स्नान-सन्ध्याके बाद उन्होंने सत्तू और नमक लाकर सामने रखा। मांगना मुझे आता न था, न सीखनेकी हिम्मत रखता था।

दर्शननगरके पहिलेके बड़े तालाबपर मुझे कोई साधु मिला, वह भी अयोध्या जा रहा था। उसीके साथ मैं भी रातको बाबा रामप्रसादकी छावनीमें ठहरा।

दूसरे दिन सरयूका स्नान और अयोध्या देखना था। वेदान्ती होनेके कारण देवताओंकी भक्ति मेरे लिए उतनी आकर्षक न थी। सवेरे स्नान करके जब मैं सरयू किनारे घूम रहा था, तो एक चलते-पुर्जे साधुने मेरे पास आकर बात करनी शुरू की। फिर चेला होनेका परामर्श दिया। मैंने कहा—मैं पहिले संस्कृत और वेदान्त पढ़ना चाहता हूँ, पढ़ लेनेके बाद साधु बननेके बारेमें निश्चय करूँगा। साधु खुद संस्कृत पढ़ा-लिखा न था, इसलिए मुझपर कोई प्रभाव न डाल सका। अयोध्या-को मैं घरसे बहुत दूर नही समझता था, इसलिए काशीकी तरह यहांके रहनेको भी अपने लिए खतरनाक समझता था।

अयोध्यामें किन-किन जगहोंका दर्शन किया, इसका मुझे स्मरण नहीं। एक रात गोंडा जिलेके आये यात्रियोंके साथ जन्मस्थानके पासके किसी मठमें ठहरा था। उन यात्रियोंमें एक-दो देहाती साधु और कुछ गृहस्थ थे। दूसरे दिन जब वे घरको लौटते वक्त फ़ैजाबादकी ओर चले, तो मैं भी चल पड़ा। फ़ैजाबादमें किसी सेठकी

साले रहते थे, जिन्हें कलकत्तामें मैंने देखा था। उनसे मिलने गया। मुझे वैराग्यसे डिगानेकेलिए उन्होंने कोशिश की, किन्तु अब मैं उस अवस्थासे बहुत आगे पहुँच चुका था। उन्हींसे मालूम हुआ, कि पाठकजी कलकत्ता छोड़कर घर चले आये हैं, और अब मुरादाबाद हीमें रहते हैं।

मुरादाबादमें हम सीधे मियासाहेबकी गलीमें गये। पाठकजीको मुझे देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई, किन्तु मेरे बाने और साथके तिलकधारीको देखकर उन्हें बेचैनी हुई। रात बीतनेपर सबेरे देखा तो बनारसी दोस्त गायब है। ढूंढ़नेमें इधर-उधर परेशान देखकर पाठकजीके लड़केने मुस्कराते हुए कहा—हमने उसे रवाना कर दिया। पहिले आनाकानी करते थे, किन्तु जैसे ही कहा—'दूसरेके लड़केको भगाये लिये जा रहे हो, जा रहे हैं पुलिसको रपट करने'; बस इतने हीमें बच्चाका होश ठीक हो गया। आप यहां रहिये, और हम लोगोंको भी ज्ञान-वैराग्य सिखलाइये। खैर, मुझे अभी जल्दी भागनेकी नहीं पड़ी हुई थी। पाठकजीका परिवार सभ्य नागरिक परिवार था, और पाठकजीके आग्रहको मैं जल्दी ठुकरा नहीं सकता था। नगरके एक धनी सेठ थे। पाठकजी उनके दरबारमें आया-जाया करते थे। दो भाइयोंमें बड़े भाईको भी ज्ञान-वैराग्यकी बीमारी लगी हुई थी। मुझसे मिलकर उन्होंने बहुत प्रसन्नता प्रकट की, और अपने ही यहां रहनेकेलिए कहा। मुरादाबादके दस-पन्द्रह दिन अधिकतर उनके ही यहां बीते। विरक्त सेठने कई दरियाई नारियल जमा कर रखे थे। कह रहे थे—'देखिये, दस नारियल हैं, मैं खोज रहा हूँ, दस सन्यासी हो जायें तब हम साथ निकलें। दो तो हो ही गये, आठ और आ जावेंगे।' गर्मी खूब पड़ रही थी, लेकिन सेठ(साहु)जीके बैठकेमें खसकी टट्टियां लगी थीं। मेरे खाने-पीने, रहने-सहनेका अच्छासे अच्छा इन्तजाम था, और सेठजी समझते रहे होंगे, कि अब यह जानेवाला नहीं, बस सिर्फ आठ और मूर्तियां चाहिएं।

सेठजीके छोटे भाई और खासकर उनकी माँ बड़े बेटेके रवैयासे पहिले हीसे बहुत परेशान थीं, मुझे डटकर सत्संग करते देखकर उनका भय और बढ़ गया। मैं अब उकताने लगा था। सेठजीकी दसवाली स्कीम मुझे फीकी लगने लगी, और ज्ञान-वेदान्तमें तो वे मेरे पासंगके बराबर भी न थे। मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई, जब एक दिन सेठजीकी माँ और छोटे भाईने बड़ी मिन्नत करके प्रस्ताव किया—'आप यहांसे हरद्वार चले जायें। वहां जानेकेलिए, रहनेके लिए जो कुछ जरूरत हो, हम उसका इन्तजाम कर देंगे।' मैंने देखा उनके द्वारा मैं सेठजी और पाठकजी दोनोंसे बचकर निकल सकता हूँ, जिसकी इधर कुछ दिनोंसे मुझे बड़ी फ़िक्र थी। मैंने कहा, एक लुटिया (कमंडलू अब सड़ने लगा था) और हरद्वार तकका टिकट मुझे चाहिए, और कुछ नहीं।

२

हिमालय (१)

हरिद्वार स्टेशनपर उतरते वक्त मेरे पास दो-चार आने पैसेसे अधिक नही रहे होंगे, किन्तु अब मेरे लिए पैसे-कौड़ीके बिना अजनबी जगहमें जाना चिन्ताकी चीज नही थी। गंगामें स्नान करने गया। उस गर्मीमें दिल कहता था, पानीमें बैठें, किन्तु पानीमें घुसनेपर वह सर्दीके मारे काटे खाता था। हरिकी पैडीके पास कही कुछ पेट-पूजा की, और फिर चला किसी पंडितकी खोजमें। आखिर हरिद्वार आनेका मेरा मतलब सिर्फ तीर्थ और तपस्या करना नही था, मै वहां आया था संस्कृत पढ़ने-केलिए। एकाध जगह लोगोंसे पढ़ने और पंडितके बारेमें पूछा। लेकिन जब घर बनारसके पास बतलाया, तो उन्होने कहा—यह चले है यहां हरिद्वारमें संस्कृत पढ़ने। सारी दुनिया जाती हैं बनारस संस्कृत पढ़ने, और इनकी उल्टी धार। पासके दूसरे आदमीने कहा—अरे भाई, यह पढनेवाले देवता नहीं हैं, आये हैं छत्रोंके टुकड़े तोड़ने। एक आदमीने विष्णुतीर्थ (?) पर विष्णुदत्त (?) पंडितका नाम बतलाया। तलाश करते वहां पहुँचा। आवाज लगाई। कोठेपरसे एक अधेड़ आदमी बोल उठा—"कौन, किसको चाहते हो?"

"मैं पंडित विष्णुदत्तसे मिलना चाहता हूँ।"

"ऊपर चले आओ, मेरा ही नाम विष्णुदत्त है।"

पंडितजी बहुत अच्छी तरह मिले। मेरी और उनकी उम्रके बीच जितना शिष्टाचार दिखलाना चाहिए, उससे अधिक शिष्टाचार दिखलाया। पढनेकी बात कहनेपर कहा—कोई परवाह नहीं हम पढायेंगे। तुम दूरके विद्यार्थी हो, खानेके लिए चिन्ता मत करना, हमारे चौकेमें खाना।

इतनी सफलतापर मेरे आनन्दकी सीमा न थी।

दो-तीन घंटे बाद पंडितजीने कलम, दवात और कापीके साथ एक मोटीसी पुस्तक मेरे सामने ला रखी। बोले—"इस पुस्तककी खेमराज श्रीकृष्णदासके प्रेससे मांगपर मांग आ रही है, इसे तुम रोज नकल किया करो।"

मुझे और हर्ष हुआ, समझा—मुफ्तकी नही कमाकर रोटी खाना सबसे अच्छा है। एक दिन, दो दिन तो मैं संकोचमें पड़ा रहा; समझता था, पंडितजी खुद पढ़ने-केलिए कहेंगे। जब उधरसे कोई बात ही चलती न देखी, तो मैंने पढ़नेके बारेमें कहा। 'हां, बहुत अच्छा' कहकर दो दिन और टाला। उधर दिनमें आठ घंटा बराबर कलमघिसाई करनी पड़ रही थी। फिर कहनेपर बड़े मीठे स्वरसे कहा—'जल्दी क्या पड़ी है, किताबको जल्दी भेजना है, इसे लिखकर खतम

कर डालो, फिर पढ़ाई शुरू करना, तब तक मेरी पुस्तकोंमेंसे जो रुचे, पढ़ते रहो।'

पंडितजीकी पुस्तकोंमें मेरे कामकी कोई पुस्तक न थी। छुट्टी मिलनेपर दो-एक घंटे बाहर घूमने जाता। कोशिश यह भी करता था, कि कहीं दूसरी जगह पढ़नेका सिलसिला लगे तो वहां चला जाऊं। एकाध स्थानका पता भी लगा, तो बनारसकी ओरसे आना मेरे आवारापनका सबसे बड़ा प्रमाण था, और कोई मुझे विद्यार्थीके तौरपर स्वीकार करनेको तैयार न था। पहिले ही साधु बन जानेके मैं बिलकुल खिलाफ था, इसलिए मठोंमें न मैं गया, न किसी साधुकी मेरी ओर नजर गई। अखबारसे मैं कोरा था। निजामाबादके अन्तिम वर्षमें "सरस्वती"के एकाध अंक देखे थे, पढ़े थे—इसमें सन्देह है।

सात-आठ दिन रहनेके बाद पंडितजीका रहस्य खुलने लगा। उनको संस्कृतसे कोई वास्ता न था। 'बनार्क' (यही उस पुस्तकका नाम था) को छपवाकर प्रेस-वालोंसे कुछ रुपया और साथ ही तीर्थपर आये भक्तोंपर अपनी विद्वत्ताकी धाक जमाना उनका काम था। रसोइया रो रहा था—छै महीने हो गये, एक पैसा तनख्वाह नहीं दी। खाना खिलानेकी यह हालत थी, कि उनकी आठ-नौ वर्षकी लड़की ही छोटी होनेसे पेटभर खानेको पाती हो तो हो। लड़कीके सिवा पंडितजीके घरमें और कोई न था। शामके वक्त छतपर बैठकर खाने और रातको वहीं सोनेमें मुझे और नफ़रत आती थी, जब देखता था कि उसी छतपर कुछ दूर हटकर महीनोंका पाखाना सूख रहा है।

अपनी सफलतापर फूला न समाता हरिद्वार पहुँचनेके दूसरे ही दिन मैंने यागेश-को 'गद्यकाव्य' में एक पोस्टकार्ड लिखा था। उस आनन्दातिरेकमें पत्रमें कवित्व आ जावे तो कोई आश्चर्य नहीं। पत्र सीधे यागेशको लिखा था या कालिकादासके पतेसे, यह याद नहीं। कोई दूसरा पत्रको न पढ़ ले, इसके लिए सारे पत्रको लिखकर, फिर उसे इतिसे अथकी ओर करके उलट दिया था। मुझे जहां तक ख्याल है, मैंने चलते वक्त यागेशको बतलाया नहीं था, कि मैं इस तरहका सांकेतिक पत्र लिखूंगा। वाक्योंको उलटकर कहनेकी देहाती स्कूलोंमें चाल थी, शायद इसीसे यागेशको पत्रके पढ़नेमें दिक्कत न हुई। पत्रमें मैंने अपने यात्रानन्दका आकर्षक वर्णन करते हुए, उन्हें भी उसमें सहभागी बननेके लिए निमन्त्रण दिया था।

मेरा पत्र यागेशके पास आया है, यह रहस्य धीरे-धीरे खुल गया। यागेशके हाथसे उनके चचा महादेव पंडित पत्र लेनेमें सफल हुए। पहिले तो उसका कोई अर्थ नहीं मालूम हुआ, किन्तु पीछे उन्होंने भी संकेत ढूंढ निकाला। अब यागेशके ऊपर निगरानी रख दी गई। यागेश मेरे पत्रको पाकर बन्धनोंसे बहुत कुछ निरपन

कर चुके थे, और जब निगरानी देखी, तो उनका इरादा और पक्का हो गया। वह निकल भागनेकी फ़िक्रमें पड़े।

पंडितजीने अपनी रोटियोंकेलिए लिखानेका काम लेकर यदि किसीके पास मेरे पढ़नेका प्रबन्ध भी कर दिया होता, तो भी मैं उनके पास बना रहता; किन्तु जिस स्थितिमें बेवकूफ बनाकर वह रखना चाहते थे, वह मुझे सह्य नहीं थी। उस वक्त बदरीनाथके यात्री आने लगे थे। हरिद्वारमें पढ़ाईसे निराश हो जानेपर मैंने सोचा, पढ़ाईकेलिए फिर बनारस ही लौटना होगा, लेकिन अब जब यहाँ आ गया तो बदरीनाथ भी हो आना चाहिए।

एक दिन सवेरे मैंने पंडितजीसे रुखसत ली। भीमगोड़ा होते हृषिकेश पहुँचा। अयोध्यासे मुरादाबादके सफ़रमें सदावर्तों और धर्मशालाओंसे मैं परिचित हो गया था। भीख मागना तो मुझे अपने बसकी बात नहीं मालूम होती थी, किन्तु सदावर्तमें भीख मागनेकी जरूरत नहीं, वहा तो नियमित अन्न या पैसा पाना हर भिखमंगा अपना अधिकार समझता है। रास्तेमें मालवाके एक साधु मिल गये। यात्रामें एकसे दो अच्छे होते हैं, यह बनारसी तीर्थाटकके साथ रहकर मैंने अनुभव कर लिया था। दोनों बात करते चले, और हृषिकेशमें जाकर कालीकमलीवालेकी धर्मशालामें ठहरे। पहिलेके कालीकमलीवाले बाबाके "पक्षपातरहित अनुभव-प्रकाश"को मैं पढ़ चुका था, किन्तु मुझे यह नही मालूम था कि कालीकमलीवालेकी इतनी धर्मशालायें और इतने सदावर्त उत्तराखंडमें फैले हुए हैं।

मेरे साथी मालवी बाबा देखनेमें पतले-दुबले तथा पचाससे ऊपरके थे, किन्तु चलने-काम करनेमें मुझसे ज्यादा मजबूत थे। दो-तीन उतराई-चढ़ाईमें जहां मैं टें बोल जाता, वहा वह हाथमें लाठी, पीठपर विस्तरा, बगलमें झोली लिये धीरे-धीरे चलते ही जाते। दिनकी मंजिल पूरी करकेजब हम किसी धर्मशाला या चट्टीपर पहुँचते, तो मैं तो लेट जाता, और जरा भी हिलने-डोलनेकी इच्छा नहीं रहती, किन्तु वह लकड़ी जमा करते, आग सुलगाते, खाना बनानेमें लग जाते। थोड़ी देर सुस्तानेके बाद लज्जित होकर मैं उठ खड़ा होता और उनके काममें सहायता देने लगता। हमने हृषिकेशमें ही कालीकमलीवालेके छत्रसे अगले छत्रकी दो चिट्ठियाँ ले ली थी—जिसमें एक आदमी दो बार सदावर्त न ले ले, इसके लिए कालीकमली-वालेने एक चट्टी या धर्मशाला पीछेसे छपी चिट्ठी ले जानेका तरीका निकाला था, चिट्ठीको देते ही उसमें छपी सदावर्तकी चीजें मिल जाती थी। सदावर्तकी जगह हर रोज नही मिलती थी, ऐसी स्थितिमें हमें तीर्थयात्री दाताओंपर भरोसा करना पड़ता था, और उनकी काफी संख्या हमारे साथ-साथ चल रही थी। मांगने-जाचनेका काम मुझसे होता भी नहो, और उसके लिए मालवी बाबा जैसे एक्सपर्ट यहां मौजूद थे।

देवप्रयाग पहुँचते-पहुँचते मेरे भी पैर और फेफड़े कुछ मजबूत होने लगे। देवप्रयागमें अलकनन्दा उस पार हम एक या दो दिन ठहरे। भागीरथीकी धारपर पारवाले गावोंमें जानेकेलिए रस्सीका झूला बना हुआ था, एक बार मैं उसपरसे जाकर आर-पार हो आया और यह उस वक्तकेलिए साधारण बहादुरीकी बात नहीं थी।

देवप्रयागमें सलाह हुई सीधे केदार-बदरी होकर चला जाना क्या, आये हैं तो जमनोत्री, गंगोत्री भी होते चलें। प्रस्ताव मालवी बाबाकी तरफसे हुआ, और मैंने एवमस्तु कहा। देवप्रयाग छोड़नेके बाद पहिली चढ़ाई अब शुरू हुई, और उठते-बैठते घंटों चढ़े चले जानेपर भी चढ़ाईका अन्त नहीं दिखलाई पड़ा; तो अपने निर्णय पर मुझे बहुत पश्चात्ताप होने लगा। लेकिन "अब पछताये होत का।" यह बात १९१० की है, उस समय देवप्रयागसे टेहरीका रास्ता, पगडंडी था।

चढ़ाई इतनी कड़वी मालूम हुई, किन्तु उसके खतम होनेके बाद फिर इन्द्रियां शान्त हो गई। अब कुछ आदत पड़ती जा रही थी, इसलिए चलनेके बाद चौबीस घंटा दर्द बनी रहनेवाली बात न थी। ऊपर चोटीपर ठंडी हवा, और पके करौंदे, तथा तूत जैसे सुनहले फल—जिसके पौधे काँटीले थे—खानेमें मजा आने लगा। वहांकी प्रकृतिका सौन्दर्य पीछेकी चकाचौंधके कारण भूल गया, किन्तु इतना याद है, वहां जंगली अनार थे, जो खानेमें अधिक खट्टे थे। कितनी ही दूर जानेपर उतराईमें वर्षा शुरू हो गई। हम लोग, एक पनचक्कीघरमें चले गये। वहां यद्यपि बचनेके लिए घर तथा खाना बनानेके लिए पासमें पानी भी मौजूद था। ईंधनकी कमी न थी। अपने राम तो आज खाकर हँडिया ही फोड़ देते, किन्तु मालवी बाबाको देशाटन करते युग बीत गये थे। यह तीनों धाम हो आये थे, और उनमेंसे एक या दो को तो एकसे अधिक बार। वह अच्छी तरह समझते थे, मौसार गाठरा जैसा गुड़ जितना काम देता है, उतना वेदान्त वैराग्य नहीं। एक शाम, दो शामके लिए आटा-आलू-मिर्च-मसाला उनकी झोलीमें बराबर रहता था। आस-पास भील आयमील—जो भी पहाड़ी चढ़ाई-उतराईके साथ—कोई बस्ती न थी, तो भी हम निश्चिन्त थे। मालवी बाबाने अपना छोटा तवा, थाली-बटली निकाली। पानी लाने, बरतन मलनेमें अब मैं भी सहायता करता था। रोटी उतनी अच्छी तरह तो नहीं सेंक सकता था, किन्तु दाल-तरकारी बनानेमें कोई त्रुटि नहीं होती थी। मालवी बाबा किस जातिके हैं, इसे न मैंने कभी पूछा, न पूछनेकी जरूरत समझी। यद्यपि वेदान्तके 'खानेके दांत और दिखानेके और'के अनुसार व्यवहारावस्थामें हजारों पाखंडोंका पालन करना अन्तःकरणकी शुद्धिके लिए आवश्यक समझा जाता है, किन्तु वेदान्तसे पहिले कलकत्ताके पाठशालाका मन्त्र भी तो मुझे मिल चुका था।

कितने दिन बाद टेहरी पहुँचे। वह कैसी बस्ती है, यह मुझे याद नहीं। राजकीय धर्मशालामें हम लोग ठहरे थे। मालवी बाबा कहने लगे—तीरथका फल पूरा नहीं मिलता, जब तक कि वहांके राजाका दर्शन भी न कर लिया जावे। 'तीरथके फल'को में बिलकुल तुच्छ समझता था, यह तो नहीं कह सकता; किन्तु उसमें देशाटनकी वासना बहुत ज्यादा मात्रामें थी, इसमें तो सन्देह नहीं; और उस दृष्टिसे राजाका दर्शन एक आवश्यक चीज थी। हम लोग बस्तीसे बाहर किसी बागके पास खड़े हुए। हमारी तरहके कुछ और तीरथप्रवासी लोग वहां खड़े थे। राजा साहेब सामनेके पहाड़पर अपने ग्रीष्मावाससे आये, उनकी बग्गी हमसे चार कदमपर खड़ी हुई। हम सबोंने राज-दर्शन पाया। राजाकी क्या उम्र थी, कैसा चेहरा-मुहरा था, यह मुझे बिलकुल याद नहीं। हां, लौटते वक्त साथी लोग बातचीत कर रहे थे, कि महाराजाका शादी-सम्बन्ध नेपाल राजवंशके साथ है।

टेहरीसे धरासूकी यात्रामें कोई स्मरणीय घटना नहीं घटी। दोपहरसे पहिले किसी-न-किसी गांवमें हमें मट्ठा मिल जाया करता। कुछ सदावर्त, और कुछ मांग-जांचकर हमारे दोनों शामके भोजनका काम चल जाता। अब सर्दी भी पड़ रही थी, और आगेकी सर्दीमें मेरे पास कोई कम्बल जरूर रहा होगा, किन्तु मुझे जहां तक याद है, नीचेसे कम्बल में साथ नहीं लाया था; कम्बल मिला होगा तो हृषिकेश या टेहरीमें ही। धरासू पहुँचते-पहुँचते मालूम होने लगा, कि अब मालवी बाबाके साथ और अधिक रहनेमें कड़वाहटके साथ अलग होना पड़ेगा। धरासूसे यमुनाके तट तक पहुँचनेका दृश्य कैसा था, यह तो नहीं कह सकता, लेकिन यमुनाके किनारे पहुँचनेपर मालूम होता था, नाटकका एक नया पटोद्घाट हो गया। उपत्यका अधिक चौड़ी थी। यमुनाका नीला जल दूर तक फैला हुआ अनवरत कल-कल करता चल रहा था। आपादमस्तक हरियालीसे लदे विशाल पर्वत अपनी छायासे उपत्यकाको ढांके हुये थे, जिससे प्रकृति बड़ी स्निग्ध मालूम होती थी, यद्यपि अभी कुछ दिन था। इधर विशेष कर धरासूसे इस तरफ़ जमनोत्रीके यात्री बहुत कम होते थे, और रास्तेकी मरम्मत और चट्टियों (पड़ावकी दूकानों) का अभाव था, इसीलिए हम लोगोंने जंगलात मुहकमेके कुलियोंके डेरेके पास यहीं ठहरना पसन्द किया।

हमारे डेरा डाल देनेके थोड़ी देर बाद एक और भी मूर्ति हमारी बगलमें आकर रुकी, जिसकी शकल-सूरत और बातचीतने बहुत जल्द ही मेरे ध्यानको अपनी ओर आकर्षित किया। उसका रंग गोरा, चेहरेपर कम मांस, नाक नुकीली, आंखें चमकीली, मुहपर घनी काली मझोले परिमाणकी दाढ़ी, शिरपर काले केशोंका छोटासा जूट था। उसके पास बहुत कम सामान था—एक पशमीनेकी नारंगी रंगकी अलफ़ी (लम्बा कुर्ता), एक कम्बल, छोटीसी झोली, पीतलका कमंडलू (डोल जैसा), एक गमछा, दो लँगोटीके सिवा एक लम्बा "रोज"का लाल डंडा भर उसके

पास था। उसके आनेके साथ ही एक बड़े-बड़े बालोंवाला मटमैला सफ़ेद कुत्ता इधर-उधर सूंघकर मालिकसे पांच कदम दूर जाकर बैठ गया।

ब्रह्मचारी—उस व्यक्तिका नाम याद नहीं रहा—की जबान और रोम-रोम चुप रहना जानते ही न थे। उसने आते ही प्रश्नोंकी झड़ी लगा दी—"कहांसे आये महात्मा?" "कैसा रास्ता है?" "हां, आप मालवा उज्जैनके रहनेवाले हैं, मैं उज्जैनके पड़ावपर गया हूं।" "और आप तो बहुत अल्पवयस्क मालूम होते हैं; यह आपके पढ़नेका समय है?" "अच्छा, आपका जन्मस्थान बनारसके पास है? बनारस मैं दो बार गया हूं। मणिकर्णिका-स्नान और विश्वनाथके दर्शन किये हैं। काशी विश्वनाथकी नगरीका क्या कहना है? हिमालयके बाद यदि कोई स्थान मुझे प्रिय लगता है, तो काशीपुरी ही, लेकिन वर्षोंसे हिमालयमें घूमते रहनेके कारण वहांकी गर्मी बर्दाश्त नहीं होती, मैंने पिछली बार कुछ महीने रहना चाहा, किन्तु फागुनके बाद रहना नामुमकिन हो गया।"

वह बड़े आत्मविश्वासके साथ, शुद्ध संस्कृत हिन्दीमें अप्रयास धाराप्रवाह बोलते जा रहे थे। उनका जन्मस्थान बरेली-मुरादाबादकी तरफका मालूम होता था। उनकी भाषामें कितने ही उर्दूके शब्द भी आते थे, जिनका उच्चारण बहुत शुद्ध था। 'आपका आना किधरसे हो रहा है'—पूछने पर बोले—

"मैं हरिद्वारकी ओरसे नहीं आ रहा हूं। यहांसे पश्चिम रामपुर-कुल्लू-चंबा-जम्मू-काश्मीर मेरी विचरणभूमि है। जाड़ोंमें कुल्लूमें रहा। मणिकर्ण नाम सुना है? नहीं सुना होगा। बहुत कम लोगोंको पता है। बड़ा जागता तीर्थ है। जमनोत्रीमें तो एक गर्म कुंड देखोगे, यहां अनेक। वहां तो पानीमें रोटी आलू डालनेपर पकते हैं, यहां पानीपर बर्तन रखकर पका लो। पार्वतीजीके कानकी मणि गिर गई, इसीलिए स्थानका नाम मणिकर्ण पड़ा।... हां, ठीक मणिकर्णिका नाम भी काशीमें पार्वतीजीकी मणि खो जानेके कारण ही पड़ा, किन्तु यहां उबलते हुए पानीके चश्मे बतलाते हैं, कि शिवजीके शिवगणने मणिको खोज निकालनेमें कितना प्रयत्न किया।...नहीं बूढ़े बाबा, कहनेकी बात है,—'जो जाय कुल्लू, हो जाय उल्लू।' कुल्लू-चंबामें सुन्दरता बहुत है इसमें शक नहीं।...मैंने मासिक मेला रामपुरमें किया था। एकसे एक सज्जन आते हैं, लेकिन भारी होते हैं। राजाने बहुत कहा—'ब्रह्मचारीजी! जाड़ेके लिए कुछ कपड़े ले लें।' जानते हैं, बोझ लादे-लादे फिरना मुझे सबसे ज्यादा तकलीफ़देह मालूम होता है। बीहड़से बीहड़ पहाड़ोंको मैं कुछ नहीं समझता।...बदरीनाथसे इधरका रास्ता मैंने नहीं देखा, तब भी वहां कुछ तो सरकारी ओरसे रास्तोंकी मरम्मतकर सहल करना पड़ता होगा। मैंने तो ऐसे रास्ते पार किये हैं, जहां रास्तेके चिह्न बतानेका काम आदमियोंके पैरोंने किया है। नदियोंको आर-पार बांधे रस्सोंके सहारे पार करना होता है।

...हां, यह कम्बल और पट्टूकी अल्फी रामपुरके राजाकी दी हुई हैं। दोनों हल्के हैं, किन्तु खूब गर्म हैं। पट्टू—यह पशमीनेका पट्टू है। बर्फीली जगहकी बकरियों के बालोंके भीतर पशम उगती हैं। ...हां, बहुत कोमल है। असली पशमीनेकी परख है,—मलमल जैसे पतले पशमीनेको चार परत करके जमे घीपर रख दिया, और आध घंटेमें वह पिघल गया। ...हां, रामपुरका राजा तो बड़ा है, इधर पहाड़ोंमें चार-चार गांवके राजा हैं। ...पहाड़ी लोग बड़े सच्चे होते हैं, अब तो देशी लोगोंके संसर्गसे वे भी कुछ चालाक होते जाते हैं, नहीं, तो झूठ-चोरीका तो ये नाम भी न जानते थे। साधु-सन्तोंमें बड़ी श्रद्धा रखते हैं। ... हां, बूढ़े बाबा, बदरी-केदारकी सड़कोंपर चट्टियोंमें दूकान करनेवाले कहां तक अपनी श्रद्धा कायम रखेंगे, वहा तो रोज सैकड़ों साधु-सन्त आते-जाते रहते हैं। ...हां, यह झोली—इसमें यह देखो एक गाजेकी चिलम, साफ़ी, दियासलाई और कुछ गांजा तम्बाकू है। ...एक कमडलू काफ़ी है प्यास लगी तो पानी, गाव रहा तो छाछ या दूध मांग लिया। .... रोटी बनानेकी जरूरत क्या? भोजनके समय चार घरोंमे घूम गये, चार रोटी मिल गई, खा लिया। ...यह कुत्ता रामपुर रियासतसे मेरे साथ आ रहा है। बड़ा ईमानदार है। रोटी बनाकर नहाने-धोने, कुल्ला-गलाली करने चले जाइये, यह बैठा रोटीकी रखवाली करता रहेगा। मजाल है कोई कुत्ता पास फटक जाये। ...हां, बड़ा तगडा है। रोटी सामने रख दीजिये, कनखियों ताकता रहेगा, लेकिन जब तक मुंहसे 'खाओ' न कहे, तब तक भूखा भले ही मर जाये, रोटीमें मुह न लगा-येगा। यह कुत्ता साथीका काम देता आ रहा है।...''

ब्रह्मचारीकी बातें मैं बड़े चावसे सुन रहा था। मन कह रहा था—यह है आदमी बाजंदा-टाइपका। काश! मुझे भी इसी तरह उड़ते-फिरते रहनेके लिए पर मिलता। शाम होनेसे पहिले वह थोड़ी देरके लिए टहलने निकल गये, और देखा ठीकेदारका मुशी 'जी महाराज', कहता पीछे-पीछे आ रहा है। ब्रह्मचारीने उससे कहा—'देखो, यह दो सन्त सूखी रोटी बना रहे हैं। इनके लिए पावभर घी और कुछ तरकारी-सरकारी तो भिजवाओ। अच्छा लो, पहिले एक चिलम गांजा तैयार करो। 'दम लगे, बला भगे।'

चिलम तैयार हुई। तम्बाकूके धूमेंसे पीली पड़ गई भिगोई साफ़ी (रूमाल) को पीतल जड़ी काठकी लम्बी चिलममें लपेटते हुए ब्रह्मचारीने दूर तककी वन-स्थलीको गुंजाते हुए कहा—"लेना हो शंकर।...आ जा कैलाशके राजा।" और फिर दम खींचते हुए मालवी बाबाकी ओर मुंह कर कहा—"आ जाओ बूढ़े बाबा, दम लगा जाओ। रोटी बनती रहेगी, रात तो अपनी है।"

दम लगाकर मुंशीजी हमारे लिए घी-तरकारी दे गये। ब्रह्मचारीजीका न्योता ठीकेदारके यहां था, वह एक-दो चिलम और फूंककर वहां चले गये और काफ़ी

रात गये लौटकर आये। कह रहे थे—"सुल्फा (चरस) और बालूचर (गाँजा) यहाँ पहाड़में कहाँ? यहा तो जंगलकी भांग और जंगलका गाँजा। भंगके रसको मल-मलकर हाथमें लपेट लेनेपर उससे सुल्फेका काम लिया जा सकता है। बहुत रात गये तक वार्तालाप जारी रहा, ज्यादा बात ब्रह्मचारी ही करते थे। मालवी बाबा तो शायद ही कभी बोलते थे, मैं भी ज्यादातर 'हाँ' 'हाँ' और कभी-कभी जिज्ञासाके दो-एक शब्द बोल देता था।

सवेरे हम तीनोंने रास्ता पकड़ा। रास्ता यमुनाके बायें तटसे ऊपरकी ओर जा रहा था। दोपहरको एक पनचक्कीके पास रसोईका तारघाट लगा रहे थे, तब ब्रह्मचारीको मालूम हुआ, कि कुत्ता गायब है। वह उसकी तलाशमें तीन-चार-मील पीछे देखने गये, लेकिन नहीं मिला। वह आज गर्मीसे परेशान मालूम हो रहा था। जहाँ पानी दिखलाई पड़ता, वहीं वह अपने शरीरको भिगोने जाता। ब्रह्मचारी कह रहे थे, जिस गाँवसे कुत्ता उनके साथ चला था, वह और ज्यादा ठंडा था। कुत्तेको अपना गाँव याद आया और वह उधरको लौट गया। यही निष्कर्ष हम लोगोंने भी निकाला।

हम जितना ही आगे बढ़ते गये, पर्वतकी हरियाली और पानीके झरने भी बढ़ते गये। जमनोत्रीके पहिले गाँवमें हम लोग शामको पहुँचे। वहाँ चमड़ेकी रस्सियोंसे मढ़े बाजे एक चिकनी समतल जगहमें रखे थे। लोगोंने बतलाया, आज स्त्री-पुरुषोंका नाच होगा। मुझे यह कुछ अजीबसा मालूम हुआ, क्योंकि मेरी समझमें आया यहाँ लोग सपरिवार नाचेंगे। गृहस्थ स्त्री-पुरुषोंके सम्मिलित नाचको हमारे गाँवों और शहरोंमें नीची निगाहसे देखा जाता था। मुझे याद है, जब मैं नौ-दस बरसका था, उस वक्त मेरे समवयस्क तथा रिश्तेमें भाई जगमोहनका ब्याह हो रहा था। जगमोहन—प्रसिद्ध बहादुर चोर पुरबिन अहीर—का पोता था, पीछे वह गाँवका सबसे बलवान् पुरुष, तथा बिरहा गानेमें कई गाँवमें अद्वितीय जवान हुआ। बारात जानेसे दो-तीन दिन पहिले ही शादीमें स्त्रियोंके पूजा-गुजाचार शुरू होते हैं। सारे दिन और रातमें भी बहुत देर तक नगारा बजता रहता है। अहीर बड़ी खुशदिल जाति है। गाय-भैंस पालना, खेती करना—और खूब तन-मन लगाकर—उसके बाद मनोरंजनका सामान भी होना चाहिए। वह मनोरंजन था—बिरहा, कोहरिकोश गाना, तथा पाईडंडा नाचना। नाचमें तरुण स्त्रियाँ भी उस वक्त शामिल होती थीं। जगमोहनकी माँ किसी कामसे बाहर आई। गाँवके किसी देवरने ताना मारा, जिसको वह बहादुर अहीरिन कैसे सह सकती थी। वह ललकारकर मैदानमें उतरी और तब तक नाचती रही, जब तक कि सामनेका मर्द थककर बस नहीं गया। मुझे याद था, उस दिनका वह नाच और साथ ही वह प्रशंसा भी उसे देखकर हुई थी। आज यद्यपि बनेनसे चला हुआ शुष्क वैराग्य हिमालयकी

भूमिमें कुछ सरस हो चला था, तो भी पंडे स्त्री-पुरुषोंके नाचकी बात न जाने कैसी जान पड़ी।

दूसरे दिन चलकर यमुनाके किनारे वहा पहुँचे, जहां दो चट्टानोंके ऊपर लकड़ीके ठट्ठरका पुल बना हुआ था। वहा चट्टानपर कुछ लाल खून लगा हुआ था। जिज्ञासाका समाधान हुआ—कोई गिर गया, उसका सर फट गया। मुझे सन्तोष नही हुआ, क्योंकि यह कोई उतनी कठिन जगह नही थी, आगे जरूर कितनी ही जगह कुछ कठिन रास्ते आये। वृक्षोंके तनों और शाखाओंसे हरे कपासके बड़े-बड़े फाहेसे लटक रहे थे—बर्फ़ पड़नेवाली जगहके वृक्षोंका यह चिन्ह है। लेकिन ये वृक्ष उतने सुन्दर नहीं जँचे जितने कि देवदार। हम लोगोंने भगवानको बहुत धन्यवाद दिया, जब कि बिना पानी-बूंदीके हम जमनोत्री पहुँच गये। आखिरके दो मील तो तै करनेमें सचमुच पानी बरसनेपर बहुत मुश्किल हो जाते।

जमनोत्री ऊँचे पहाड़ोंसे घिरी एक छोटीसी जगह मालूम हुई, जो एक तरफ़से खुली हुई थी, और पानी उधरसे ही बह रहा था। थोड़ी दूरपर सैकड़ो फ़ीट ऊँचे बर्फ़से सद्योजात दो धारायें गिर रही थीं, जो चन्द ही कदमोंपर मिलकर एक हो जाती थी। बायें वाली धाराके बायें थोड़ी ही दूरपर तथा पहाड़की जड़में, पत्थरोंमें, हाथ-डेढ़ हाथ लम्बा, उतना ही चौडा, और हाथ भरसे कुछ अधिक गहरा एक कुंड था। पानी उसके मुह तक भरा न था। यही जमनोत्रीका तप्तकुंड था। कुडके किनारेसे सूत जैसी एक धार पिचकारीकी तरह छूट रही थी। इस गरम पानीमें ही खाना पकाकर खाना तीर्थ यात्री लोग धर्म समझते थे। हमने भी अँगोछेमें आलू बांधकर कुडमें डाल दिया, छोटी-छोटी रोटियां बनाकर कड़ाहीके घीमें पूड़ियोंकी तरह उस पानीमें डालते जाते थे। पकी रोटीकी पहिचान थी, उसका ऊपर उतरा आना। कुड तथा बर्फ़ीली धारके कुछ पानीको ले जाकर एक कुडमें मिलाया गया था, यही यात्री स्नान करते थे। वहाँकी सर्दीमें घंटों उसीके भीतर पड़े रहनेका मन करता था। जमनोत्रीमें यमुनाजीका मन्दिर कैसा था, यह तो याद नही, किन्तु वहा एक या दो दूकानें थी, जिनमें खानेकी चीजें मिल जाती थी।

जमनोत्रीसे मालवी बाबा और मेरा साथ छूट गया। ब्रह्मचारीकी निर्द्वन्द्वता, उसकी दुरूह स्थानोंमें हुई यात्राओं, और भाषणकी विचित्रता, तथा अधिक संस्कृत व्यवहार मुझे अपनी ओर आकृष्ट करनेमें ज्यादा सफल हुए। जमनोत्रीसे चलते वक्त हमारे साथ एक तीसरा व्यक्ति बहराइच जिलेके एक अधेड़ मुराव (कोइरी) भगत थे। चलनेमें अब मैं वही आदमी न था, जो कि हृषिकेशसे सर लटकाये मुर्दोंकी तरह जबर्दस्ती रस्सी बांधकर खींचा जाता-सा ऊपरकी ओर घसीटा जा रहा था। मेरे भी पैर अब फुर्तीमें ब्रह्मचारीके पैरोंका मुकाबला करने-

रात गये लौटकर आये। कह रहे थे—"सुल्फा (चरस) और बालूचर (गांजा) यहां पहाड़में कहां? यहां तो जंगलकी भांग और जंगलका गांजा। भंगके रसको मल-मलकर हाथमें लपेट लेनेपर उससे सुल्फेका काम लिया जा सकता है। बहुत रात गये तक वार्तालाप जारी रहा, ज्यादा बात ब्रह्मचारी ही करते थे। माधवी बाबा तो शायद ही कभी बोलते थे, मैं भी ज्यादातर 'हां' 'हां' और कभी-कभी जिज्ञासाके दो-एक शब्द बोल देता था।

सबेरे हम तीनोंने रास्ता पकड़ा। रास्ता यमुनाके बायें तटसे ऊपरकी ओर जा रहा था। दोपहरको एक पनचक्कीके पास रसोईका ठाटबाट लगा रहे थे, तब ब्रह्मचारीको मालूम हुआ, कि कुत्ता गायब है। वह उसकी तलाशमें तीन-चार-मील पीछे देखने गये, लेकिन नहीं मिला। वह आज गर्मीसे परेशान मालूम हो रहा था। जहां पानी दिखलाई पड़ता, वहीं वह अपने शरीरको भिगोने जाता। ब्रह्मचारी कह रहे थे, जिस गांवसे कुत्ता उनके साथ चला था, वह और ज्यादा ठंडा था। कुत्तेको अपना गांव याद आया और वह उधरको लौट गया। यही निष्कर्ष हम लोगोंने भी निकाला।

हम जितना ही आगे बढ़ते गये, पर्वतकी हरियाली और पानीके झरने भी बढ़ते गये। जमनोत्रीके पहलेके गांवमें हम लोग शामको पहुंचे। वहां चमड़ेकी रस्सियोंसे मढ़े बाजे एक निकली समतल जगहमें रखे थे। लोगोंने बतलाया, आज स्त्री-पुरुषोंका नाच होगा। मुझे यह कुछ अजीबसा मालूम हुआ, क्योंकि मेरी समझमें आया यहाँ लोग सपरिवार नाचेंगे। गृहस्थ स्त्री-पुरुषोंके सम्मिलित नाचको हमारे गांवों और शहरोंमें नीची निगाहसे देखा जाता था। मुझे याद है, जब मैं नौ-दस वर्षका था, उस वक्त मेरे समवयस्क तथा रिश्तेमें भाई जगमोहनका ब्याह हो रहा था। जगमोहन—प्रसिद्ध बहादुर चोर पुरबिन अहीर—का पोता था, पीछे वह गांवका सबसे बलवान् पुरुष, तथा बिरहा गानेमें कई गांवमें अद्वितीय जवान हुआ। बारात जानेसे दो-तीन दिन पहिले ही शादीमें स्त्रियोंके पूजा-कृत्याचार शुरू होते हैं। सारे दिन और रातमें भी बहुत देर तक नगारा बजता रहता है। अहीर बड़ी स्वच्छन्द जाति है। गाय-भैंस पालना, खेती करना—और खूब तन-मन लगाकर—उसके बाद मनोरंजनका सामान भी होना चाहिए। वह मनोरंजन था—बिरहा, लोरिकीका गाना, तथा गाहेबगाहे नाचना। नाचमें तरुण स्त्रियां भी उस वक्त शामिल होती थीं। जगमोहनकी मां किसी कामसे बाहर आई। गांवके किसी देवरने ताना मारा, जिसको वह बहादुर अहीरिन कैसे सह सकती थी। वह लल-कारकर मैदानमें उतरी और तब तक नाचती रही, जब तक कि सामनेका मर्द थककर भग नहीं गया। मुझे याद था, उस दिनका वह नाच और साथ ही वह प्रशंसा भी जो उसे देखकर हुई थी। आज यद्यपि कनैलासे चला हुआ शुष्क वैराग्य हिमालयमें

भूमिमें कुछ सरस हो चला था, तो भी पंडे स्त्री-पुरुषोंके नाचकी बात न जाने कैसी जान पडी।

दूसरे दिन चलकर यमुनाके किनारे वहां पहुँचे, जहां दो चट्टानोंके ऊपर लकड़ीके ठट्ठरका पुल बना हुआ था। वहां चट्टानपर कुछ लाल खून लगा हुआ था। जिज्ञासाका समाधान हुआ—कोई गिर गया, उसका सर फट गया। मुझे सन्तोष नही हुआ, क्योंकि यह कोई उतनी कठिन जगह नही थी, आगे जरूर कितनी ही जगह कुछ कठिन रास्ते आये। वृक्षोंके तनों और शाखाओंसे हरे कपासके बड़े-बड़े फाहेसे लटक रहे थे—बर्फ पड़नेवाली जगहके वृक्षोंका यह चिन्ह है। लेकिन ये वृक्ष उतने सुन्दर नहीं जँचे जितने कि देवदार। हम लोगोंने भगवानको बहुत धन्यवाद दिया, जब कि बिना पानी-बूंदीके हम जमनोत्री पहुँच गये। आखिरके दो मील तो तै करनेमें सचमुच पानी बरसनेपर बहुत मुश्किल हो जाते।

जमनोत्री ऊँचे पहाड़ोसे घिरी एक छोटीसी जगह मालूम हुई, जो एक तरफ़से खुली हुई थी, और पानी उधरसे ही बह रहा था। थोड़ी दूरपर सैकड़ो फ़ीट ऊँचे बर्फ़से सद्योजात दो धारायें गिर रही थी, जो चन्द ही कदमोंपर मिलकर एक हो जाती थी। बायें वाली धाराके बायें थोड़ी ही दूरपर तथा पहाड़की जड़में, पत्थरों-में, हाथ-डेढ़ हाथ लम्बा, उतना ही चौड़ा, और हाथ भरसे कुछ अधिक गहरा एक कुंड था। पानी उसके मुह तक भरा न था। यही जमनोत्रीका तप्तकुंड था। कुडके किनारेसे सूत जैसी एक धार पिचकारीकी तरह छूट रही थी। इस गरम पानीमें ही खाना पकाकर खाना तीर्थ यात्री लोग धर्म समझते थे। हमने भी अँगोछेमें आलू बांधकर कुडमें डाल दिया, छोटी-छोटी रोटिया बनाकर कड़ाहीके घीमें पूड़ियोकी तरह उस पानीमें डालते जाते थे। पकी रोटीकी पहिचान थी, उसका ऊपर उतरा आना। कुड तथा बर्फ़ीली धारके कुछ पानीको ले जाकर एक कुडमें मिलाया गया था, यही यात्री स्नान करते थे। वहाँकी सर्दीमें घंटों उसीके भीतर पड़े रहनेका मन करता था। जमनोत्रीमें यमुनाजीका मन्दिर कैसा था, यह तो याद नहीं, किन्तु वहा एक या दो दूकानें थीं, जिनमें खानेकी चीजें मिल जाती थी।

जमनोत्रीसे मालवी बाबा और मेरा साथ छूट गया। ब्रह्मचारीकी निर्द्वन्द्वता, उसकी दुरूह स्थानोंमें हुई यात्राओं, और भाषणकी विचित्रता, तथा अधिक संस्कृत व्यवहार मुझे अपनी ओर आकृष्ट करनेमें ज्यादा सफल हुए। जमनोत्रीसे चलते वक्त हमारे साथ एक तीसरा व्यक्ति बहराइच जिलेके एक अधेड़ मुराव (कोइरी) भगत थे। चलनेमें अब मैं वही आदमी न था, जो कि हृषिकेशसे सर लटकाये मुर्दोंकी तरह जबर्दस्ती रस्सी बांधकर खींचा जाता-सा ऊपरको ओर घसीटा जा रहा था। मेरे भी पैर अब फुर्तीमें ब्रह्मचारीके पैरोंका मुकाबला करने-

रातको नींद कहां आवेगी, मालूम होता था, भालू अब आते हैं, और फिर मैं यहांका यहीं।"

खैर, यदि हमको उस झोपड़ीमें रात बितानी पड़ती, तो हमें उतना डर न होता, हम अकेले नहीं तीन थे, जिसमें मुराव भगतके पास डंडेमें सन्ती, ब्रह्मचारीके पास नोकदार लोहा मढ़ा लम्बा डंडा था, मैं निहत्था जरूर था, और इस कथाके बाद मैं भी बराबर एक डंडा साथ रखने लगा। उतराई शुरू हुई—पहिलेका अधिक रास्ता पहाड़की रीढ़पर था, समतल भूमिपर मालूम होता था, फिर आदमियों और पैरोंसे कटे तथा पानीके बहावसे गहरे हो गये रास्ते अधिक मिलने लगे। भूखका जोर तेजीपर था, वह सत्तू तो लाल तवेपरकी दो बूंदें थीं, तो भी अब रास्तेमें नजदीक गांव होनेकी सम्भावना थी, इसलिए मन सन्तोष करनेके लिए तैयार था। चार-साढ़े चार बजेके करीब हम गांवमें पहुंच गये।

धर्मशाला तो नहीं थी, किसी गृहस्थका सूना घर रहा होगा, जिसमें हम लोग ठहरे। हमारी अँतड़ियां ऐंठ रही थीं, पैरोंकी ओरसे कोई शिकायत न थी। ब्रह्मचारी एक मिनटके लिए भी बिना रुके—'तुम लोग आराम करो, मैं तुरन्त आता हूं" कहकर चले गये। मुश्किलसे पन्द्रह-बीस मिनट गुजरे होंगे कि एक सेर भुना हुआ गरमा गरम गेहूं और आधपाव गुड़की डली लिए ब्रह्मचारी हाजिर हुए।

"खाओ! खूब खाओ! रोटीकी फ़िक्र मत करो, अभी दिन बहुत है। मैंने तो चाहा कुछ मट्ठा भी मिल जाये, तो अच्छा, किन्तु शाम—मट्ठेका समय नहीं। ....मैं सीधा गांवके प्रधानके घर गया। संयोगसे वह नेपाली निकल आया।.... नेपालका बाशिन्दा है, अब शादी करके यहीं रह गया है। मैंने कहा—प्रधान, तीन-तीन सन्त आज सारे दिन भूखे चले आ रहे हैं। जो कुछ तैयार हो, पहले तो धर दो। सत्तूके लिए गेहूं भुने जा रहे थे, उसने यह लाकर रखा। गुड़ पहाड़में मोतीके भाव बिकता है। उसके घर बस इतना ही था।... अभी खा लो। मुझे बात करने की फ़ुर्सत कहां थी। तुम्हारी अँतड़ियां क्या कह रही थीं, यह मुझे मालूम था। ....अब जाऊंगा। आज शामको खीर-मालपुए खानेकी तबियत करती है। ....दूध क्यों नहीं मिलेगा।"

शामको सचमुच चार सेर दूध लिवाये ब्रह्मचारी पहुंचे। प्रधान भी आया था, किन्तु उसकी शक्ल-सूरत याद नहीं पड़ती। चीनी नहीं थी, गुड़ हम सफाचट कर चुके थे, किन्तु चीनी बिना भी वह गाढ़ी निर्जल खीर जिसमें दूधके चौथाई भी चावल नहीं पड़ा था, बहुत मीठी लगती थी।

दूसरे दिन घंटा बीतते-बीतते मसूरीवाली सड़कपर पहुंच गये। उसी दिन हम उत्तरकाशी पहुंच गये। बादल और हवाके कारण काफी सर्दी लग रही थी, किन्तु धर्मशालेमें गुड़ और चावलकी सदावर्तने उसके भगानेमें बड़ी सहायता की। उत्तर-

काशी गंगाके किनारे एक खुली भूमिमें बसी मालूम पड़ी। शिवमन्दिर काफी बड़ा और सफ़ेद था, पासमें धर्मशाला या घर भी अच्छा खासा था। सदावर्त तो जरूर ही होगी। कहां ठहरे, कितने दिन ठहरे, बाजार और बस्ती कितनी बड़ी थी, यह स्मरणके बाहरकी बात है।

वहांसे गंगोत्री कितने दिनमें पहुँचे, यह याद नही आता। इतना मालूम हुआ कि हमारा रास्ता गंगा—जिसकी उपत्यका देवदारोंके शुरू होने तक बहुत चौड़ी हो गई थी—के दाहिनेसे था। इधरके गांवोंमें अखरोटके बड़े-बड़े दरख्त थे, जिनमें हरे-हरे फल लगे थे, और मैं समझता था, कि जब इनका रंग पीला पड़ जावेगा, तो लड़के आमकी तरह लेकर चूसते होगे। देवदारोंके आनेसे पहिले ही एक सड़कके किनारे कुछ गदहे चर रहे थे, जो मामूलसे कुछ ज्यादा बड़े थे। थोड़ी ही दूरपर रास्तेसे जरासा हटकर एक छोटासा तम्बू खडा था। ब्रह्मचारी हमें भी साथ लिवाये वहां गये। 'लामा' 'लामा' कह तम्बूवालेसे बात करने लगे। मालूम हुआ वह तिब्बतका नही नेपालका वाशिन्दा है, व्यापारके लिए आया हुआ है। ब्रह्मचारीने जब महाराना जंगबहादुरका नाम लिया, तो हँसीसे मुखकी रेखाको कान तक बढाते, आखोंको गालोंके भीतर अन्तर्धान करते 'लामा'ने एक हाथको मुट्ठी बांधकर ऊपर खींचते हुए जंगबहादुरके असिबलका नाट्य किया। उसका शरीर छै फ़ीटसे कम न रहा होगा, और उसीके अनुसार उसके शरीरकी चौड़ाई भी थी। मुझे तो वह बचपनकी कहानियोंमें सुना दानव मालूम होता था। उस वक्त मेरी धारणा हो गई थी कि, तिब्बतके सबसे छोटे आदमी ऐसे होते है। ब्रह्मचारीने चलते वक्त लामासे 'चोरा' और जिम्बूकी बूटियां मांगी, जिनमें पहिली सूखी पतली जड़सी मालूम होती थी, और दूसरी किसी चीजका हरा पत्ता था। उसी शाम आलूकी तरकारी, घीमें उसी बूटीमेंसे एकका छौंक देकर बनाई गई। लालमिर्च, नमक और घीके अतिरिक्त उसमें दूसरा कोई मसाला नही पड़ा था, किन्तु स्वादके बारेमें क्या कहना, उस वक्त कहना तो गुनाह होता, किन्तु मालूम होता था रामदीन मामाने डाकखानेके अपने अफ़सरकी दावतके लिए बकरीके पट्ठेका मसालेदार मांस तैयार किया है।

शामके वक्त हम देवदारोंकी छायामें पहुँचे। सामनेके अस्ताचलकी आड़में सूर्यके चले जानेसे, अन्धकार नहीं बढ़ रहा था, बल्कि मालूम होता था, सूरजके डरसे देवदारोकी घनी हरी छायाके नीचे छिपा अन्धकार सूर्यके बलको कमजोर देखकर धावा बोल रहा है। देवदारका विशाल वृक्ष, शिवालेके शिखर जैसा उसका नुकीला शिखर, सहस्रों भुजाओंकी तरह समकोणमें फैली उसकी शाखायें, हरी फुलवारी की पतली रेखाओ जैसी उसकी लम्बी-लम्बी पत्तियां और उसपरसे देवदारु जैसा आकर्षक नाम—देवदारुके सौन्दर्यने उस दिन अपने लिए 'वृक्ष-श्रीका मापदंड'

होनेका जो निर्णय स्वीकार कराया, उसे तीस साल बाद भी फिरसे विचार करनेकी मुझे जरूरत नहीं पड़ी। उस दिन उसके नीचेसे भीनी-भीनी निकलती खुशबूका जो आघ्राण मैंने किया था, वह देवदारसे सैकड़ों मील दूर रहते आज भी मुझे ताजा मालूम होता है।

आज जहाँ ठहरे थे, उसके आसपास जंगलातके ठीकेदारके आदमी देवदारके स्लीपर चीर रहे थे।

दूसरे दिन हम अधिकतर देवदारकी छायामें चलते गये। किसी नदीको आर-पार होना पड़ा याद नहीं। हाँ, एक जगह ऊपरके जानेवाले रास्तेको छोड़ दाहिनी ओर नीचेसे उतरने लगे, उस समय सुना कि ऊपरका रास्ता एक भयानक पुस्तसे गुजरता है, इसीलिए हम नीचेके रास्तेसे चल रहे हैं। कितनी ही दूर उतरनेके बाद काठका एक पुल आया, और उससे हम भोट गंगाको पार कर गये। अब फिर चढ़ाई शुरू हुई, और काफी दूर तक, किन्तु अब हम अभ्यस्त हो गये थे। आगे कहीं चौकीदारका घर मिला, जिसने हमें खबरदार किया, कि आग जहाँ-तहाँ न जलावें, जंगलमें आग लग जानेका डर है।

गंगोत्रीमें हम जिस घरमें ठहरे, उसमें सिर्फ साधु ही साधु थे, जिनकी संख्या आठ-नौसे ज्यादा नहीं रही होगी। बीचमें बड़े-बड़े लक्कड़ोंकी धुनी जल रही थी, और उसके किनारे अपने-अपने आसनोंपर सन्त लोग बैठे हुए थे, उनमें कुछ सिरसे लम्बी पिंगल जटा, देहमें अखंड भभूत और माला-लँगोटीके सिवा नंगे-मादरजाद थे, किसीके गर्दन तक पहुँचे भूरे बाल तथा कानमें स्फटिककी मुद्रा, किसीकी लाल लँगोटी और गर्दनमें काली ऊनकी माला, किसीका सर मुंडा और बदनमें लम्बी अल्फी। वेश-भूषामें भेद रहते भी एक बात सबमें साधारण थी, वह थी गाँजेकी साफी, और लम्बी चिलम। गाँजेकी एक चिलम हाथसे हाथमें चल रही थी, और उधर दूसरी चिलम तैयार हो रही थी। मालूम नहीं वहाँ गाँजा महँगा मिलता था या सस्ता, अथवा नेपालकी शिवरात्रिकी भाँति सदाव्रतमें मिलता था। चाहे कुछ भी हो, सो जैसे गाँजा निरन्तर देनेमें हर सन्त होड़ लगाये हुए था। गंगोत्री एक तीर्थमार्गका अन्तिम छोर था, इसलिए हर एक धर्मभीरु गृहस्थ यहाँ साधुओंको कुछ भोजन और दान-दक्षिणा दिये बिना नहीं रहता था। मैं नहीं समझता था, दो या तीन जितने दिन हम वहाँ रहे, हमें कभी रसोई बनानी पड़ी थी। रोज किसी न किसी माई-लालाकी ओरसे पूड़ी-हलुवा, पुआ, मिठाई सबके पास आती थी।

अब इधर मैं सन्तोंको बहुत नजदीकसे देख रहा था, और उनकी धुँआधार चिलमोंमें कभी मैं शामिल न हुआ था, उन्हें ब्रह्म-वेदान्तकी चर्चामें लीन भी मैं नहीं देखता था, तो भी मुझे उनसे घृणा और उदासीनता नहीं हुई। यह बात नहीं कि वेदान्त और वैराग्य मैं भूल गया था। जान पड़ता है, उनका वैचित्र्य

स्वच्छन्द जीवन, उनकी एक तलपर आपसमें मिल बैठनेकी भेदभावशून्य चाल, उनकी खाने-खर्चनेमें उदारता, उनकी मार्गके कष्टोंको आवाहन करनेकी बेकरारी और उनकी कलसे बेफिक्री इतनी ठोस चीजें थीं, जिनके कारण तसवीरके दूसरे रुखेपर मेरा ध्यान ही नहीं जाता था। छीलनेपर मैं अन्दरसे क्या कहूँ, यह तो मुझे पता न था।

गंगोत्रीसे गंगनाणी तक हमें फिर लौटकर आना पड़ा। अबकी बार लकड़ीके बिना कटघरेवाले पतले पुलसे हम गंगापारके गर्मकुंडमें नहा भी आये। मालूम नहीं उसी पुलसे या उससे नीचे किसी और पुलसे पार होकर हमनें केदारनाथका रास्ता पकडा। महीना शायद आषाढ़का होगा, नदीके ऊपरके खेत कट चुके थे। खेतोंमें गेहूँके लम्बे डंठल खड़े देखकर मुझे माजरा समझमें नहीं आया, पीछे मालूम हुआ, यहा बालें ही काटी जाती है—वर्षाका डर होनेसे बालें तो घरमें भी छिपाई जा सकती है। बूढ़ेकेदारनाथकेलिए हमें बराबर ऊपरसे ऊपर चलते रहना पड़ा।

बूढ़ाकेदार बहुत बड़ी बस्ती न थी; हाँ, उसके पास खेत बहुत थे। मन्दिरका स्मरण नही, यह याद है कि ब्रह्मचारीके लेक्चरोसे प्रभावित हो एक दिन रातको रोटीके वक्त मैं मधूकरी मांगने गया था। एक या दो द्वारोंपर गया, और हर घरसे छोटी-बड़ी एक-एक रोटी मिली, इसी वक्त कुत्ते भूंकते हुए टूट पड़े, वहींसे मैं उल्टा लौट पडा; और उसके बाद फिर कभी मधूकरी मांगनेका नाम नहीं लिया।

बूढ़ाकेदारके आगे मेरी तबियत कुछ अस्वस्थ हो गई। ज्वर आने लगा। एक या दो दिन आगे जानेपर मैं ब्रह्मचारीके साथ पैर मिलाकर चलनेमें असमर्थ था। ब्रह्मचारीको मैंने अपनी अवस्था बतलाई थी, किन्तु उनको उसका खयाल न हुआ। एक दिन मैं ४, ५ मील जाते-जाते आगे चलनेमें असमर्थ हो गया। पासमें एक ब्राह्मणका घर था। नीचे गाय-बैलके बाधनेका स्थान, और ऊपर आदमियोंके रहनेकी साफ़-सुथरी कोठरियाँ। घरके चारों ओर निकला बरांडा था। घरमें कोई नौजवान लड़का था, मेरी अवस्था देखकर उसने घरमें बुलाया। मुश्किलसे मैं सीढ़ीके ऊपर चढ़ पाया। वही बरांडेमें कम्बल विछाकर पड़ रहा। थकावट दूर होनेपर कुछ चित्त स्वस्थ मालूम होने लगा। वही घरमें मैंने तुलसीकृत रामायण देखी।—रामायणकी चौपाइयां यहाँ भी पढ़ी जाती है! दो घंटेके विश्रामके बाद ब्रह्मचारीके आगे बढ़नेकी चिन्ता बढने लगी। मैंने हिम्मत करके चलना ही पसन्द किया। मुश्किलसे मील भर जा सका हूँगा, कि पैरोंने फिर आगे बढ़नेसे जवाब दे दिया। चढ़ाईका रास्ता होनेके कारण शरीरको ऊपर ढकेलना बड़ा कष्टसाध्य मालूम हो रहा था। आगे गांव दूर होनेके कारण रास्तेसे थोड़ा नीचे गांवकी एक सूनी चौपालमें कम्बल डालकर पड़ रहा। थोड़ी देरमें प्यास बढ़ी तो सामान वहीं छोड़ वहांसे कुछ दूर चश्मेपर पानी पीने गया। इसी बीच ब्रह्मचारी

आये। उन्होंने मेरे आनेका भी इन्तिजार नहीं किया, पूछ-ताछकी तो बात ही क्या, अपना कम्बल—जिसे मैं ही ढो रहा था—लेकर चले गये। मुझे इस व्यवहारसे अफसोस तो हुआ; लेकिन करना क्या? ब्रह्मचारीसे उसके बाद फिर मुलाकात नहीं हुई। मैं अब उतनी तेजी चालसे चल भी नहीं सकता था।

दूसरे दिन रास्तेमें फाटाके तीन-चार गृहस्थ मिले। उनकी बड़ी तथा एक तरफ तिर्छी बँधी छीटकी पगड़ी, एड़ी तक पहुँचती दोकच्छी धोती और कानोंमें मोतीकी बालियां अब भी याद हैं। मंडलीके मुखियाकी बगलमें कानयालकी एक छोटीसी मशक लटक रही थी। उन्होंने अपने साथ भोजन बनाते-खाते चलनेकेलिए कहा। धर्मशाला-सदावर्तसे दूरके उस पथपर भिक्षा-जीवी व्यक्तिको इससे बढ़िया क्या बात हो सकती थी। हमारा एक पड़ाव गोरखियोंके झोपड़ोंमें पहाड़की रीढ़पर पड़ा। मैंने रसोई बनाई—नमक डाले आटेकी रोटी और उड़दकी दाल.......। बात छिड़ गई थी जंगलके बघेरोंकी। हमारे चारों ओर जंगल था, उसमें रीछ और बघेरे रहते थे। गोरखिया (चरवाहा) कह रहा था—बघेरेका बाप कोकी (जंगली कुत्ता) है। ये पचास-पचासका गिरोह बांधकर चलते हैं, और एक साथ हमला कर देते हैं। बघेरा भी उनसे नहीं बच सकता, गाय-भैंसकी तो बात ही क्या?

त्रियुगीनारायणसे पहिले वृक्षरहित किन्तु घाससे ढँके पहाड़पर पैरके अँगूठे जितनी मोटी काली-काली जोंकें दीख पड़ीं। जोंकोंसे मैं नहीं डरता, किसने लोग तो नन्हीं-नन्हीं जोंकोंसे भय खाते हैं, उनका तो दम ही इन केवल जोंकोंको देखकर निकल जावे।

त्रियुगीनारायण केदारनाथके रास्तेसे थोड़ा ऊपर हटकर है, किन्तु हर एक यात्रीकेलिए वहां जाना आवश्यक है, इस प्रकार यह प्रधान धर्मस्थल है। यहां यात्री-सम्प्रदायोंकी सदावर्त थी, किन्तु फाटेवाले सेठके साथ रहनेके कारण इस वक्त मुझे सदावर्तकी जरूरत नहीं थी।

त्रियुगीनारायणसे उतराई उतरकर फिर केदारनाथकी प्रधान सड़कपर आये। नदी पार करने वाला झूलेका पुल टूटा मिला। बगलमें अस्थायी रस्सीका पुल बँधा था। यात्री लोग सुनी-सुनाई बात कह रहे थे कि एक बार ही बहुतसे आदमी चढ़ गये, इसलिए झोंकेके मारे रस्सा टूट गया, कितने ही आदमियोंकी तो लाश तक नहीं मिली। उस रात हम गौरीकुंडमें ठहरे। बगलमें ठंडे गरमके कुंड बने, तथा पासके गर्म पानीके चश्मेमें लोग स्नान कर रहे थे। एक अच्छी धर्मशाला पासमें थी, जिसमें कोई नेपाली रानी ठहरी हुई थी। लोग भिक्षा मांगने जा रहे थे। भिखमंगोंका भला हुआ तो अभी कुछ मिला कि दूसरे पकवान बन पके, आखिर रानीकी सवारी और पैलगिया भी कोई पण्डित होता है। ऐसा-वैसामें मैं भी भिखमंग-जमातमें शामिल हो गया। 'माईजी कुछ मिल जाई'—संकोच और लज्जासे भरी

आवाजमें कितनी ही वार कहा होगा । यह भी स्मरण नहीं कि रानीजीकी ओरसे क्या-क्या दिलवाया गया था। जीवनमें दीनताके साथ भिक्षा मांगनेका यही मेरा आदिम और अन्तिम प्रयास रहा।

गौरीकुंडसे चढ़ाई चढ़ते हुए लामबगड़ पहुँचे । यहांसे केदारनाथ पांच-छै(?) मील है । केदारनाथकी सर्दीको इतना बढा-चढ़ाकर लौटे यात्री सुनाते थे, कि नये जानेवाले घवरा जाते थे। अधिकाश यात्री दोपहरको भी लामवगड़ पहुँचनेपर वहासे आगे नहीं जाते । डंडा-कुंडा वही रखकर साधारण कपड़ेके साथ केदारनाथ-जीके दर्शन करके शामतक लामबगड़ लौट आनेको हर एक यात्री पसन्द करता था। मेरे पास उतना सामान भी न था, जिसमेंसे कुछ छोड़ जाता, और दूसरे मैं यमुनोत्री की मार खाये हुए था, जिसका रास्ता और भी बीहड़ समझा जाता है।

लामबगड़से रास्ता नदी (मन्दाकिनी) की दाहिनी ओरसे चढ़ाई ही चढ़ाईका था, किन्तु चढाई उतनी कड़ी न थी । कुछ आगे जानेपर उपत्यका भी और चौड़ी हो गई । वर्फ़ पिघल चुकी थी, वर्षाके शुरू हो जानेसे पहाड़ोंमें चारों ओर हरियाली ही हरियाली दिखलाई पड़ती थी । लामबगड़से कितना आगेतक वृक्ष मिले, नही कह सकता; किन्तु अन्तमें वृक्षहीन घाससे ढँकी भूमि थी । चढ़ाई सीधी न होने-पर भी सांस बहुत फूल रही थी, लोग कह रहे थे, यह विषैली जड़ी-बूटियोंका प्रभाव है । मेरे भूगोल पाठने इसको प्रदेशके उन्नतांशसे जोड़ा या नहीं इसका पता नहीं । केदारनाथ वस्तीके पास पहुँचनेपर पुलसे हमें मन्दाकिनीके बाईं ओर आना पड़ा।

संयोगसे हमारे कोटेवाले सेठ किसी पंडाके मकानमें न ठहर, कालीकमली-वालेकी धर्मशालामें ठहरे । वस्तीके दूसरे मकानोंसे वह अधिक साफ़ और आराम-देह थी । दोमहला मकान था, और शायद टीन या स्लेटसे छाया हुआ । सीढीसे उतरनेपर दाहिना भाग—जो बायेंसे कम था—ऊपर-नीचे दोनों धर्मशालाके कर्म-चारियोंकेलिए सुरक्षित था, और बायां यात्रियोंकेलिए । शायद हम लोग बायें-वाले निचले भागकी किसी कोठरीमें ठहरे । अब हम प्रधान यात्रापथपर चले आये थे, जहां धर्मशालायें और सदावर्त सुलभ थे । मैं रसोई बनाते हुए सेठोंकी मंशासे चलना पसन्द न करता था । मुझे साधुओंकी मस्तानी यात्रा ज्यादा पसन्द थी; इसलिए यहांसे रसोईदारीके कामको छोड़ना तै किया । उसी दिन रातको ऊपर बरांडेमें रामायणकी कथा हो रही थी । शायद उसे पहिले दो-तीन साधुओंने शुरू की । गाना नहीं अर्थसहित चौपाईका थोडा स्वरसे पाठ । पाठ शायद कोई दूसरा करता था, अर्थ मैं कर रहा था। उत्तरकांडका ज्ञानदीपक प्रकरण या थोड़ी देरके बाद कुछ और महात्मा शामिल हो गये, जिनमें सदावर्तके अध्यक्ष उदासीन बाबा धर्मदास भी थे । थोड़ी देर चुप रहनेके बाद अर्थ करनेका काम उन्होंने अपने हाथमें ले लिया । अर्थ करते वक्त वह बीच-बीचमें उपनिषद्की श्रुतियां बोलने लगे।

उन्होंने आत्माके स्वरूपको 'अणुर्वो रणियान महितो महियान' श्रुतिवाक्यसे प्रतिपादन करना शुरू किया, तो मेरे ऊपर उनकी विद्वत्ताकी जो धाक पड़ी, उसे वर्णन नहीं कर सकता। मुझे क्या मालूम था, कि वह इतना अशुद्ध उच्चारण कर रहे हैं, और जिन श्रुतियोंको वह मौके-बेमौके फेर-फार दुहरा रहे हैं, वही उनकी बिना अर्थ समझे तोतेकी तरह रट रखी जिन्दगी भरकी पूजी हैं।

कथा समाप्त होनेपर महात्मा धर्मदासने मुझसे कुछ प्रश्न किये। साधु बननेके बारेमें पूछनेपर मैंने कहा—"साधु तो मुझे जरूर बनना है, किन्तु पहिले संस्कृत और वेदान्तग्रन्थोंको पढ़ लेनेके बाद।" उन्होंने कहा—"तो फिर हृषीकेश या हरिद्वारमें तुम रह क्यों नहीं गये?" "पढ़नेका सिलसिला कोई लगता दीख न पड़ा"—उत्तर देनेपर, बोले—"दो-चार दिन रहकर तलाश करनेपर लग जाना मुश्किल न था। अच्छा, तो तुम दो-चार दिन यहां मेरे पास रहो, चल आनेका इरादा छोड़ दो; फिर हम इसके बारेमें बातचीत करेंगे।" मेरे पासका कम्बल केदारनाथकी सर्दीके लिए काफी न था, इसलिए उन्होंने एक मोटी लोई दी। रातको मैं अपने साथियोंके यहां सो गया।

दूसरे दिन हमारे सेठ तो चले गये, और मैं ऊपर धर्मदासजीके बैठनेके स्थानमें गया। एक बरांडा था, जिसके पीछे दो कोठरियां थीं, जिनमेंसे एकमें सदावर्तमें दिया जानेवाला सामान—सारे सामानकेलिए नीचे गोदाम था—रहता; दूसरी कोठरीमें यात्रियोंके रात भरकेलिए उधार दिये जानेवाले लोई-कम्बलोंके अतिरिक्त धर्मदासजीका बिस्तरा था। दिनमें वह अधिकतर बाहर बरांडेमें अपनी कोठरीके सामने मोटे गद्देवाले आसनपर मोटी पट्टीके कोट-पाजामा तथा कनटोपको ओढ़े-पहिने लोईसे शरीरको ढांके पड़े रहते। जरा भी हवा होनेपर सामनेके जंगलेको बन्द कर देते, जिससे वहां अंधेरा छा जाता। सामने अंगीठीमें निर्धूम कोयलेकी आग भी पड़ी रहती। धर्मदासजी गांजा-तम्बाकू नहीं पीते थे। गुड़-घी-आटा-चावल-दालके साथ चाय भी यद्यपि सदावर्तमें बांटी जाती थी, किन्तु वे चायके भी ज्यादा आदी न थे, हां कभी-कभी एकाध गिलास पीते जरूर थे। सीढ़ीके पासवाले बरांडेके बाकी आधे भागमें सदावर्तमें दी जानेवाली चीजोंको रखे बांटनेवाले नौकर बैठते थे—जिनमें एकका नाम था रूपराम और दूसरेका याद नहीं।

३

हिमालय (२)

अगले दो-तीन दिनके वार्तालापमें मैं हुआ, कि मुझे पढ़नेकेलिए फिर बनारस नहीं लौटना चाहिए। सरका स्वारा मेरे दिलमें बना ही हुआ था। धर्मदासजीने

कहा—"यात्राका समय सितम्बर-अक्तूबर तक समाप्त हो जावेगा, फिर मैं हृषीकेश चलूंगा। उसी वक्त तुम भी चलना। बल्कि तुम्हारा बदरीनाथ दर्शन बाकी रहता है, वहा होते आ जाना। हृषीकेशमें मैं तुम्हारे संस्कृत पढ़नेका प्रबन्ध कर दूंगा। फिर पढ़कर तुम्हारी इच्छा हो तो साधु बन जाना।"

मुझे और क्या चाहिए था?

केदारनाथकी सर्दी सचमुच सख्त थी, गंगोत्री और यमुनोत्री उसके मुकाबिलेमें कुछ न थे। पहिले दिन तो बर्फसे तुरन्त पिघलकर आये मन्दाकिनीके जलमें मै भी नहा आया था, दूसरे दिन नहानेकेलिए जाते देख धर्मदासजीने आदमी साथ कर दिया, जो मुझे पूरब ओरकी पहाडीकी जडमें अवस्थित स्वच्छ स्फटिक जैसे पानीके चश्मेपर ले गया। वहांपर भी मैं एक ही दो दिन नहाने गया, पीछे देखा बाबा धर्मदास और उनके दोनों कर्मचारी सवेरे गर्म पानीसे हाथ-मुंह धोकर मंत्र स्नान कर लेते हैं। उन्होंने मुझसे कहा भी—'यहांकी सर्दी साधारण नहीं है। एक-दो दिनकी बात हो तो कोई परवाह नही, ज्यादा ठंडे जलमें नहानेपर बीमार हो जानेका डर रहता है।' उनके ब्राह्मण कर्मचारीने अपने अध्यक्षकी बातका समर्थन करते हुए कहा—"नीचे देशमें गंगाजलसे जितनी पापशुद्धि नही होती, उतनी यहां कैलाशखडकी हवाके शरीरमें लगनेसे हो जाती है।"

'बिल्लीके भाग्यसे छीका टूट गया'—तीन-चार दिनके हिमजलमें शरीर भिगोनेसे कैसा कष्ट हो रहा था, यह मैं ही जानता था। उसके बाद मैंने भी सहवासियोंका अनुकरण शुरू कर दिया। बाबाने मेरे लिए भी सफ़ेद पट्टीका एक मोटा कोट, ऊनी पाजामा, गर्म कनटोप दे दिया। चलने-फिरनेकेलिए गर्म मोजा और लाल लोधियानवी जूता भी मिला।

बाबा धर्मदास पंजाबी थे, लेकिन भारतके बहुत भागोंमें घूमे हुए थे। आयु उनकी ५४, ५५ की रही होगी। बोलने-चालनेमें वे बहुत चतुर थे। उस दिन कथा बांचनेमें चाहे श्रुतियोंके उच्चारण करते वक्त भले ही सरस्वती उनकी जिह्वापर बैठ गई हों, किन्तु बादमें वह पंडिताई नही दिखलाना चाहते थे। साफ़ स्वीकार करते थे, कि मैंने संस्कृत नही पढ़ी है। विचारसागर, रामायण, योगवाशिष्ठ जैसे कुछ भाषाके ग्रंथ भर पढ़े हैं। इस साफगोईका मुझपर बहुत असर पड़ा।

हरिद्वारके बादसे, या शायद पहिले हीसे मेरी त्रिकाल सन्ध्या मद्धिम पड़ी थी। यह क्यों?—यात्राकर्षणने वैराग्यपर अपना असर डाला होगा, या साधुओंकी रहनसहनसे अतिवादिता ढीली पड़ी थी, अथवा लगातार चलते रहनेसे फ़ुरसत कम मिलती थी। केदारनाथमें अब कुछ महीनोंके लिए स्थिर रहना था, इसलिए यहां फिर जीवनचर्यामें कुछ परिवर्तन करना था। रामायण, विचारसागर, गुरुमुखी पंचीग्रंथीके सिवाय बाबाके पास एक भाषाटीका शिवपुराण था। गुरुमुखी एक नई

लिपि थी, किन्तु दो-तीन दिनमें ही पंचग्रंथीके "१ ओम् सतिगुरप्रसाद..." को मैं पढ़ने लगा। विचारसागर और रामायण कई बार पढ़े हुए थे, इसलिए उनपर ज्यादा समय नहीं दे सकता था; हाँ, दोपहरको खानेके बाद दो-तीन घंटा शिव-पुराणका पाठ करता था। संस्कृतके श्लोक पढ़ जाता, फिर उसकी हिन्दी-टीका-को। जब तब ही संस्कृतका कोई शब्द समझमें आता था, किन्तु हिन्दी भाषान्तरसे काम चल जाता था। कथाके वक्त बाबाजीके अतिरिक्त दो-एक ग्रामवासी पंडा और कर्मचारियोंमेंसे भी कोई रहता था। खैर, वहाँ कथा सुनानेसे मुझे विशेष प्रयोजन नहीं था, मैं कथाका रसास्वादन ले रहा था। अनजाने बेलके वृक्षसे गिराये पत्तोंके विस्मृत अलक्षित शिवलिंगपर पड़ जानेसे घोर पापीको शंकरके दूत स्वर्ग ले जानेके लिए आये—इस कथाने मेरे दिलमें शंकरके प्रति श्रद्धातिरेक पैदा किया हो, सो बात नहीं थी। मुझे तो उसके पढ़नेमें उसी तरहकी दिलचस्पी पैदा हो रही थी, जैसी "हातिमताई" और "आराइशे-महफिल"को कई वर्ष पहिले बचपनमें पढ़ते वक्त।

पुस्तकपाठ और बाबासे धर्म तथा वेदान्तपर बातें सुननेके अतिरिक्त मेरा काम था, आसपासके पहाड़ोंपर घूमने जाना। सारी निचली उपत्यका और पूरब-वाली दूर तक चली गई अधित्यकामें हरी घास तथा रंग-बिरंगे फूलोंसे लदी जड़ी-बूटियोंका कालीन बिछा हुआ था। अक्सर नाथूरामके साथ मैं घूमने जाता था। ऊपरकी अधित्यकापर, कितनी ही बार भीमकी ओर वहाँ तक गया, जहाँ छोटे-छोटे वृक्ष शुरू हो जाते हैं। ऊपरकी ओर सतत शुरू होनेवाले पहाड़ोंसे बहुत आगे तक कई बार गया। पहिली बार हम दोनों उधर जा रहे थे, तो भेड़ोंके झुंडसे एक अधेड़ आदमीने आवाज दी। नाथूराम गये। लौटकर बोले—"इधरसे आगे जाना मना है। पाण्डव लोग इसी रास्ते हिमालय गलने गये थे। कितने लोग इधरसे जाया करते थे—रास्तेमें गल गये, तो मरनेके बाद, नहीं तो सशरीर ही स्वर्ग पहुँच जाते। ...हाँ, स्वर्ग इधर ही है। प्रधान पूछ रहा था, आप सशरीर तो नहीं जाना चाहते। सरकारकी ओरसे मनाही है।"

'सशरीर'का शौकीन तो मैं नहीं था। 'स्वर्ग इधर ही है'के खिलाफ मेरे भूगोल-ज्ञानने कितना विद्रोह किया था, यह मुझे याद नहीं। हमने एक बड़ी चट्टानपर सिन्दूर तथा दूसरे चिह्न बने देखे। नाथूराम कह रहे थे, कि पुराने स्वर्ग-यात्री यह अपना चिह्न छोड़ गये हैं। लौटते वक्त हम सुन्दर-सुन्दर फूलों और पत्तियोंका गुच्छा बनाकर लाते थे।

पहिले रोज, और पीछे सोमवारके सोमवार तो केदारनाथके दर्शनको जाता था। मन्दिर पत्थरका तथा अबतकके हिमालयमें दिखाई पड़े मन्दिरोंसे बड़ा था। काल और शिल्पकी बातें याद नहीं, किन्तु मन्दिर विशाल था। सामने

मन्दिरके बाहर सभा-मंडप न था। भीतर लिंगके स्थानपर अनगढ़ पत्थरका महिषपृष्ठाकार लिंग था। कथामें सुना भी था, कि शंकरजीको भैंसाका रूप धरके इसी उपत्यकामें चरनेकी बात सुन पांडव पकड़ने आये। भीम दोनों पहाड़ोंपर पैर रखकर खडे हो गये, जिसमें कि पैरोंके नीचेसे जो भैंसा न जावे, उसे शंकरजी समझकर पकड़ लिया जावे। शंकर सचमुच ही हिचकिचा रहे थे। पांडव लपके पकड़नेको, किन्तु उसी जगह शकर अन्तर्धान होने लगे, पीठ भर धरतीमें डूबनेको रही, वही यह केदारनाथ महादेव है, जो द्वादश ज्योतिर्लिंगोंमें एक है। शंकरका चढ़ा प्रसाद—शिवनैर्माल्य—खाना वर्जित है, यह मैं लड़कपनसे सुनता आया था; किन्तु यहा अक्सर शिवजीके प्रसादको रावल (केदारनाथके दक्षिणी प्रधान-पुजारी) के यहांसे आते देख मैंने बाबासे पूछा, तो उन्होने कहा—ज्योतिलिंग और नर्मदेश्वर (नर्मदा नदीसे निकले) के प्रसादके ग्रहण करनेमें कोई हर्ज नही है। मन्दिरके रावलजीकी भांति कालीकमलीवाले बाबाकी सदावर्तके अध्यक्ष बाबा धर्मदास भी केदारनाथके प्रमुख व्यक्तियोमें थे। रावल भी अक्सर उनके यहां आया करते थे। सावनके महीनेमे केदारनाथकी पूजा खास तौरसे की जाती थी। उस वक्त एक तरहका कमल ("हिमकमल") बहुत चढाया जाता। हमारे बाबा भी आदमी भेजकर हर सोमवारको टोकरे भर कमल मँगवाते, और बड़ी भक्तिभावसे चढ़ाते थे। "परसे तुहिन तामरस जैसे"—यह चौपाई मुझे याद थी, और यहां हिमालयमें कमल होनेपर मुझे बड़ी आपत्ति थी; किन्तु लोग उसे कमल ही कहनेका आग्रह करते थे, और बतलाते थे, कि बर्फ़के गल जानेपर पच्छिमवाले पहाड़के पीछे एक विशाल झीलमें वह पैदा होते है। पच्छिमवाली झीलको देखने तो मैं नही जा सका, किन्तु उत्तर तरफ एक दिन नाथूरामके साथ बहुत दूर तक गया था। वहां, हवाके पतली होनेके कारण सांस लेनेमें तकलीफ़ होती थी। हम उस बर्फ़को भी पार कर गये, जिसके नीचेसे मन्दाकिनीकी धार आ रही थी। आगे एक ईषद्-हरित साफ़ पानीकी छोटीसी झील मिली। मैं थक गया था, इसलिए एक चट्टानके ऊपर लेट गया, और नींद भी आ गई; किन्तु नाथूराम आगे घूमने गये। उनके लौट आनेपर हम लोग साथ ही बस्तीमें लौटे।

केदारनाथमें जानवरोमें गाय-बैलके अतिरिक्त टट्टू और कुत्ते भी काफ़ी थे, टट्टू सामान लानेकेलिए थे। डंडी, झप्पान या खटोलेपर तो किसी-किसीको चढे मैंने जरूर देखा था, किन्तु घोड़ेपर चढ़े किसी यात्रीको देखा हो इसका ख्याल नही आता। कुत्तोंकी गर्दनोंमें चार-छै अंगुल चौड़े लोहे या पीतलके पट्टे थे। लोग बतला रहे थे, इसके रहनेसे कुत्ता बघेरेके काबूमें नहीं आता।

केदारनाथमें रहते मुझे दो या तीन हफ्ते हो गये थे, इसी समय मैंने अँधेरी जगहमें अपने आसनपर बैठे देखा, एक साधूके साथ एक लड़का—हा, दूसरा नही मेरा

बालमार्गी यागेश—सदावर्त लेने आया। उसके पास दोसे अधिक पुंजियाँ थीं। सदावर्त देनेवाला कर्मचारी बिना आदमी देखे, सदावर्तका सामान देनेकेलिए तैयार नहीं हुआ। साधुने यागेशको साथियोंके पास उन्हें लिवा लानेकेलिए भेजा। यागेशके मोदीसे उतर जानेके बाद मैं भी चुपकेसे उतरकर पीछे हो लिया। यागेशके पास एक धोती, एक सूती कुर्ता या कोट था, सिर और पैर नंगे थे; और मैं सिरसे पैरतक गर्म कपड़ोंसे लदा था। दो-तीन सप्ताहके निश्चिन्त रहने तथा खाने-पीनेके आरामके साथ शरीरमें वैसे ही नया खून आ गया था, ऊपरसे सम्भ्रान्त पोशाक और लोगियानकी ल्हलजुती और भी बतलाती थी, कि कोई अमीरका लड़का है। यागेश जब अपने साथियोंके रहनेकी जगहपर पहुँच गये, तब मैंने कहा—'यागेश!'

यागेशने पीछे मुड़कर मुझे देखा। दोनों तरफके आनन्दका ठिकाना न रहा। हममेंसे किसीकी आँखोंमें आनन्दाश्रु आये—नहीं कह सकता। और बात करनेको तो अब सारा समय अपना था, इसलिए उस प्रसंगको बिना छेड़े मैंने उन्हें साथ चलनेकेलिए कहा। यागेशने सदावर्तसे लाये सन्देशको अपने साथियोंसे कहा या नहीं, किन्तु जब उन्होंने उनसे कहा—'मेरे भाई मिल गये, इन्हींकी खोजमें मैं घरसे निकला था, वह बाहर खड़े हैं।' मुखिया साधुने झाँककर मुझे देखा, तो घबड़ाये हुए भागकर यागेशके गलेसे कण्ठी उतारने लगा, उतारनेमें देर देखकर उसे तोड़ लिया। जिस कण्ठेपर यागेशसे जब मैंने कारण पूछा, तो बतलाया—वह घबरा गया, कि कहीं इनका भाई जबर्दस्ती चेला बनानेकी बात पुलीससे कहकर फँसा न दें। हम लोग उसके भंगिनयार हँसते धर्मशालाकी ओर चले। मैंने कर्मचारीसे कह दिया—'हाँ, इन्हें पुंजीके मुताबिक सदावर्त दे दो, मेरा यह भाई इन्हींके साथ आया है।' मैं भी तो उनका उपाध्यक्षसा था, फिर वह मेरी बात क्यों न मानते।

कुछ खिलाने-पिलानेके बाद यागेशने सारा किस्सा सुनाया। कैसे मेरी उन्हीं चिट्ठीको उन्होंने पढ़ा, और कैसे अमावस आकर पूरा साहबने वह चिट्ठी उनसे छीन ली। कैसे बेसरोसामानीकी हालतमें सब आस बनाकर घरसे निकले, कैसे कहीं थोड़ी दूर रेलसे और कहीं थोड़ी दूर पैदल चलते हरिद्वार पहुँचे। कैसे विष्णुदत्त पंडित (?) ने मेरे बदरीनाथसे लौटकर यहीं आनेकी बात कह उन्हें भी रखना चाहा, और किसी तरह वह भी पण्डितजीकी बनावटी बातोंसे असन्तुष्ट हो चलनेपर मजबूर हुए। रास्तेमें उन्हें गाजीपुर जिलेकी यह कुसंग-साधु-मण्डली मिल गई, और उनके साथ वह यहाँतक पहुँचे। मैं भी समझता था, यागेशको कितना कष्ट हुआ होगा, खासकर मेरे जैसा उनके पास वेदान्त और वैराग्यका बल न था, वह सिर्फ प्रेम और कुछ देशाटनके लोभसे निकलकर ही इतने कष्टको सहनेकेलिए तैयार हुए थे। मैंने भी अपना सारा विवरण कह सुनाया। बाबा धर्मदाससे मैंने काशी

्या कही। उन्होंने कहा–'अच्छा है; दोनों भाई चलो हृषीकेश, वहीं संस्कृत पढ़ना, ौर साधु बन जाना।' साधु बननेके बारेमें मैं तो कुछ 'ननु' 'न च' भी करता था, किन्तु यागेश अपनेको एकदम तैयार जाहिर करते थे। हां, वह मेरे सामने जरूर कहते थे–'मां याद आती है, भैया! चलो घर चले चलें।' किन्तु, मुझपर तो ो दूसरी ही सनक सवार थी। मैं कोमल किन्तु स्थिर शब्दोंमें यागेशको उस ातसे रोकता था।

केदारनाथमें भुना चना रुपयेका दो सेर, अर्थात् करीब-करीब घीके बराबर बिकता था। इससे भी ज्यादा आश्चर्यकी बात मुझे यह मालूम हुई, कि आटा और ूडी दोनो एक भाव–शायद छै आने सेर–बिकते थे। कारण पूछनेपर बतलाया ाया–सभी हलवाई चढ़ा-ऊपरी कर रहे हैं, और इसमें घाटा भी नहीं है, क्योंकि ूड़ी आटेसे ड्योढी हो जाती है, और उसी वृद्धिमें घीका दाम तथा थोड़ा नफ़ा भी निकल आता है। पूडी खाकर पेटकी खराबीको मैंने देख लिया था। केदारनाथमें पहाड़ी लोग भी उससे डरते थे। सवेरेके वक्त हम हलवा बनाते थे, घी-गुड़-आटेकी वहां कमी न थी। हलवा बनानेकी कला मुझे बाबा धर्मदासने बताई थी। यागेश-के आजानेपर तो हम दोनों बना लिया करते थे। बाकी वक्तका खाना दोनों कर्म-चारियोंमेंसे कोई बनाता था। दोपहरको क्या खाते थे, यह तो याद नहीं, किन्तु रातको खाना खाने हम नीचे जाते थे। केदारनाथमें अरहर या उड़दकी दाल नहीं मिलती थी, न भात ही सीझता था; हमारी दाल मसूरकी होती। तरकारीके लिए आलूकी फसल तैयार होनेमें देर थी, उसकी जगह प्याजकी तरकारी बनती थी। कभी-कभी जंगलका कोई साग भी बन जाता। रोटीमें घी चुपड़कर खानेसे डरते थे, उसकी जगह आटा गूधते वक्त कुछ घी मिला दिया जाता। दालको घीसे छौंकनेमें कोई आपत्ति न थी। सामग्रीके परिमित होनेपर भी भोजन सुस्वादु होता था।

यागेशके आनेके बाद हम एक मास या अधिक केदारनाथमें रहे। दिनचर्यामें शायद कोई परिवर्तन नहीं हुआ। जाड़ोंमें बदरीनाथकी सारी बस्ती उजड़कर नीचे चली आती है, यात्रियोंका आना रुक जाता है, वहाकी भूमि सारे मन्दिर-मकान बर्फसे ढँक जाते हैं, और जानकारोंके कहे अनुसार–छै महीनेका भोग-आरती देवता लोग किया करते हैं, पंडा लोग उसके लिए सामान मन्दिरमें बन्द कर जाते हैं; पट खुलनेपर देखा जाता है, सारी सामग्री खतम हो गई है, मन्दिरसे धूपकी ताजी सुगन्ध आ रही है। अब पट बन्द होनेमें तीन-चार सप्ताह बाकी थे–इतना ही समय जिसमें कि इधर हम बदरीनाथ होकर हृषीकेश लौटते, और उधर बाबा धर्मदास भी सदावर्त-धर्मशाला बन्दकर वहां पहुँचते।

पूर्व-निश्चयके अनुसार एक दिन पहिनने-ओढ़नेके कपडे तथा रास्तेके खर्चके

लिए पैसे देकर बाबाने हमें बदरीनाथकी ओर रवाना किया। उस वक्त मुझे जरा भी विश्वास न था, कि बाबा परमंदाससे यह आखिरी मुलाकात है। पिछले डेढ़-दो महीने मुझे बहुत कम ही चलना-फिरना पड़ा था, किन्तु रास्ता अभी बहुत दुर्गम नीचेकी ओरका था। गुप्तकाशीके पासतक हम श्रीनगर-केदारनाथके रास्तेसे आये। गुप्तकाशीके छोटे गांव तथा साधारण मन्दिरको देखकर तो मुझे काशी नामके साथ परिहाससा मालूम हुआ। उतराई उतर, नदी पार हो आगे बढ़े। ऊखीमठको देखकर, पहिलेके पढ़े हुए गुप्तवाणके बाणासुर और उषाकी कथा याद आ गई। वहांसे और आगेके एक पड़ावकी अब भी स्मृति है, वहां भेड़ों-गायोंका गोष्ठ था। मच्छर बहुत लगते थे, और बनारसकी ओर 'ही' कहकर जैसे भैंसको पुकारते हैं, वहां उसकी जगह 'दी' या कोई दूसरा शब्द इस्तेमाल करते थे। तुंगनाथ जानेकी लालसा तो थी, लेकिन जब उसके लिए दुरूह पर्वतपथसे आगे आसमानपर चढ़नेकी बात सुनी, तो वह ढीली हो गई। चमोलीके पास गंगाका लोहेका झूला उसी साल टूट गया था, और लोग बल्लमें बने रस्सोंके झूलेके बारेमें तो उतना नहीं किन्तु इस विशाल रस्सीके झूलेको देखकर मैं पहाड़ियोंकी चतुराईको बहुत सराहता था।

यहांसे आगे हम हरिद्वारसे सीधे बदरीनाथ आनेवाले रास्तेपर थे। यह सड़क काफी चौड़ी थी। बरसातमें कहीं-कहींके पुल टूट गये थे, किन्तु मालूम होता था, सरकारकी ओरसे सड़ककी मरम्मतपर काफी ध्यान दिया जाता है। यात्री और साधु भी ज्यादा थे। कहीं-कहीं पके आड़ू खानेको मिले। चने-भाड़े लिए किसी चट्टीपर पहुँचते, तो बनिये झट कह उठते—'भैया! खिचड़ी बना लो।' मेरे बदनमें आग लग जाती। बाबाजीके साधु-भोजनोंमें खिचड़ीका स्थान अभी ज्योंका त्यों था, यद्यपि बछवलमें मैं खिचड़ी खा लेता था, क्योंकि वहां बनाये हुए फुलके और आसानीसे साथ उसे हमजोलियोंके साथ बैठकर खाना होता था। मैं बनियोंको डांट देता; यद्यपि मेरी समझमें ठीक आता था, कि बनिये मुझे खिचड़ीके लिए ऐसा नहीं कहते हैं। खिचड़ी बनानेमें कम मेहनत और जल्दी होती है, इसी ख्यालसे उनका यह प्रस्ताव होता—साथ ही खिचड़ी उन्हें रुचती भी थी, इसमें सन्देह नहीं। मालूम नहीं, बदरीनाथके रास्तेमें आज जो बस चली, हमारी समय कायम हुई थी। जोशीमठ (ज्योतिर्मठ) की कोई खास बात याद नहीं है, उस वक्त यह भी ख्याल अंकित न था, कि यह शंकराचार्यके स्थापित चार प्रधान मठोंमेंसे एक मठ है।

जोशीमठसे आगे उतराई उतरकर कोई नदी पार करनी पड़ी, फिर अलकनन्दाके किनारे ही किनारे बदरीनाथ तक गये। बदरीनाथसे कुछ मील पहिलेसे ही

पर्वत वृक्षोंसे शून्य हो गये थे, आगे हरी घास थी। पहाड़ोंकी दूरकी चोटियोंपर बर्फ़ दिखलाई पड़ती थी, नही तो और कही उसका नाम न था।

बदरीनाथकी कालीकमलीवाली धर्मशाला केदारनाथकी अपेक्षा बड़ी थी। वहाके अध्यक्ष एक गरीबदासी साधु थे। उनका महंतों जैसा लम्बा कद, गोरा रंग, मोटा बदन था। सिर-दाढ़ी मुड़ी तथा शरीरपर गेरुआ कपड़ा था। उमर ३५-४० सालकी होगी। धर्मदासजीसे यह ज्यादा पढ़े-लिखे थे, किन्तु उसे विशेष जाननेका मुझे मौका नही मिला। केदारनाथसे हम उनके लिए चिट्ठी लाये थे, और उन्होंने ठहरने और भोजन आदिका ठीक प्रबन्ध कर दिया। लेकिन जब उन्हें मालूम हुआ, कि हम हृषीकेश लौटकर बाबा धर्मदासके साथ रहनेवाले हैं, तो उन्हें यह बात पसन्द न आई। उन्होंने हमें मना करना शुरू किया–'पढनेवाले नौजवानों-को साधुओंके फेरमें नही पड़ना चाहिए। बाबा धर्मदास खुद पढ़े-लिखे नहीं हैं, वह विद्याकी क्या कद्र करेंगे। चेला बना लेंगे और कहेंगे 'मूंड दिया मांग खाओ'।" उनका उपदेश चलता ही रहा, उसमें कितना अंश हमारे प्रति सद्भावनासे प्रेरित था, और कितना ईर्ष्यासे यह मै नही कह सकता। मैं बराबर उनकी सम्मतिको अपने भीतर जानेसे रोकता था, किन्तु यागेश तो मानों उससे भी पहिलेसे इस बात-केलिए तैयार बैठे थे। उन्होने भी जोर देना शुरू किया–'नही, भैया! चलो बनारस ही, साधुओंका ठिकाना नहीं। असहमत होनेपर न जानें क्या कर बैठे। हृषीकेश हमने देखा नही है क्या? वहां कहां पंडित हैं?"

बदरीनाथकी बस्ती बड़ी थी। मकान सख्यामें अधिक तथा अच्छी तरहके बने थे। छतोंपर खपड़ैलकी जगह लकड़ीके पटरे थे, जिनके नीचे भोजपत्रकी छाल बिछी थी। तप्तकुंडके होनेसे यहां नहानेकी बड़ी मौज थी। बदरीनाथके मन्दिर और मूर्त्तिका मुझे कोई स्मरण नहीं। वहां दाढ़ी-मूंछरहित लाल मुंहवाले कितने ही मजदूर और उनकी स्त्रियां दीख पड़ी। लोग उन्हें मारछा कह रहे थे। गंगोत्री-के पास मिले लामासे उनकी सूरत कुछ मिलती थी, यद्यपि वे उतने कद्दावर न थे; तो भी उस वक्त इन नरनारियोको देखकर मुझे कोई खास जिज्ञासा नहीं पैदा हुई। सुना, इनकी बस्तियां और ऊपरतक है। कुछ मीलपर वसुधारा तीर्थ था। एक बार जानेकी इच्छा हुई, किन्तु न जाने क्यों नही जा सके। बदरीनाथमें बस्तीसे बाहर ज्यादा नहीं घूमे-फिरे। धर्मशालाके रसोईघरमें एक बड़ा तवा था, जिसपर एक साथ दस-बारह फुलके डाले जा सकते थे। ऐसे तवेके देखनेका यह पहिला अवसर था, इसलिए कुछ कौतूहल हुआ। यहां सीरा-पूड़ीकी जगह सीरा-रोटीका भोज होता था, मालूम होता है यहांवाले भी पूड़ीसे वैसे ही डरते थे, जैसे केदारनाथवाले। बदरीनाथमें तीन-चार दिनसे अधिक हम नहीं ठहरे। अध्यक्ष महाशयके उपदेशोंके कारण मेरा मन वहां नही लगता था।

केदारनाथ छोड़ते वक्त तक तै नहीं हो पाया था, कि हमें बाबा धर्मदासके पास नहीं रहना है। यह बात पहिले तै हुई होती, तो उनसे हम कहकर आये होते, किन्तु अब तो उनसे मुलाकात हृषीकेश हीमें हो सकती थी। यागेश मुझे वहाँ तक जाने देनेकेलिए तैयार न थे। उन्हें डर था, और इसमें सच्चाई भी थी, कि एक बार हृषीकेश पहुँच जानेपर मैं वहाँसे न हटूँगा—बनारस जानेमें मैं ज्यादा शंकित था। यद्यपि हमें उस वक्त मालूम न था, और बदरीनाथवाले महात्मा साफ़ इन्कारी थे, तो भी हृषीकेशके साधुओंमें संस्कृतज्ञ कुछ अवश्य थे। बदरीनाथमें ही हृषीकेश न जानेकी बात न तै हो पाई, किन्तु उसके अन्तिम निर्णयकेलिए अभी काफ़ी समय था। हृषीकेश और रामनगरका रास्ता अभी कई दिनोंतक सम्मिलित था।

चमोलीके पासतक हम अपने गये रास्तेसे लौटे। अलकनन्दाके रस्सीवाले पुलपर चलते वक्त कुछ रोमांच होता था, खासकर नीचे धारकी ओर नजर जानेपर; किन्तु यह रोमांच उतना भय-सञ्चार करनेवाला न था, जितना कि गंगोत्रीसे लौटते वक्त भैरवघाटीमें भोटगंगाके ऊपरके पुलसे सैकड़ों फीट नीचे सफेद पानीकी धार तथा हिलते हुए लोहेके पुलको देखकर होता था। शायद जब कर्णप्रयागसे हरिद्वारवाला रास्ता छूटा, तबतक मैं भी बनारस लौटनेकेलिए तैयार हो चुका था। हम जितना ही नीचे उतरते जाते थे, उतनी ही गर्मी बढ़ती जाती थी, और पहाड़ों-पर गाँव भी अधिक दिखलाई पड़ते थे। चलनेकी गति हमारी तेज होती गई और अन्तिम दिन—जिस दिन कि रामनगर पहुँचे—हम एक दिनमें चालीस मील चले।

४

काशीको

रामनगरमें, अब हम मैदानमें थे। बरसात अभी-अभी समाप्त हुई थी, किन्तु धरतीपर अब भी उसका असर बाकी था। पहाड़से उतर आनेपर भी अभी हम तराईमें थे; यहाँ बरसाती गुमसीके कारण कहीं ज्यादा गर्मी आती थी। हम सड़क पकड़े पैदल ही काशीपुरकी तरफ चले। ठंडी जगहसे आनेके कारण धूप बहुत गरम मालूम होती, और प्यासके मारे तो मुँह हर वक्त सूखा रहता। रास्तेमें हुए किसी समृद्ध आदमीने मुसाफिरोंकेलिए एक धर्मशाला बनवा रखी थी। उसके हातेमें अमरूद लगे हुए थे। दूसरे भोजनके व्यवहार का अभावमें अमरूद हमें अच्छे लगते थे। धर्मशालामें ठहरे यात्रियोंको अमरूद नीचे देखकर खाते का-

लाये अनुसार हम भी मट्ठा लेने गये, गृहस्थके घर वह घड़ेका घडा तैयार था। गायें ज्यादा थीं, मट्ठा घरभरके पीनेसे खतम होनेवाला थोड़े ही था।

रास्तेमें ठहरते या कैसे एक दिन शामको हम काशीपुर पहुँचे। उसी दिन भादोंकी कन्हैयाजीवाली अष्टमी थी। एक भगत बड़ी श्रद्धा दिखलाते हुए अपने घर ले गये। भूख तो लगी थी, किन्तु आधीरातको कृष्णजन्म हो जानेपर पेट भर प्रसाद मिलेहीगा, इस आशापर हम बैठे रहे भगतजीके यहां काफ़ी रोशनी बल रही थी। एक तरुण साधु पिटारीमें कई सांप लिये हुए आया, उसने उनमेंसे किसीको शिरपर, किसीको गलेमें, किसीको हाथमें लपेटकर शंकर बनके दिखलाया। मनोरंजन होते-हवाते आधीरात बीत गई, कन्हैयाजीका जन्म भी हो गया, किन्तु वहा एक चम्मच चरणामृत और चुटकीभर पंजीरीके सिवा और कुछ न था। भूखके मारे नींद नही आई। सबेरे बासी सूखी रोटियां सो भी आधपेट मिलीं। कहीं उसी तरहके 'श्रद्धालु भगत' दूसरे न आ मिलें, इसलिए हमनें जितना जल्दी हो सका कस्बेसे बाहर हो ठाकुरद्वारका रास्ता लिया। हम दोनोके अतिरिक्त शायद कोई तीसरा भी सहयात्री था। किसी कूएँपर जंजीर या रस्सीके साथ बँधी हुई डोलको देखकर मुझे यह प्रथा बड़ी अच्छी मालूम हुई, यद्यपि वह स्वयं-प्याव मुसलमानों हीके लिए था।

ठाकुरद्वारमें कुछ बड़े धनी वैश्य परिवार रहते है। उनके बड़े-बड़े पक्के घरोंको सिर्फ़ बाहरसे देखते हम लोग सीधे मन्दिरमें गये। वहां ही आगन्तुकोंके उतरनेका इन्तिजाम था। रातको तो मैं सो गया, लेकिन यागेश जगे थे, और एक नौजवान साधुके नाचने-गानेकी बड़ी तारीफ कर रहे थे, शायद ठाकुरद्वारमें जन्माष्टमी आज थी—सभी पर्व हिन्दुओंके दो दिन पड़ा भी तो करते है?

ठाकुरद्वारसे हम मुरादाबाद आये और शायद पैदल ही। वहां रामगंगाके किनारे एक वैरागी साधुके मठमें ठहरे। पाठकजीसे भेंट हुई। मैंने बतलाया कि किस तरह हरिद्वारसे हताश होकर हम बनारस लौटे जा रहे हैं, साथ ही बाबा धर्मदासका भी जिक्र आया। पाठकजीने बातों-बात यह जिक्र दसकमंडलू जमा करके साथ चलनेवाले नौ दूसरे साथियोंके इन्तिजारमें वैराग्य सेवन करनेवाले साहुजीसे कह दिया। उनके भाई और मांके षड्यन्त्रमें पड़कर बिना सूचनाके मेरा भाग जाना उनको बुरा लगा था, अब उन्होंने समझा, बाबा धर्मदासको बिना कहे चला आना मेरा अक्षन्तव्य अपराध था। मेरी अनुपस्थितिमें उन्होंने मठके बूढ़े महन्तसे आकर कहा, कि इन दोनों लड़कोंको अपने मठमें न रहने दें। खैर! [हम लोग वहा बसनेकेलिए नही गये थे, इसलिए हम हर वक्त चलनेको तैयार थे। महन्त कह रहे थे—शहरके बड़े आदमी हैं, उन्हें नाराज करना अच्छा नहीं है।

फिर वही सीधी सड़क पकड़ी, जिससे ४ महीने पहिले मैं गुजरा था। नहीं

की सूचना दी थी, यह याद नहीं। किसी दर्बारमें जानेकी उन्हें जरूरत नहीं पड़ी। शायद लिखित कविताको भीतर भेज देना पड़ा था, या राजा साहबने बाहर निकलकर उसे ले लिया था। उम्मीद करके चले थे, बनारसकेलिए दो रेलके टिकटोंकी, लेकिन 'सविनाश' को यहां थैली मिली। लौटती वक्त हमें फिर वही बूढ़े सज्जन दिखलाई पड़े। पूछनेपर हमने कहा—हम बनारस जाना चाहते हैं, यदि आप वहां तकका टिकट दिलवा दें, तो अच्छा। उस वक्त तो उन्होंने इन्कार किया; किन्तु जब हम स्टेशनपर गोलागोकर्णनाथकी गाड़ीका इन्तिजार कर रहे थे तो, उनका आदमी आया। 'कहां जाओगे' पूछनेपर हमने बतलाया—जाना तो चाहते थे अयोध्यातक, किन्तु टिकटका पैसा नहीं है, इसलिए गोलागोकर्णनाथ जा रहे हैं। शायद गोलागोकर्णनाथका टिकट भी हम कटा चुके थे। उसने टिकट बदलवाकर फैजाबादतकके दो टिकट हमारे लिए खरीद दिये।

फैजाबादसे अयोध्या जा हमने शायद एक ही दिनमें दर्शन-पर्शन खतम कर आगेका रास्ता नापा। रास्तेमें पैकोलीके पोहारीजीके मठमें भंडारा था। हमें भी एक-एक अँगोछा दो या तीन बड़े-बड़े लड्डू बांधकर मिला। अब हमारा रुख था बनारसकी ओर, जौनपुरके रास्ते पैदल।

अब भी हम लोगोंमें लड़कपन था। एक दिन हम रास्तेसे जा रहे थे, तो एक आदमी भी कुछ भीतोंसे उसी रास्ते चला आ रहा था। उसके शरीरमें एक-दो घाव थे, जो अभी हालके मालूम होते थे। हमने उससे कहा—क्यों किसीको मारकर भागे जा रहे हो क्या? उसने जवाब नहीं दिया। दूसरी या तीसरी बार दुहरानेपर वह हमें मारने दौड़ा। अब परिस्थितिकी गम्भीरता मालूम हुई, और बोलते तो वह मारे बिना नहीं छोड़ता। वस्तुतः वह मारपीट करके ही भागा था, शायद पुलीसके डरसे।

सेनापुरसे पहिले एक बागसे हम लोग गुजर रहे थे, उस समय कुछ औरतें आपसमें कह रही थी—'हे ! यहां पुआर एक साईं लेटा पड़ा है।' आगे और क्या कहा, यह तो मुझे स्मरण नहीं रहा, किन्तु साईंका नाम सुनते एक पुरानी बात याद आई और मन कुछ शंकित हो उठा। रानीकीसरायमें मैं जब पढ़ा करता था, तो प्रयाग माघ-स्नानकेलिए पैदल जानेवाले हजारों यात्री—स्त्री और पुरुष दोनों—इसी सड़कसे गुजरते थे। पुरुषोंके पीठपर और स्त्रियोंके सिरपर आटा-सत्तूकी गठरी होती, हाथमें लोटा-डोरी, कन्धेपर कम्बल या सिरोरी। पैरोंमें जूते बहुत कमके होते। इन्हीं प्रयाग-यात्रियोंके एक गिरोहमें पन्द्रहके भी कुछ व्यक्ति आ रहे थे, जिनमेंसे एकने यह कथा कही। यह बात भी जौनपुर जिलेकी ही किसी स्थानकी थी। रातको सैकड़ों यात्रियोंका एक गिरोह किसी बागमें ठहरा हुआ था। इतनी बड़ी संख्यामें होनेसे मारकर उनकी चीज ली नहीं जा सकती, और

रेलसे पैसा बचानेके खयालसे पैदल चलनेवालोंके पास सम्पत्ति ही क्या रहेगी ? लेकिन साधारण गरीब चोरकेलिए उनके सत्तू-आटेकी गठरी, और कपड़े भी बहुत हैं। एक चाईं दरख्तपर शायद शाम हीमें चढ़कर बैठा था, या मौका देखकर चढ़ गया। रातको जब सब सो गये, तो उसने गठरीको फासकर ऊपर उठा लेनेके-लिए कई मुंहका लोहेका काटा रस्सीके सहारे नीचे गिराया। सयोगसे काटेका एक छोर किसी गठरीमें न फँसकर एक बूढे आदमीकी कमरमें लिपटी धोतीमें पडा। गठरी जानकर चाईंने काटेको ऊपर उठाया। धरती छोड देनेपर बुड्ढेकी नीद खुली। एक-दो और हाथ उठनेपर उसने जोरसे आवाज देकर साथियोसे कहा–'भाइयो ! बहिनो ! कहा-सुना माफ़ करना। प्रयागराजका फल यहीं मिल रहा है। भगवान् डोरी लगा लिये हैं और इसी देहसे उठाये लिये जा रहे हैं।' चाईंको अपनी गलती मालूम हुई, वह रस्सी छोड़कर उतर भागा। बूढ़ेका शिर फूटा, कमर टूटी, और उसे फिर संसारमें लौट आना पडा। चाईं मेरे लिए एक अत्यल्प परिचित शब्द था, और उसके कानमें पड़नेपर यह कथा याद आनेसे हँसी छूट रही थी। डर तो था नही क्योंकि अभी दिन था, बस्तीसे हम दूर न थे। वहां पुलपर सचमुच किसी आदमीको लेटे देखा।

जौनपुर जिला पार होकर हम बनारस जिलेमें प्रविष्ट हुए थे, पिंडराके आसपास कोई जगह थी। यागेश बगलके गांवसे मक्काका दाना भुनाकर ले आये। गुड़के साथ हम दोनोंने खाया। खाते वक्त मुझे याद नही रहा, कि निजामाबादमें गुड़-लावा खानेपर मुझे मलेरियाने पकड़ा था, और तबसे उसकी तरफ़ नजर करते ही फिर देहमें गर्मी और हृदयमें कपकपी होने लगती है। खानेके बाद कै हुई कि नही, किन्तु थोड़ी दूर जानेके बाद मुझे जड़ैयाने आ घेरा। कपड़ा ओढ़कर वही सड़ककी बगलमें पड़ा रहा। जड़ैयाके कम होनेपर बुखार बढा, किन्तु हम हिम्मत करके थोड़ी दूरपर बाईं ओर एक कुम्हारके घरमें चले गये। रात भर वही पड़े रहे। बनारससे पहिले ही, शायद, यागेशको भी जड़ैया आने लगी, लेकिन, सवेरेके वक्त, उसके आनेसे पहिले हम कुछ चल लिया करते थे। याद नही कितने दिनोंमें बनारस पहुँचे।

बनारस पहुँचनेपर सबसे पहिले एडवर्ड अस्पतालमें हम मलेरियाकी दवा लेने गये। शीशीमें कुइनैन और क्या-क्या मिलाकर एक जहरसे भी कड़वी दवा मिली, जिसमेंसे कुछ हमने वही पी लिया। उस जूड़ीसे परास्त अवस्थामें गंगा-स्नान क्या किया होगा। हां, जैसे-कैसे हम अस्सीके तुलसीघाटपर पहुँचे। किसीसे पाठशाला और पढ़नेके बारेमें पूछ रहे थे, कि एक पतले नाटेसे अधेड़ व्यक्ति–जिनके मुंहपर चेचकका दाग, शिरमें त्रिपुंड, विभूति, कानोंमें पतले और गलेमें बड़े-बड़े रुद्राक्षोंकी माला पड़ी थी–हाथमें छोटेसे तांबेके घड़ेमें गंगाजल

गलियोंसे यहाँ आ पहुँचे। उन्होंने भी 'कहाँ' और 'कैसे' पूछा। पढ़नेकी बात सुनकर बोले—आओ हमारे साथ। बनारसको उससे पहिले मैंने नाममात्र देख पाया था, और उसके इस हिस्सेमें तो आया भी नहीं था। जिन गलियों और सड़कोंसे घूमता उस दिन मैं मोतीरामके बगीचेमें पहुँचा, उनसे होकर तुलसीघाटपर स्नान करने तथा तैरने जाना पिछले दो वर्षोंमें रोजका कामसा हो गया, किन्तु उस आश्चर्य-मयके दिन उनका जैसा अजीबसा रूप देखा था, वह पीछे लुप्त हो गया।

मोतीरामका बाग दुर्गाकुंडसे जानेवाली उसी छोटी सड़कपर है, जिसपर भास्करानन्दकी समाधि और कुरुक्षेत्रका पत्थरके घाटवाला तालाब—जो सदा ही जलशून्य रहा करता है, सिवाय सूर्यग्रहणके, जब कि काशीमें ही कुरुक्षेत्रका पुण्य लूटनेकेलिए पानीका कोई प्रबन्ध कर लिया जाता है। मोतीरामका बाग कुरु-क्षेत्रके तालाबसे सटे ही पूरब तरफ़, तथा उक्त सड़कसे थोड़ा उत्तर हटकर है। बागके चारों तरफ़ लाखौरी पतली ईंटोंकी चहारदीवारी थी, तीन छोटे-छोटे दर्वाजे थे, जिनमें पूरबका दर्वाजा हमारे आजके मेहरबान—चक्रपाणि ब्रह्मचारी—के दखल-में था, और उसे बन्दकर उन्होंने उसे एक कोठरीके रूपमें परिणत कर दिया था। बाग जैसा छोटासा था, वैसे ही उसके घर भी छोटे-छोटे थे। मालूम होता था, वे किसी वामन-द्वीपके आदमियोंके रहनेकेलिए बनाये गये हैं। खैर, बगीचे और उसके निवासियोंका वर्णन फिर किसी दूसरे समयकेलिए। चक्रपाणि ब्रह्मचारी हमें अपने स्थानपर ले गये। उस घरमें उनकी दो कोठरियाँ, पूरब ओरका बरांडा—जो उन कोठरियोंके लिए [illegible] था और कोठरियोंके बीचका रास्ता, जिसके पूरबी छोरपर बागका मुख्य पूर्वद्वार था—यह सभी एक ही छतके नीचे थे। चक्रपाणि ब्रह्मचारी निरक्षर उदासी परमहंस नहीं थे वह साक्षर-सागर थे। उनके पास एक गाय सदा रहती थी, और उस वक्त एक अच्छी आकृतिकी [illegible] गौ उनकी सेवाकी अधिकारिणी थी। गायको पानीसे बचानेकेलिए घर चाहिए, खिलानेके लिए भूसा और उसके रखनेका स्थान चाहिए—गोशालाका काम भी ब्रह्मचारीजीने एक कुटीसे दक्खिन छप्पर डालकर बना लिया था, और भूसाघरका काम उनका पीछेवाला 'हॉल' देता था। कुटीकी पच्छिमी दीवार तथा कोठरियोंके सामने एक और छितरा आँगन पड़ा था, जिसमें ब्रह्मचारी और उनके सहवासी विद्यार्थियोंके चूल्हे थे।

उनके साथ दो-चार दिन रहनेके बाद हमें मालूम हुआ, कि ब्रह्मचारियोंने अपने आसपास विद्यार्थियोंको रखनेका एक स्वभावसा है। वह पंडित नहीं थे, हाँ, अपने खर्चेकेलिए उनको कोई कष्ट नहीं था, शहरमें उनके कई दायक थे। उस परिचित आसपासमें भी बराबर वह विद्यार्थियोंकी सहायता करते थे। उनको यह भी शौक नहीं था, कि विद्यार्थी उनकी गायकी सानी-पानी कर देवें, उनके कामसे

सहायता कर देंगे। ज्यादासे ज्यादा यही स्वार्थ उनका कहा जा सकता था, कि लोग जानें कि ब्रह्मचारी चक्रपाणिके साथ पांच विद्यार्थी रहते हैं। चक्रपाणि ब्रह्मचारीका जन्म कुरुक्षेत्रके पास किसी गावमें गौड़ ब्राह्मण-कुलमें हुआ था। देशके नदियों और तालोंका पानी जैसे सिमिट-सिमिटकर समुद्रमें पहुँचता है, वैसे ही भारतके दूर और नजदीकके सभी प्रान्तोंके कोने-कोनेके गांवोंसे ब्राह्मणोंके विद्याकाम लड़के बनारस पहुँचते हैं। यही काफ़ी कारण था, बालक चक्रपाणिके भी बनारस पहुँचनेका। बनारसमें वह पढ़नेकेलिए आये थे, किन्तु बुद्धि उनकी तेज न थी, इसलिए उसमें वह अधिक प्रगति नही कर सके। व्याकरणमें लघु-कौमदीके कुछ पन्ने ही वह पढ पाये थे; हां, रुद्री, तथा शुक्ल यजुर्वेद-संहिताके कितने ही अध्याय उन्होंने स्वरसहित किसी वैदिकसे पढ़े थे। वैदिकोंकी यज्ञयागकी पुरानी प्रणाली, तथा शंकरकी सगुण पूजा-उपासनामें उनकी बड़ी श्रद्धा थी। शंकराचार्यको भी वह शिवावतार तथा वेदोद्धारकके तौर पूजते थे, न कि वेदान्तके संस्थापकके तौरपर। वेदान्तपर उन्हें मैंने कभी बात करते नही पाया, किन्तु दण्डी स्वामियो तथा हमारे बागकी महान् विभूति ब्रह्मचारी मंगनीरामको वह बड़ी पूज्य दृष्टिसे देखते थे।

उनके समयका बहुत भाग कृष्णाकी सेवामें अर्पित होता था। सहवासी विद्यार्थियोंके कहनेके अनुसार कृष्णा राज्य भोग रही है, और चक्रपाणि ब्रह्मचारीसे पूर्वजन्मका ऋण उतरवा रही है। घास-भूस-कराईके अतिरिक्त रोज दो-तीन सेर अन्न उसे मिल जाता था। उसके बोतलसे चमकते सारे शरीरमें कहीं हड्डी दिखलाई नहीं पड़ती थी, रोयें मालूम होते थे, भैरवजीके रेशमी काले गंडोंके बिना गुंथे छोर हैं। सवेरे उठते ही कृष्णाकी सानी-पानी तथा दूध दूहनेका काम खतमकर ब्रह्मचारी गंगाजी (तुलसीघाट) स्नान करने चले जाते थे। वहांसे लौटनेपर आसनपर बैठ, आंखोंमें चश्मा लगा (उस वक्त उनकी आयु ४५से ऊपर थी) कुछ पाठ और पूजा करते—शायद नर्मदेश्वरकी दो-एक गोलियां उनकी पूजामें थी। फिर फूलझारी लिये उत्तरकी तरफके शिवालयमें शिवजीको फूल-बेलपत्र चढ़ाते (बागमें बेलके काफी वृक्ष थे,) और अन्तमें गोस्तोत्रके सस्वर पाठपूर्वक कृष्णाके शिरमें चन्दनकी टीका शिरपर फूल रखे जाते, फिर ब्रह्मचारीजी उसके अगले खुरपर शिर रखकर प्रणाम करते। नर्मदेश्वरकी आरती उतारते वक्त कृष्णाकी भी आरती उतारना आवश्यक था। कृष्णाकी इतनी सेवा, और इतनी भक्ति करते भी कभी खाने-पीने, खासकर दूध देनेमें हाथ-पैर चलानेपर ब्रह्मचारीको गुस्सा भी चढ़ आता था, और फिर वह, एक-दो डंडे जड़ देनेसे भी बाज नही आते थे। मैं खयाल करता था—देवता भी यदि चौबीस घंटा उनके साथ बस जायें, तो उनको भी इसी तरहके बर्तावका सामना करना पड़ेगा।

और उसे विद्या बावाने सुनकर मजाक करना शुरू किया—'कौन लड़की गीत गा रही है'; तब मुझे अपनी गलती मालूम हुई। फिर एक बार गर्मीके दिनोंमें—जिस साल (१९०७ ई०) नानी मरी थी—आया था, उस वक्त फूफाके पास आजसे ज्यादा विद्यार्थी थे। रामस्वरूप एक हृष्ट-पुष्ट गोरा तरुण विद्यार्थी था, वह 'चन्द्रिका' पढ़ता था। दोपहरके वक्त गरुड़पुराणकी सांची पन्नेवाली पोथीको सामने रख व्यासकी तरह पलथी मार वह मधुर स्वरसे आधे गीतके रागमें उसका पाठ करता, साथ ही अर्थ करता जाता, वह कितना अच्छा लगता ! रामस्वरूप अब मर चुका था, इसलिए और अफ़सोस होता था। पहिलेके बहुतसे विद्यार्थी बछवल छोड़कर या तो घर बैठ गये थे, या बनारस पढ़ने चले गये थे। अतीतकी निशानी राजाराम अब भी वहा मौजूद थे, यह एक सन्तोपकी वात थी। पहिली बार जब मैं आया था, तो फूफा और उनके छोटे भाई (यागेशके पिता सहदेव पाडे) एक साथ रहते थे, किन्तु अब दोनों अलग-अलग हो गये थे। आम तौरसे यह अलगा-बिलगी कड़वाहट पैदा हो जानेके बाद होती है, वही बात इन दोनो घरोंमें भी थी, किन्तु, मेरा दोनों घरोंसे एकसा स्नेह-सम्बन्ध था। एक घरमें मेरी अपनी बुआ बरता थीं, जो मुझपर बड़ा स्नेह रखती थी—जिनके परिमार्जित तथा संस्कृत वार्तालाप, व्यवहारको मैं अपने अभिमानकी वात समझता था; दूसरे घरमें यागेश जैसा मेरा अनन्य बाल-मित्र। दोनो घरोमें आपसका चाहे कैसा ही सम्बन्ध हो, किन्तु मैंने उनमें कभी भेद नहीं किया। यागेशके प्रेमके कारण उनकी मां भी मुझे वैसा ही मानती थीं। उनके बारेमें मालूम हुआ, जब यागेश मेरे साथ मारे-मारे फिर रहे थे, तो उस वक्त उनके घर हर भिखमंगेको दूनी-तिगुनी भीख मिला करती थी, इसलिए कि उनकी मांको, उसी तरह किसीके द्वारपर जाते अपने ज्येष्ठ पुत्रकी सूरत दिखलाई देने लगती थी।

बछवलमें मैंने दो-ढाई महीने निश्चिन्त पढ़ने पाया होगा, कि फिर दिमागमें खुराफात शुरू हुई। प्रयागमें बड़े धूमधामसे प्रदर्शनी हो रही थी। गवर्नमेंट उसपर खूब पैसे खर्च कर रही थी। सलाह हुई प्रदर्शनी देखी जाये। पैसेकी कमी ? पैदल ?—शालिग्रामको भूनकर खा जानेवालेकेलिए बैंगन भुननेमें हिचकिचाहट ? यागेश, मैं, फूफाके एक विद्यार्थी विश्वनाथ और शायद चौथा भी कोई। सलाह हुई—सब कनैलासे अमुक दिन सवेरे परमहंस बाबाकी कुटीपर आओ। यागेश वहीं मिले। फिर साथ खड्गपुरमें विश्वनाथको लिवाते पैदल ही चल पड़े। योजनामें कोई बाधा नही हुई। कुहरा पड़ रहा था, जब कि कुछ देरकी प्रतीक्षाके बाद यागेश परमहंस बाबाकी कुटीपर मिले। विश्वनाथ घरके खाते-पीते आदमी थे, किन्तु सिर्फ़ यजमानीके भरोसे; उनके घर खेतीका काम नहीं होता था, इसलिए वह शरीरसे बहुत कमजोर थे, यद्यपि आयुमें हम दोनोंसे बड़े। भाला होते हुए

मोतीरामके बागमें आते ही हमारी जड़ैया न जाने कहां चली गई। चक्रपाणि ब्रह्मचारीका आतिथ्य पांच-सात दिनसे ज्यादा हमने स्वीकार न किया होगा, कि पिताजीके घरमे आ जानेके कारण या यागेशकी प्रेरणासे हम स्वयं घर चले गये, यह निश्चय करके कि लौटकर यहीं पढ़ने आना होगा। लेकिन इस निश्चयमें यागेश साथ नहीं थे, क्योंकि उन्हें वैराग्य और पढ़ना दोनोंका रोग न था। घर-वालोंको अब अपनी गलती मालूम हो गई थी, इसलिए हमारे संस्कृत पढ़नेमें बाधा डालना नहीं चाहते थे। बनारस पढ़नेमें ३ मीलपर बछवल पढ़ना और सुरक्षित है, यह सोच उन्होंने बछवल जाकर पढ़नेका परामर्श ही नहीं दिया, बल्कि चचा साहेब तीन-चार महीनेके खानेको आटा-दाल लिवाये मुझे एक दिन वहां पहुँचा भी आये। फूफा साहेबने जब आटा-दालकी बात सुनी, तो चचाको बहुत फटकारा— "यहां हमारे पास खानेकेलिए अन्न है, एक लड़केके और बढ़ जानेसे वह घटेगा नहीं।"

अक्तूबर (१९१० ई०) में एक दिन शुभ मुहूर्तमें मिश्री-मेवाकी भेंटके साथ-साथ सरस्वतीकी पूजा करके फूफाजीसे मैंने लघुकौमुदी शुरू की। उस वक्त यह स्मरण आनेपर बड़ा अफसोस आता था, कि आठ वर्ष पहिले (१९०२ जुलाई) मैंने यहीं सारस्वत शुरू किया था, काश वही क्रम जारी रहता तो आज मैं कहां होता? स्मरणशक्तिने अब भी मुझे जवाब नहीं दिया था, लेकिन मेहनत करनेसे जी चुरानेकी आदत भी उसके साथ थी। १९०२ ई० में किसीने नहीं कहा था, कि याद करना दुर्गुण है, लेकिन बीचके वर्षोंमें कितने ही प्रामाणिक मुखोंसे 'रट्टूपीर'की निन्दा सुनी थी। उसका असर पड़े बिना नहीं रह सकता, विशेषकर जब कि यह मेहनतसे बचनेका एक सम्मानपूर्ण रास्ता निकाल देता था। दूसरे लड़के चिल्ला-चिल्लाकर पचासों बार रटते हुए अपने पाठको याद करते थे, मैं मनमें कुछ देर आवृत्ति करके उसे याद कर लेता था। इसमें समय कम लगता था, किन्तु मुझे सन्देह रहता था, कि चिल्लाकर रटनेसे स्मृति ज्यादा ठोस रहती है। लघु-कौमुदीके साथ मैंने हितोपदेश भी शुरू कर दिया था।

बछवलमें रहते बाल्यकालके बछवलकी कुछ मधुर स्मृतियां याद आती थीं। पहिली बार मैं आया था बरसातमें मक्काकी फ़सलके समय। हम कई छोटे-छोटे बहिन-भाई मचानपर जाते, चिड़ियोंसे मकाईके खेतकी रखवाली करने शायद लड़कियां ज्यादा थीं, या उनका प्रभाव ज्यादा था। वह गाना शुरू करतीं। 'सबके सिपहियनके लालि-ग्वालि अँखिया, हमारि काहे कुचुरी ए दीदी-बहिनी?" (सबके सिपाहियों-पतियोंकी लाल-लाल आँखें हैं, किन्तु हमारे (की) क्यों छोटी बद-सूरतसी?), मैं और यागेश भी उसे दुहराते। हमें क्या मालूम था, कि यह लड़कियों-स्त्रियोंका गाना है, लड़कों-पुरुषोंको उसे नहीं गाना चाहिए। बछवलसे लौटकर कनैला जानेपर एक दिन अकेले मचानपर बैठे मैंने तान लेना शुरू किया,

और उसे विद्या बाबाने सुनकर मजाक करना शुरू किया—'कौन लड़की गीत गा रही है'; तब मुझे अपनी गलती मालूम हुई। फिर एक बार गर्मीके दिनोंमें—जिस साल (१९०७ ई०) नानी मरी थी—आया था, उस वक्त फूफाके पास आजसे ज्यादा विद्यार्थी थे। रामस्वरूप एक हृष्ट-पुष्ट गोरा तरुण विद्यार्थी था, वह 'चन्द्रिका' पढता था। दोपहरके वक्त गरुड़पुराणकी साची पन्नेवाली पोथीको सामने रख व्यासकी तरह पलथी मार वह मधुर स्वरसे आधे गीतके रागमें उसका पाठ करता, साथ ही अर्थ करता जाता, वह कितना अच्छा लगता! रामस्वरूप अब मर चुका था, इसलिए और अफ़सोस होता था। पहिलेके बहुतसे विद्यार्थी बछवल छोड़कर या तो घर बैठ गये थे, या बनारस पढ़ने चले गये थे। अतीतकी निशानी राजाराम अब भी वहां मौजूद थे, यह एक सन्तोषकी बात थी। पहिली बार जब मैं आया था, तो फूफा और उनके छोटे भाई (यागेशके पिता सहदेव पांडे) एक साथ रहते थे, किन्तु अब दोनो अलग-अलग हो गये थे। आम तौरसे यह अलगा-बिलगी कडवाहट पैदा हो जानेके बाद होती है, वही बात इन दोनों घरोंमें भी थी, किन्तु, मेरा दोनों घरोंसे एकसा स्नेह-सम्बन्ध था। एक घरमें मेरी अपनी बुआ बरता थीं, जो मुझपर बड़ा स्नेह रखती थी—जिनके परिमार्जित तथा संस्कृत वार्तालाप, व्यवहारको मैं अपने अभिमानकी बात समझता था; दूसरे घरमें यागेश जैसा मेरा अनन्य बाल-मित्र। दोनों घरोंमें आपसका चाहे कैसा ही सम्बन्ध हो, किन्तु मैंने उनमें कभी भेद नहीं किया। यागेशके प्रेमके कारण उनकी मां भी मुझे वैसा ही मानती थीं। उनके बारेमें मालूम हुआ, जब यागेश मेरे साथ मारे-मारे फिर रहे थे, तो उस वक्त उनके घर हर भिखमंगेको दूनी-तिगुनी भीख मिला करती थी, इसलिए कि उनकी मांको, उसी तरह किसीके द्वारपर जाते अपने ज्येष्ठ पुत्रकी सूरत दिखलाई देने लगती थी।

बछवलमें मैंने दो-ढाई महीने निश्चिन्त पढ़ने पाया होगा, कि फिर दिमागमें सुराफात शुरू हुई। प्रयागमें बड़े धूमधामसे प्रदर्शनी हो रही थी। गवर्नमेंट उसपर खूब पैसे खर्च कर रही थी। सलाह हुई प्रदर्शनी देखी जाये। पैसेकी कमी? पैदल?—शालिग्रामको भूनकर खा जानेवालेकेलिए बैंगन भूननेमें हिचकिचाहट? यागेश, मैं, फूफाके एक विद्यार्थी विश्वनाथ और शायद चौथा भी कोई। सलाह हुई—सब कनैलासे अमुक दिन सवेरे परमहंस बाबाकी कुटीपर आओ। यागेश वहीं मिले। फिर साथ खड्गपुरमें विश्वनाथको लिवाते पैदल ही चल पड़े। योजनामें कोई बाधा नहीं हुई। कुहरा पड़ रहा था, जब कि कुछ देरकी प्रतीक्षाके बाद यागेश परमहंस बाबाकी कुटीपर मिले। विश्वनाथ घरके खाते-पीते आदमी थे, किन्तु सिर्फ यजमानीके भरोसे; उनके घर खेतीका काम नहीं होता था, इसलिए वह शरीरसे बहुत कमजोर थे, यद्यपि आयुमें हम दोनोंसे बड़े। भाला होते हुए

हम औढ़ियार, फिर रेलकी सड़क पकड़े सारनाथ पहुँचे। अबतक सारनाथकी धमाराको दूरसे ही देख 'लोरिक कुदान' मुँहसे निकालकर हम सन्तोष कर चुके थे। अबकी हम धमाख देखने गये। उस वक्त पीला कपड़ा पहिने कुछ बर्मी भिक्षु भक्तिभावसे प्रणाम कर रहे थे। उनमेंसे एक वृद्धने हमारी ओर देख हाथमें आँखों-की ओर इशारा करके कहा--'चक्खु', 'चक्खु', मैं भला क्या अर्थ समझता। हां, उस बार यह मालूम हुआ, कि 'धमाख' 'लोरिक-कुदान' ही नहीं है, बल्कि दूरदेशके लोगोंका तीर्थस्थान भी है। अभी सारनाथका जादूघर नहीं बना था, खुदाईमें निकली मूर्तियां जैनमन्दिरके पीछेवाले चहारदीवारीके घिरावेमें रखी हुई थी। वहां एक काले रंगके आदमी थे, पूछनेपर उन्होंने अपनेको सिंहाली बतलाया। उन्होंने बुद्धकी मूर्तियोंको दिखलाया। एक ठोस मन्दिर-प्रतीकके चारों ओर नंगी मूर्तियोंके बारेमें पूछनेपर उन्होंने हँसकर कहा--जैनमूर्ति है। पुरातत्वकी वस्तुओं और मूर्तिकलासे यह पहिला साक्षात्कार था। मैंने समझा, सिंहलके सभी लोग उन्हींकी तरह हिन्दी जानते होंगे। शायद वह कलकत्तामें रहते थे।

बनारसमें बिना ठहरे ही हम गंगापार चले गये, रामगढ़के रास्ते या रामनगरसे, सो याद नहीं। चुनारमें हम सूर्यास्तके बाद पहुँचे, इसलिए किलेके भीतर भर्तृहरि-की समाधिके दर्शनकी बड़ी उत्सुकता रखते भी वैसा नहीं कर सके। जाना था प्रयाग, किन्तु हम चुनार-मिर्जापुर-विन्ध्याचलका चक्कर क्यों काट रहे थे?--मटरगश्ती और क्या? हम प्रयाग पहुँचे। प्रदर्शनी देखी। कुश्ती और हवाई जहाजपर चढ़ाकर घुमाना--ये दो आकर्षक चीजें थी, किन्तु उनकेलिए हमारे पास पैसे न थे। प्रयागसे हम लोग अलग-अलग हो गये, या साथ लौटे, यह याद नहीं। यह भी नहीं कह सकता, कि वहवलकी पढ़ाई समाप्त कर मैंने किस वक्त प्रस्थान किया।

मार्च (१९११ ई०) में मैं निश्चित रूपसे बनारसमें था। उसी वक्त एक और दीर्घ-यात्राका प्रयत्न किया गया। पन्दहामें किसीसे सुन रखा था, कि यह पैदल ही वहांसे कलकत्ता गया था। मुझे भी उसके तजर्बेसे फ़ायदा उठानेका ख्याल आया। अस्सीपर जगन्नाथमन्दिरमें पंडित मुखराम पांडे--फूफाजीके पुराने विद्यार्थी--रहते थे, मैं उन्हींके पास पढ़ने जाया करता था, वैसे रहता था चक्रपाणि ब्रह्मचारीके ही पास। जगन्नाथजीके पुजारी मुखराम पंडितके जन्मस्थान बीरपुर और बनैलाके बीचके एक गांवके रहनेवाले थे। उनके भाई दशरथ लघुकौमुदीके विद्यार्थी तथा मेरे समवयस्क थे। हम दोनोंकी सलाह हुई--अबके पैदल कलकत्ता देखना चाहिए। एक दिन हम दोनों गायब हो गये। राजघाट-मुगलसराय होते पुरानी बादशाही (शेरशाहवाली) सड़क पकड़े चले। चंदौलीमें शाम हो गई। हम लोग कहां ठहरे यह याद नहीं। दिनमें पासके खेतोंसे मटर-चनेकी फलियोंसे काम चल गया।

कर्मनाशाकी धारको हमने बड़े आश्चर्यसे देखा, क्योंकि सोलह आना नही तो दस-बारह आना हमें जरूर विश्वास था, उसके पानीके छूनेसे कर्म (पुण्य) के नाश हो जानेका। दुर्गावतीमें हम सवेरे दस बजे पहुँचे थे, दशरथ मुझसे कुछ पीछे आये। भूख-प्यास तो जो थी सो थी ही, हम लोगोके पैरोके तलवे कट गये (हम नंगे पैर थे) और दशरथका पैर फूल गया था। बड़े दीन-वचनसे दशरथने कहा—अब लौट चलना चाहिए। हम लौटकर फिर बनारस पहुँच गये।

५

बनारसमें पढ़ाई (१)

मोतीरामका बाग प्राचीन नही तो मध्यकालीन मुनि-आश्रमसा था। इस आश्रमकी कुटिया बागको चारों ओरसे घेरनेवाली चहारदीवारीसे सटकर बनी थी, और एकको छोड़ सभी आकार-प्रकारमें घरोदे जैसी थी। ब्रह्मचारीके उत्तर चार ही पाच हाथके फ़ासिलेपर एक दंडी स्वामीकी कुटी थी, जिनके भतीजे बनमाली मेरे समवयस्क दोस्तोंमें थे। उनसे और उत्तर ब्रह्मचारी जगन्नाथ पंजाबी थे, जिन्हें जिन्दगी भर हिन्दी बोलने न आई और बराबर मतलबको मतबल और चाकूको काचू कहते रहे। उन्हें भी गाय पालनेका शौक था, किन्तु चक्रपाणि ब्रह्मचारी—जिनसे उनकी कभी-कभी कहा-सुनी हो जाती थी—का कहना था, कि वह सब मेरी ईर्ष्यासे करते हैं। जगन्नाथ ब्रह्मचारी क्रोधमें दूर्वासाके द्वितीय अवतार थे। उनके आगेसे चहारदीवारी पच्छिम ओर मुड़ती थी, और आधी दूरसे आगे जाकर पक्का कुँआ और शिवालय मिलता था। इसीके पास सहारनपुरके रहनेवाले एक महात्मा रहते थे, बुढ़ापेने उनकी कमरको टेढी कर दिया था, और वह अनन्त काशीवासकी प्रतीक्षामें थे। उनकी कुटियासे पश्चिम चहारदीवारीके साथ खाली जमीनमे जानेकी जरूरत नहीं, वहांसे दक्खिन घूमनेपर हम बगीचेके केन्द्रमें पहुँचते थे, जहां बड़े-बड़े वृक्षोंकी छायामें ऊँचे पक्के चबूतरेपर टीनकी छत थी। गर्मियोंमें वहा बैठनेमें बड़ा आनन्द आता था। वहांसे पश्चिम चन्द ही कदमपर उत्तरमुंहकी एक छोटी कुटिया थी, जिसमें एक अत्यन्त वृद्ध सन्यासी रहते थे, जिनके सौ वर्षसे अधिकके होनेमें मुझे कभी सन्देह नहीं हुआ। अक्सर कई-कई दिनतक उनको पाखाना नहीं होता था, और उसकेलिए पिचकारी लगानेकी जरूरत पड़ती। वह चल फिर नही सकते थे। सभी इन्द्रियोंने-मनके साथ—जवाब दे दिया था। इस कुटीसे थोड़ा ही आगे पश्चिमके घरोंकी पांती शुरू होती थी, और यह थी छत्रोंकी पांती। पहिला छत्र था गाजीपुरके किसी

मारवाड़ी सेठका। उसमें कुछ भोजन भी वितरण होता था, किन्तु उससे ज्यादा इसका नाम अपने अपक्व अन्नके वितरणके कारण था। बनारसके आसपास बहुत दूरतक सरयूपारी ब्राह्मण ही रहते हैं, इसलिए यहांके पंडितों और विद्यार्थियोंमें उनकी संख्याका अधिक होना स्वाभाविक है। कनौजियोंकी तरह सरयूपारी भी 'आठ कनौजिया नौ चूल्हा' के माननेवाले हैं। बनारसमें पक्व अन्न देनेवालोंकी अपेक्षा अपक्व (सूखा) अन्न देनेवाले छत्रोंकी संख्या कम है, इसलिए भी इस छत्रका महत्व ज्यादा था। किन्तु इससे भी बढ़कर इसकी ख्याति बनारसमें अपने दानपात्र विद्यार्थियोंकी योग्यताके कारण थी। वहां परीक्षाके बाद चुनकर विद्यार्थी स्वीकार किये जाते थे। उन्हें महीनेके खर्चकेलिए गेहूँ, दाल, तथा नमक, दियासलाई, ईंधन आदिका दाम दिया जाता था। इस छत्रके बाद पटियालाके एक ब्राह्मण रविदत्त पंडितका छत्र था। इनके पिता अच्छे पंडित थे, पंजाबमें उनके गृहस्थ शिष्योंकी काफी संख्या थी, और उन्हींकी सहायतासे यह रोटी-छत्र चलता था, जिसमें उस तरफ़के कुछ विद्यार्थी भोजन करते थे। उसके दक्खिनवाले दर्वाजेके पास सन्यासी-ब्रह्मचारियोंका एक रोटी-छत्र था, जिसमें एक-दो विद्यार्थी भी रहते थे। चहारदीवारीके साथ पूर्वमुख घूमनेपर कुछ फ़दमोंपर ऊँची कुर्सीपर एक अच्छी ऊँची पक्की बारादरी थी, जिसके दोनों सिरोंपर दो हवादार कोठरियां, तथा सामने काफ़ी चौड़ा पक्का चबूतरा था। आरम्भमें बागके साथ ही यह इमारत बनी थी; शायद कूएँके पासवाला शिवालय भी उसी वक्तका हो, किन्तु बाकी कुटियां तो जरूर पीछे की थीं। बागमें कुछ बेल-आमके बड़े दरख्तोंके अतिरिक्त कागजी नीबूके दरख्त ही ज्यादा थे, और सालमें उनसे कुछ आमदनी हो जाती थी।

हां, तो जिस बारादरीके पास जाकर हम रुक गये, उसका उस समयकी काशीमें बड़ा महत्व था। उसीमें ब्रह्मचारी मंगलीराम रहते थे। पतला गोरा शरीर, छोटी चुटिया, केश-श्मश्रु श्वेत, कमरसे घुटनेतक एक गेरुआ अँगोछेका आवरण, शायद देहमें एक श्वेत जनेऊ—यही थी मंगलीराम ब्रह्मचारीकी मूर्ति। इस वेषमें जो कुछ दिखावा हो, बस इतना ही उनमें दिखावा था, नहीं तो उनमें कृत्रिमता छू नहीं गई थी। न उन्हें धर्मोपदेशका मर्ज़, न योग-ध्यान धर्णाका व्यसन, न वेदान्त-उपनिषद्की सनक, न पूजा-पाठकी आसक्ति थी। या तो वह उसी चौतरेपर टहला करते, या कोठरीमें बैठे पुस्तक देखते। आम दर्शकोंकी भीड़ वहां नहीं लगती थी, किन्तु कभी-कभी कोई-कोई गम्भीर जिज्ञासु वहां पहुँच जाते। प्रणाम करनेपर, स्वाभाविक हाथकी रेखा मुस्कार लाकर वह 'नारायण' कह दिया करते। बहुत ही कम बोलते, किन्तु मौनी नहीं थे। लोग उन्हें बहुत कम दिक करते। उनके आसपास कोई साधक या परिचारक नहीं रहते। उनको

बवासीरका रोग था। जौकी रोटी, मूंगकी दाल खाते थे, जिसे रोज एक पंजाबिन बुढ़िया बनाकर पहुँचा जाती। आषाढ़-पूर्णिमा (गुरुपूर्णिमा) के दिन उनके यहां ज्यादा भीड़ रहती। जिनकी पूजाकेलिए उस दिन खुद शिष्योंकी भीड़ रहा करती, वैसे दिग्गज शिवकुमार शास्त्री जैसे पंडित भी उस दिन फल-फूल-लिये वहां मंगनी-राम ब्रह्मचारीकी पूजा तथा परिक्रमा करते आपको मिलते, यदि आप उस समय वहां रहते तो। मंगनीराम ब्रह्मचारीके प्रति श्रद्धा जिन व्यक्तियोंके हृदयमें थी, वह साधारण राह चलते आदमी नहीं थें। भास्करानन्द और तैलंग स्वामीके पीछे मरनेवाले वहा नही पहुँच पाते थे। वह निराकांक्ष थे, प्रदर्शन-शून्य थे। मंगनीराम ब्रह्मचारी विद्वान् थे, वेदान्त और उपनिषद्के खास तौरसे; किन्तु उनकी विद्या 'विवादाय' क्या होती, उसकी ख्याति तो हृदयसे हृदय तक ही पहुँच-कर रह जाती थी। उनके विद्याध्ययनके बारेमें कहा जाता था, कि सूखी पत्तियों-की क्षणिक प्राप्त रोशनीके सहारे उन्होंने पाठ याद किये थे। मैं बराबर ही उधरसे गुजरता था, और नजर पड़नेपर प्रणाम करता, उत्तरमें 'नारायण' सुननेको मिलता। पढ़नेवाले विद्यार्थियोंमें मेरी भी ख्याति थी, इसलिए मुझसे तो नही किन्तु चक्रपाणि ब्रह्मचारीसे मेरे बारेमें वह कभी-कभी पूछ लिया करते थे।

मंगनीराम ब्रह्मचारीकी कुटियाके आगे फिर कोने ही पर पूरबवाली चहार-दीवारीके साथ एक कुटिया थी।

यह था मोतीरामका बाग, जो किसी पंजावी ब्राह्मण मोतीरामकी सम्पत्ति थी, किन्तु उस वक्त किसी दूसरेके हाथमें चला गया था।

मोतीरामके बगीचेके आश्रमवासियोंका जिक्र मैं कर चुका। इनके अतिरिक्त वहां कुछ विद्यार्थी भी रहते थे, जिनको दो वर्ष बाद भी पाया जाना मुश्किल था। हमारे गिरोहमें अर्थात् चक्रपाणि ब्रह्मचारीके साथ रहनेवालोंमें सीतापुर जिले (?) के वंशीधर थे। बहुत सीधे और हँसमुख, यदि ओठोंको सी भी दिया जाता, तो हँसी फाड़कर निकल आती। कोई समय था, जब व्याकरण आरम्भ करते वक्त विद्यार्थी सारस्वतसे शुरू करता, पूर्वार्ध समाप्त हो जानेपर सिद्धान्तचंद्रिकासे कुछ गम्भीर कदम आगेको बढाता। लेकिन इस प्रक्रियामें दोष यह था, कि विद्यार्थी-को तीन तरहके सूत्रोंको कंठस्थ करना पड़ता, जो कि 'रटन्त विद्या घोपन्त पानी' के जमानेमें निर्दोष भले ही रहा हो, लेकिन अब जब कि 'रटन्त' में यावच्छक्य मितव्यता दिखलाने हीमें बहादुरी समझी जाती थी, प्रादेशिक व्याकरणोंकी जगह सर्वत्र-प्रचलित पाणिनीय व्याकरण परीक्षा और व्यवहार दोनोंकी दृष्टिसे अधिक उपयोगी था। ऐसे समय सारस्वत-चन्द्रिकाके रास्ते कौन जाना चाहेगा? वंशीधर चन्द्रिका समाप्त कर रहे थे। खाने-पीनेका काम तो छत्र-बत्रसे चल जाता था, किन्तु ऊपरसे भी कुछ पैसोंकी जरूरत होती, जिसकेलिए अबके उन्होंने

नहीं तो कारण नहीं मालूम होता, क्यों वैष्णवोंके खिलाफ पुरानी गाली-गलोजकी पुस्तकोंको खोजता फिरा—'चक्रांकित मतनिरूपण' तथा दो-एक और इस तरहके खंडन-मंडनके ग्रंथोंको मैंने बड़े प्रयत्नसे खोज निकाला था। मेरे बार-बारके कहनेसे पिताजीको अपनी कंठी तोड़कर फेंकनी पड़ी।

सब मिलाकर देखनेसे मैं अपने समयका उपयोग कर लेता था, यद्यपि उससे सन्तुष्ट नहीं था। गर्मी थी, बनारसकी। दोपहर तो किसी तरह काट लेता, शामको चार बजते ही गंगा किनारे दौड़ता। और फिर दो घंटा गंगामें तैरना और खेलना। कभी तैरकर उस पार नहीं गया, किन्तु वह किसी साथीके अभावके कारण, नहीं तो अस्सीपर आधी धारसे आगे तो रोज ही मैं पहुँच जाता था।

गर्मियोंमें रघुवंश, वाल्मीकीय रामायण तथा दूसरे सरल काव्यग्रंथ बहुत मन लगाकर पढ़े, इसका परिणाम यह हुआ कि संस्कृत भाषाका पढ़ना अब मुझे अँधेरी कोठरीमें टटोलनासा नहीं था। एक दिन कूर्पुरवाले बाबाने सत्यनारायणकी कथा मुझसे करवाई—इस कथाका यहाँके समाजमें उतना मान न था—मैं साथ-साथ अर्थ कहता गया, लोगोंने बड़ी तारीफ़ की। साथी विद्यार्थी मंडलीको तारीफ करना ही था, क्योंकि खेलका खेल और मुफ्तका प्रसाद।

आषाढ़ आ जानेपर फिर विद्यार्थी लोग जुटने लगे। मुन्सराम पंडित भी आ गये। उनकी राय हुई, कलकत्ताकी व्याकरण प्रथमा परीक्षा दे देने की, मैंने भी स्वीकार किया। उनको अन्नवृत्ति मोनीराम-बगीचेके उसी प्रसिद्ध अन्नछत्रसे मिलती थी। छत्रके निरीक्षक एक दिन नये छात्रोंकी भरतीके लिए आये थे। बहुतसे छात्र उम्मीदवार थे, मैं भी गया; अक्षर देखा, कुछ प्रश्न पूछे, इसके बाद मेरा नाम वृत्ति पानेवालोंमें दर्ज कर लिया गया। यद्यपि ब्रह्मचारी और निमन्त्रणोंकी कृपासे मुझे उसकी उतनी जरूरत भी न थी, किन्तु घर आई लक्ष्मी-को कौन लौटावे ?

बनारसमें रहते वक्त मैंने बरेलीमें मिले स्वामी पूर्णानन्दको भी ढूंढ़ निकाला। दत्तात्रेय-पादुकाका मिलना मुश्किल न था, किन्तु पूर्णानन्दजी उस वक्त वहाँ न थे। उनके गुरुको देखा। बड़ी-बड़ी जटायें, नंगे मादरजाद धुनीके पास बैठे गांजे-सुल्फेकी चिलमपर चिलम उड़ाये जा रहे थे। उनके चारों ओर 'श्री महाराजियों' की पल्टन बैठी हुई थी। एक दिन कह रहे थे—"आज गया था विश्वनाथका दर्शन करने। पंडेने कहा—बाबा कुछ चढ़ाते नहीं। इन्द्रियमेंसे निकालकर कुछ बबली गिरा दी। पंडा गाली-गलौज करने लगा। मैंने कहा—अरे आँखके अन्धे, यही है विश्वनाथ'। दूसरे पंडेने उसे डाटा—"चीन्हो नहीं किस महापुरुषसे बात करते हो ?"

मंडली बोल उठी—"दयालु ! सबको आप चौड़ेही मिलती है—।"

वर्षा शुरू होनेसे पूर्व ही स्वामी पूर्णानन्दजी आ गये। उनके गुरुके प्रति तो मेरी श्रद्धा नहीं जगी थी, किन्तु कुछ नेपालके जन्म होने तथा कुछ उनकी शान्त प्रकृतिके कारण पूर्णानन्दजीसे मुझसे ज्यादा रब्त-जब्त रहा; उसमें सहायक हो गया था मेरा मन्त्र-तन्त्रकी ओर नया उत्पन्न हुआ आकर्षण। मुझे लोगोंने बतलाया था, कि नेपालकी तरफ अच्छे-अच्छे मन्त्रवेत्ता रहते हैं। मैं पूर्णानन्दजीके पास उसी मन्त्र-तन्त्रकी खोजमें बार-बार जाता। वह भी धीरे-धीरे मेरी श्रद्धाको उस ओर अधिक बढ़ाते ही जाते थे। 'जिन खोजां तिन पाइया' के अनुसार क्रमशः लिखित, मुद्रित तन्त्रों और पटलोंकी काफ़ी संख्या मुझे मिली। खैर, और जो हुआ सो तो कहने ही जा रहा हूँ, इन तन्त्रोंमें मनके एकान्त-रत होनेसे संस्कृत भाषाका ज्ञान स्वय बढ़ता जा रहा था—यह तो नकद लाभ था। एक पुस्तकसे रसायन—तांबेका सोना बनाना—की अच्छी विधि देखकर मैंने उसका प्रयोग करना चाहा। हड़ताल, सोना-मक्खी और क्या-क्या चीजें बंगाली टोलाकी किसी दूकानसे खरीदी। बनारससे बछवलको अधिक एकान्त और अनुकूल समझा—और वहां मेरे अनुमोदक, समर्थक यागेश भी थे, जो हर बातमें 'हां, भैया ठीक तो है' कहनेके-लिए तैयार थे। मन-सवा-मन कंडेमें रसायनको फूंका गया, लेकिन तांबेका सोना कहां बननेवाला था। लेकिन 'एक तावकी कसर' पर श्रद्धा टूट थोड़े ही सकती थी।

बनारस लौटनेपर फिर पढाईके साथ-साथ वह खब्त जारी रहा। स्वामी पूर्णानन्दने 'अनंगरंग' नामक एक गोर्खा (नेपाली) भाषाकी हस्तलिखित पुस्तक दी, थी तो कामशास्त्रकी पुस्तक (लोदी शासनकालमें संस्कृत भाषामें लिखे ग्रंथका अनुवाद) किन्तु उसमें जड़ी-बूटिया भी कितनी ही दी हुई थीं। मैंने उतारते वक्त गोर्खा भाषामें न लिख, हिन्दीमें लिख डाला, यह मेरा अनुवादका पहिला प्रयत्न था। उस पुस्तकमें उल्लिखित सुगन्धित तेलको मैंने तिलके तेलमें अपेक्षित सामग्री डाल बोतलमें बन्दकर धूपमें कई दिनोतक रखकर बनाया, मगर कुछ भी सफलता न हुई, यह तो नहीं कह सकता; किन्तु, इतना जरूर था, कि उससे अधिक अच्छा तैल आधे ही दाममें बाजारसे मिल सकता था।

मन्त्र-तन्त्रके फिराकमें है, यही नहीं बल्कि खुद उसके विशेषज्ञ हैं, इस तरहकी मेरी ख्याति धीरे-धीरे हमारी परिमित विद्यार्थी-मंडलीमें बढी। एक बड़े ज्योतिषी-के यहा उनका स्वदेशी विद्यार्थी रहता था, उसको मेरी मन्त्रशक्तिको अनुभव करनेका अवसर मिला। बेचारेने दक्षिणाके एक-एक दो-दो पैसे जमा करके भागवतकी पोथी खरीदी थी। अभी दो-तीन दिन भी चौकसे लाये नहीं हुए थे, कि किसीने उसे झटक लिया। बहुत चिन्तातुर मेरे पास आकर गिड़गिड़ाने लगा। मैंने बड़ी गम्भीर मुखमुद्राके साथ कहा—"घबरानेकी क्या बात है। पुस्तक हजम हो जायेगी, यह हो नहीं सकता। आप जाइए लोलार्क कुंडपरकी देवीके चबूतरे-

की एक ईंट उलट दीजिए, और इस मन्त्रका सवालाख जप कीजिए। लेकिन पहिले पास-पड़ोसके रहनेवालोंको जतला दीजिए, कि आप भयंकर पुरश्चरण करने जा रहे हैं। देवीकी ईंटको उलटना और इस अमोघ मन्त्रका जाप ठट्ठा नहीं है। यदि नौसिखिये चोरको अकल होगी तो सँभल जायेगा। हाँ, आप अपनी कोठरीमें ताला बिना लगाये, कभी-कभी बाहर-भीतर चले जाइयेगा।'

विद्यार्थीने मेरे कहे अनुसार किया। शामको बड़े प्रसन्न बदन दौड़ा हुआ मेरे पास आया, और टोकरेके टोकरे धन्यवाद देने लगा—"आपकी कृपासे, बस आपकी कृपासे, नहीं तो पुस्तक मिलनेवाली न थी? मैं कोठरीमें बिना ताला लगाये बाहर गया था, शामको लौटकर देखा पुस्तक किवाड़के भीतर रखी पड़ी है। मैं जाप भी शुरू नहीं कर पाया था। ईंट उलटनेने ही गजब कर दिया। अब नाम लेनेसे क्या मतलब? जिसने पुस्तक हजम करनी चाही थी, उसका भी पता लग गया। बच्चूको दो ही दस्त तो आये, और फिर मेरी पोथीको कौन परमें रखता। मैं आपका सदा कृतज्ञ रहूँगा। मन्त्रबल इसे कहते हैं!....."

उक्त विद्यार्थीका पढ़ने-लिखनेसे बहुत कम ही सरोकार रहता था। छत्रों और निमन्त्रणोंमें भोजन करना, और फिर इधर-उधर मुसाहिबी करना तथा गप्पें मारना। ऐसे आदमी द्वारा मेरा नाम दूर तक—उत्तम-मध्यम कुलोंमें नहीं निम्नमें ही सही— फैलनेकी सम्भावना थी, जिससे मैं सबसे डरता था। मैंने उसे बहुत समझाया और कुछ धमकाया भी, तब वह अपनी जबानपर कुछ संयम कर सका। एक दिन वह बड़ी नम्रतासे मुझसे कह रहा था—"मैं आपके मन्त्रकी बात किसीसे नहीं कहता।....हमारे ज्योतिषीजी—जानते ही हैं, वह मेरे ऊपर कितनी कृपा रखते हैं।.....उनकी बहिन बेचारी निस्सन्तान है। बहुतसे अनुष्ठान हुए, दवा-दारू भी की गई, किन्तु उनका बन्ध्यात्व गया नहीं। पति-पत्नी सिर्फ दो व्यक्ति हैं। उनकी बड़ी लालसा है, कि आप कुछ उनकेलिए अनुष्ठान बतलावें।"

"तो आपने उनके पासतक बात पहुँचा ही दी?"

"आप नाराज मत हों, मैंने अपने ओठोंको सी दिया है; किसीसे जिक्र तक नहीं करता, किन्तु ज्योतिषीजीके परिवारका और मेरा सम्बन्ध आप जानते हैं। और फिर आपके समझानेसे पहिले जो बात मुँहसे निकल चुकी थी, उसे मैंने वापस करता?"

मेरे दोस्तका तकाजा बढ़ता ही गया—वह आपसे खुद बात करना चाहती है, अनुष्ठानमें जो खर्च लगे, उसे देनेकेलिए तैयार हैं। मैंने तन्त्रकी पुस्तकोंमें बन्ध्याके पुत्रप्राप्तिके कितने ही प्रयोग देखे थे, किन्तु मैं यह व्यवसाय नहीं करना चाहता था। संतोष तो उस वक्त हजार गुना ज्यादा था, यद्यपि मन्त्र-तन्त्रका

प्रयोग कहां तक खींचकर ले जा सकता है, इसका भी मुझे पता न था। एक दिन विद्यार्थीने रोनी-सूरत बनाकर कहना शुरू किया—"उस घरमें मेरा विश्वास चला जानेको है। आप एक बार चलकर, चाहे असाध्य ही क्यों न कह आयें, किन्तु चलें जरूर। नही तो मुझे झूठा बनाया जा रहा है।......"

पोथीमें वन्ध्योपचार पढ़ लेनेसे समस्याका सांमुख्य थोड़े ही किया जा सकता है। मैं गया। उमरने चाहे जो भी खिलाफ़ फैसला दिया हो, किन्तु मैंने अपनेको नौसिखिया साबित नही किया। मैंने इतना ही कहा,—'उपचार मैंने पढ़े हैं, किन्तु किसी गुरुकी देख-रेखमें मैंने उनका प्रयोग नही किया है, और मन्त्र-विद्यामें बिना गुरुके निरीक्षणमें कुछ करना खतरनाक है।'

मेरी साफ़गोईका स्त्रीपर अच्छा असर पड़ा, मेरी जान भी बच गई।

स्वामी पूर्णानन्दके पास जब-तब जाना मेरा अब भी हो रहा था। मन्त्र-तन्त्रके ग्रन्थोंके पढ़नेसे उनकी 'गुरुभाई' अवधूतानीपर मुझे सिद्धायोगिनीका सन्देह हो रहा था, किन्तु अवधूतानी कुछ ही दिन रहकर नेपाल चली गई थीं। यजुर्वेद पढ़ते देख, स्वामी पूर्णानन्दने मुझे नेपाली कागजपर लिखी एक अपूर्ण यजुर्वेदसंहिता प्रदान की, जिसे कुछ वर्षों पीछे मैं न सुरक्षित समझ लालचन्द पुस्तकालय (डी० ए० वी० कालेज, लाहौर) को भेंट कर दिया। मन्त्र-तन्त्रपर श्रम और श्रद्धा पराकाष्ठाको पहुँच रही थी, कोई विशाल प्रयोग करना अब मेरे लिए अनिवार्य हो गया था। मैंने पूर्णानन्दजीसे—यह कह दू, पूर्णानन्दजीने कभी मुझसे गुरुवत् मनवानेकी आशा न रखी, और न मैंने वैसा किया—किसी मन्त्र या देवताकी सिद्धि-केलिए प्रयोग बतलानेका आग्रह शुरू किया। क्वारका नवरात्र जितना ही नजदीक आता गया, उतना ही मेरा आग्रह बढ़ता गया, और उन्हें मेरी प्रार्थना मंजूर करनी पड़ी।

नवरात्रमें पंडित मुखरामजी घर जानेवाले थे, इसलिए मन्त्र सिद्धिकेलिए सबसे उपयुक्त स्थान उनकी कोठरी थी। छोटे गूदरमें वही एक कोठेपरकी कोठरी थी, और थी एक कोने (पूर्व-उत्तर) में। मन्दिर, रसोईघर तथा साधुओंके रहनेके स्थान पच्छिम तरफ़में थे, जो वहांसे काफी दूर पड़ते थे। हमारी कोठरीके नीचे रहनेवाले विद्यार्थी भी घर चले गये थे। थी वहां वह दुहरी कमरवाली दुबली पतली अस्सी बरसकी बुढ़िया, जिसे चिढ़ानेमें विद्यार्थियोंको बहुत मजा आता था, और वह भी आपेसे बिना बाहर हुये चुन-चुनकर गालियां सुनाती—"गुलामका बेटा,...." बुढ़िया माई अच्छी बात भी लड़कोंके मुंहसे सुननेको तैयार न होती, सिवाय उस समयके जब कि नारियलपर चिलम रखकर धूम्रपान सेवन करती। तीसों बरस हो गये थे बुढ़ियाको इसी मठमें रहते। बूढ़े महन्त वंशीदासने उसे तरुणी विधवाके तौरपर मुजफ़्फ़रपुर जिलेसे लाकर आश्रय दिया था। वंशीदास

अभी भी जीवित थे, किन्तु बुढ़ापेके कारण अब वह आँख-कानके साथ मठकी अध्यक्षताको भी खो चुके थे। बुढ़िया उन्हें भी पचास गालियां देती, किन्तु वहां सुननेवाला कौन था। खाना-पानी देनेमें अब भी वह बंसीदासकी सहायता करती।

हमारी मन्त्र-साधनावाली कोठरीके ठीक नीचे ही बुढ़िया रहती थी, किन्तु उससे बाधाका डर न था। स्वामी पूर्णानन्दके अतिरिक्त चक्रपाणि ब्रह्मचारी ही दूसरे व्यक्ति थे, जो मेरी मन्त्रसिद्धिकी बात जानते थे। उनके जिम्मे एक बार सिर्फ़ रातको कृष्णाका आधसेर गर्म दूध ला देना था, जिसे वह सेर भरसे जलाकर छटांक घीके योगके साथ लाते थे।

पंडित मुक्तरामजीकी पुस्तकें बगलसे एक तरफ़ रख दी गईं, उनकी संख्या ज्यादा नहीं थी। और सामान नीचे कोठरीमें रख आये। उस स्वच्छ कोठरीमें सिर्फ़ मेरा आसन था। बीचमें, पक्के फर्शपर जमीनसे उभड़ा गंगाकी चिकनी मिट्टीसे मैंने सुन्दर षट्कोण बनाया, जिसके केन्द्रमें 'ओं' और छओं कोनोंपर 'श्रीं ह्रीं क्लीं फट् स्वा हा' मिट्टीके उभड़े हुए सुन्दर अक्षरोंमें रचकर लिखा। सबेरेके वक्त अँधेरा रहते ही मैं गंगा-स्नान कर आता, और बगलकी फुलवाड़ीसे थोड़ा फूल लेकर धूपदीपके साथ 'चक्र' की पूजा करता, और फिर पूर्णानन्दके बतलाये 'श्रीं ह्रीं क्लीं' मन्त्रका रुद्राक्ष मालापर जप करने लगता। उन्होंने बतलाया था, कि पूरे नियमके साथ ९ लाख जप करनेपर दुर्गा सिंहवाहिनीका साक्षात् दर्शन होगा, वह 'वरंब्रूहि' कहेगी, फिर धन, बल, बुद्धि, विद्या जो मांगना हो मांग लेना। मैंने पहिले अल्पश्रम साध्य यक्षिणी या किसी दूसरे छोटे-मोटे देवता—हनुमान आदि—की सिद्धि करनी चाही थी, किन्तु पूर्णानन्दकी राय हुई—कुछ श्रम भले ही अधिक करना पड़े, किन्तु आद्याशक्तिकी सिद्धि अर्थ-धर्म-काम-मोक्ष चारों फलोंकी साधक होगी।

दिनभर पच्छिम, दक्खिनके दोनों दर्वाजे बन्द रहते और मैं अपने जपमें संलग्न रहता। शायद वृद्ध विद्यार्थी पंडित रामकुमारदास पूजाके बारेमें जानते हों, किन्तु उन्होंने कभी बातचीत करनी नहीं चाही। रातके कुछ घंटे सोनेके सिवाय बाकी समय जप और पूजामें बीतता। शामके वक्त ब्रह्मचारी दूध देने आते, उनके सिवाय किसी आदमीका दर्शन नहीं, बात तो उनसे भी एक या दो वाक्यतक परिमित थी। पांच-छै दिनतक तो कोई बात ही नहीं, सातवां दिन भी बीता, सिंहवाहिनीके पाजेबकी घंटीका भी कहीं पता न था। रातको छतपर नजर गड़ाये जब बैठता, तो कोठेकी कड़ियोंपर पड़ी पत्थरकी पटियोंके खुरदरापनके कारण उभड़ आई रेखायें, टिमटिमाते घीके चिरागकी रोशनीमें कुछ ज्यादा स्पष्ट होने लगतीं। जहां-तहां उनमें कुछ चेहरोंका आकार निकलता दिखलाई पड़ता, किन्तु रेखाओंका ध्यान करते ही वे फैलके विलीन हो जाते। आठवां अहोरात्र भी बीत गया, इस दिनके

सूर्यास्तसे दिल धड़कने लगा। आज पूजाकेलिए विशेष सामग्री जमा की गई थी, जिसमें और चीजोंके अतिरिक्त कितने ही धतूरके पक्के फल भी थे। मैंने भक्ति-भावसे गद्गद् हो स्तुतिपुरस्सर जगदम्बाकी पूजा की। 'कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति' को बड़े भावावेशके साथ कई बार दुहराया। जपके शेष भागको भी समाप्त किया। चित्त भगवतीके गुणोंके चिन्तन, कान उनकी नूपुरध्वनिके श्रवण, और नेत्र दिशाओंको जब-तब निहारनेमें लग्न थे। धीरे-धीरे दिन बीत चला। शाम हुई। अँधेरा होते ब्रह्मचारी दूध दे गये, मैं उनसे एक शब्द भी नहीं बोला। उनके चले जानेके बाद मेरे मनमें प्रतिक्रिया शुरू हुई। मैंने सारी विधियोंका पूर्णरूपेण पालन किया। किसी सामग्रीमें कमी नहीं रही। मन्त्रका उच्चारण बिल्कुल शुद्ध-शुद्ध किया। मन्त्रका प्रभाव तो अमोघ है, फिर क्या कारण है, जो जगदम्बाने दर्शन नही दिया? बहुत 'सोचने-विचारने' के बाद मैं इसी निर्णयपर पहुँचा, कि इस असफलतामें मेरा अभागा जीवन ही कारण है और तै किया कि इस जीवनके रखनेसे लाभ नहीं? उसी वक्त मैंने दो चिट्ठियां लिखीं। एकमें लिखा कि मेरी लाशको मणिकर्णिकापर फूंक दिया जावे, दूसरेमें पिताजीको अभागे पुत्रकेलिए शोक न करनेकी प्रार्थना की गई थी। दोनों चिट्ठियोंको शायद धोतीके खूटसे या जनेऊमें बांधा था। मैंने पूजामें चढ़ाये धतूरके फलोंमेंसे दोके सारे बीजोंको मिश्रीके साथ कूटा, और इस अर्धअवलेहको पानीके सहारे निगल गया। इसके बाद बिछौनेको कोठरीसे बाहर पच्छिमकी छतपर बिछाकर पड़ रहा।

उसके बादकी अवस्थाके बारेमें सहवासी कह रहे थे—उनमेंसे एक, शायद पं० रामकुमारदास, ऊपर पेशाब करने आये, तो उन्होंने मुझे छतपर लोटते देखा। दूसरोंकी सहायतासे वे मुझे नीचे ले गये। मैं कुछ समयतक बोलता-चालता न था, पीछे विक्षिप्तसी बातें कर रहा था। मुझे याद है, धतूरेके खानेके बाद कै आई थी, और पेटके भीतरका बहुतसा अंश निकल गया था। दूसरी बात ख्याल पड़ती है—खूब दिन निकल आया था; मुझे कई आदमी जोरसे पकड़कर रखे हुए थे, मैं उनसे आदमीके तौरपर पेश आनेकेलिए बिनती कर रहा था।

उसी दिन अचानक यागेश आ गये। उस अवस्थामें भी यागेशको देखकर मैं ठंडी बातें करने लगा। मैंने कहा, मुझे तालाबपर ले चलो, मैं खूब मुंह तथा शिर धोना चाहता हूँ। यागेश मुझे पक्की सीढ़ियोंसे उतारते पुष्करपर ले गये। मैं उसमें कूद पड़ा। देखनेवाले घबराये, यागेश वैसे ही कपड़ा पहने कूद पड़े, और उन्होंने जाकर मुझे पकड़ा। मैं वस्तुतः गर्मीसे व्याकुल था, इसीलिए कूदा था। बाहर निकाला गया।

दूसरे दिन शामतक मैं होशमें आ गया या तीसरे दिन, इसका मुझे कुछ पता

नहीं। वहाँसे मुझे मोतीरामके बगीचेमें लाया गया। अब मैं बहुत कुछ प्रकृतिस्थ था। कुछ उतलाया हुआ-सा था, किन्तु अकलकी बातें करता था। साथियोंसे कहा—मैंने बहुत धतूरा खा डाला है। पेटमें ज्वाला फूके हुए है। जले तम्बाकू, कोयला पीसकर पिलाओ, जिसमें पेट साफ़ हो जावे। शायद लोगोंने दिया भी, किन्तु पेटमें अबतक कोई चीज रखी हुई थोड़े ही थी। इस सारी हालतमें न कोई डाक्टर बुलाया गया न वैद्य, भूत-प्रेत झाड़नेवाला आया हो तो उसकी खबर नहीं।

रातको बागके बीचवाले चबूतरेसे चाँदनी रातमें नींबुओंकी ओर देखता। उसकी डालियाँ धीरे-धीरे बढ़ने लगतीं, और अन्तमें हथियारबन्द हजार पैदल तथा घुड़सवार पल्टनोंकी पंक्तिमें परिणत हो जातीं। वह मार्च करते मेरी तरफ़ आतीं, जब पाँच-सात कदम रह जाता और मैं हटनेके तरद्दुदमें पड़ जाता, तो वह फिर पीछे हटकर छोटी-छोटी पत्तियाँ बन जातीं।

इस प्रकार प्राणोंकी बाजी लगाकर मैंने मंत्र-साधना की।

६

बनारसमें पढ़ाई (२)

और तरहसे अच्छा हो जानेपर भी पुस्तकोंके अक्षर मुझे फुली हुई हल्की स्याही जैसे मालूम होते थे। मामाके साथ मैं घर चला गया। इसके बाद भी आँखोंकी रोशनीकी यही हालत रही। इसी बीच कलकत्ताका परीक्षा-पत्र भरनेका समय भी बीत गया। अक्षर जब फिर पढ़ने लगा, तो मैं फिर बनारस (अक्तूबरमें) चला आया।

अब मुझमें कुछ परिवर्तन था। यह तो नहीं कह सकता, कि मन्त्र-तन्त्र, देवी-देवताओंपरसे मेरा विश्वास उठ गया। उसकी सम्भावना कहाँ थी, जब कि मेरे आस-पासके विद्वान्-मूर्ख सब उस विश्वासको बढ़ानेमें सहायक थे। हाँ, अब फिर वैसे तजर्बेके लिए मैं तैयार न था। धार्मिक वायुमंडलमें उड़नेके साथ ठोस पृथिवीपर भी पैर रखना चाहिए, इधर भी मेरा ख्याल गया। साधुओं और त्यागियोंके समाजमें भी अंग्रेजी जाननेवालोंकी कदर होते देख, मैंने तै किया, कुछ समय उसके लिए देनेको। आनन्दबागमें एक तरुण ब्रह्मचारी रहते थे, जिनके बारेमें हमारे चक्रपाणि ब्रह्मचारीका कहना था, यह सब पास कर गये हैं, 'फिलासफरी किया'। मैं एक दिन गया, तो देखा भास्करानन्दजी समाधिके पूरबवाले मकानकी सीढ़ियोंके सिरेपर लिखा था, 'कृपया आनेका कष्ट न उठाइए।' मैं वहींसे लौट आया। लेकिन ब्रह्मचारी चक्रपाणि किसी तरह उनके पास पहुँच गये। उनका

ही नही उन्होंने उनसे वादा ले लिया, कि वे मुझे अंग्रेजी पढ़ायेंगे। अपनी जगह बुलाकर पढ़ानेकी जगह उन्होंने शामको टहलनेकेलिए निकलनेपर मेरे वासस्थान—उस वक्त मै स्वामी अनन्ताश्रमके लिमडी-छत्रमें रहता था—में आकर पढ़ाना स्वीकार किया। मै कई महीने उनसे पढता रहा, जिसमें छठीं क्लासतक पढ़े जानेवाले सभी रीडर समाप्त कर डाले।

तन्त्र-मन्त्र और पूजा-पाठके अभावमें समयकी भी काफ़ी वचत थी। उस समयको संस्कृत और अंग्रेजीके अतिरिक्त हिन्दी पुस्तकों और समाचार-पत्रोंके पढ़नेमें भी लगाना शुरू किया। अखबारोंका शौक 'विदेशयात्रा' वाले मुकदमेंसे बनारसमें फैली सनसनीके कारण हुआ था। बाबू श्रीप्रकाश विलायतसे लौटकर आये थे, उनकी अग्रवाल-विरादरीने उनको जातिच्युत किया था, इसलिए जातिके पंचोंपर मानहानिका मुकदमा दायर हुआ था। पंचोंकी तरफ़से पं० शिवकुमार शास्त्री जैसे धुरंधर पंडित समुद्रयात्राके विरुद्ध साक्षी पेश कियें जाते थे। मुकदमेकी कार्रवाई अखबारोंमें छपती थी। कचौड़ीगलीमें अन्नपूर्णाकी ओरवाले छोरके पास एक अखबारके पन्ने टँगे रहते थे, जिसे मेरे जैसे विना पैसा-कौड़ीके अखबार पढ़नेके शौकीन पढ़ा करते थे। बढ़ते-बढ़ते यह शौक चौक जाते वक्त कारमाइकल लाइब्रेरी तथा रींवा कोठीके एक तरुण विद्यार्थीतक ले जाने लगा। दुर्गाकुंडपर भी पुस्तकों और हिन्दी अखबारोंका अड्डा निकल आया। वहां ही पहिले-पहिल "सरस्वती" का परायण मैंने शुरू किया था। उस वक्त खन्नाके अमेरिका-भ्रमणपर लेख निकल रहे थे। स्वामी सत्यदेव परिव्राजकके एक-दो व्याख्यान (गिने-चुने तरुणोंके सामने गोदौलियाके पास एक कोठरेपर, अपने निवासस्थान पर दियें गये) भी सुननेको मिले।

इसी समय फुसलाकर टापूमें भेज देनेवाले अरकाटियोंसे सावधान रहने तथा टापूके कष्टके सम्बन्धमें छपे उनके हैंडविल पढ़नेको मिले। इस सम्बन्धके, मालूम होता है, कई लेख पढ़नेको मिले, तभी तो मैं किसी अरकाटीसे भिड़न्त करनेकेलिए डोलता-फिरता था। एक दिन मैं दशाश्वमेघसे सिकरौल जानेवाली सड़कपर कहीं जा रहा था। एक आदमीने आकर मुझसे पूछा—"नौकरी करना चाहते हो?"

"क्या नौकरी?"

शायद मेरे शिरपर चन्दन था, अथवा विद्यार्थीके वेषसे वह समझ गया, कि मैं ब्राह्मण हूँ। बोला—"बाबूकी रसोई बनानी है?"

"कितना रुपया मासिक मिलेगा?" मैंने मनोरंजनकेलिए, किन्तु संजीदगीके साथ पूछा।

"बीस रुपया महीना, किन्तु बनारससे बाहर कुछ दूर जाना पड़ेगा।"

अब मुझे निश्चय होगया, कि वह अरकाटी है। मैंने और इत्मीनानसे कहा—

गुरुजीने परामर्शको स्वीकार कर मेलेमें टमटम खरीद लानेके लिए मुझे ही भेज दिया।

सोनपुरके मेलेको उसके बाद, न जाने कितनी बार देखा, लेकिन वह पहिली बारकी नजरमें कुछ दूसरा ही जँचा था। कहीं कतारके कतार हाथी बँधे हुए हैं, जो जब-तब चिग्घाड़ उठते हैं। कहीं घोड़ोंके अलग-अलग कितने ही बाजार हैं—छोटे घोड़े अलग, नेपाली टाँघन अलग, और बड़ी रानोंके घोड़े अलग। कितने ही घोड़ोंके ऊपर कपड़ेका सुन्दर चँदवा टँगा हुआ है। बैलों और गायोंकी बाजारमें जानेपर अनन्त दूरतक मालूम होता है, उन्हींका हाट लगा है। मेलेमें सबसे अप्रिय चीज थी, दिनमें धूल और रातमें धुआँ। मैंने अपनी पसन्दका एक टमटम और घोड़ेका नया साज खरीदा, एक ही दो दिन रहकर टमटम लानेके लिए आदमियोंको छोड़कर चला आया।

नई जगहकी नवीनता भी धीरे-धीरे जाने लगी। मैं अपनी पढ़ाईपर नजर डालने लगा, तो वहाँ मेरे आसपास और दिनचर्यामें उसका कोई ख्याल न था। खैर, मैं "सरस्वती" और 'ज्ञान' (अंग्रेजी मासिक पत्र) का ग्राहक बन गया। इंडियन प्रेसकी छपी कुछ हिन्दीकी पुस्तकें तथा कितने ही संस्कृतके काव्य-नाटक मँगाये। इस प्रकार शून्यता कुछ कम मालूम होने लगी, साथ ही इसमें सहायक हुआ अगले दो-ढाई महीने लगातार देहातमें घूमते रहना। गुरुजी जानकीनगर, बुधया, कल्याणपुर होते एक ओर गंडकके किनारे सत्तेमपुर घाट तक पहुँच गये, तो दूसरी ओर गंगा-सोन संगमपर, गंगाके पास, मकर संक्रान्तिका स्नान किया। सभी जगह यात्रा उसी बग्घीसे होती रही, मेरा टमटम गुरुजीके लिए कम आराम-देह था।

मठके जमींदारीके गाँवोंमें दिखलाकर जमींदारका रोब मेरे लिए एक नई चीज थी। ननिहाल और पिताके गाँवमें हम लोग खुद छोटे-मोटे जमींदार थे, इसलिए अपने ऊपर जमींदारका रोब कैसे अनुभव कर पाते? किन्तु, मैं न समझ सकता था, कैसे यहाँके जमींदार अपने काश्तकारोंसे आपसी झगड़ेमें जुर्माना वसूल कर सकते हैं, ब्याह-शादी, आना-जाना रुक सकता, हुकूमत और बेगार ले सकते हैं। युक्त प्रान्तमें जहाँ पटवारी सरकारी नौकर था, वहाँ यहाँ मैं उसे जमींदारका नौकर पाता था। पटवारीसे सारे किसान कितनी घबराते थे, इसका मुझे अनुभव था; इसलिए यहाँ पटवारीके भी जमींदारका नौकर होनेकी बात देखकर मैं और समझने लगा किसानोंकी दयनीय दशाको।

मठके नौकर-चाकर मेरा बहुत अदब मानते थे, सिर्फ इसलिए नहीं कि मैं भावी "पुजारी"जी (परसाके महन्तोंके उत्तराधिकारियोंका पद भी एक उपनाम था; शायद पहिलेके कुछ महंत महन्त होनेसे पहिले पुजारी रह चुके थे) था, बल्कि इस-

लिए भी कि मैं कागजकी 'उदिया-गुदिया' समझता था, 'पारसी' अंग्रेजी सब जानता था। बूढ़े महन्तजीके बाद में ही महन्त बनूंगा, इसमें किसको संदेह था, जब कि मेरा नाम भी वही रामउदारदास पड़ा था, जिसके नाम महन्तजी महन्ती लिख चुके थे।

कनैला और पन्दहामें जमीदारी कागज-पत्रोंके देखनेका मुझे कभी मौका नहीं मिला था, और यहाँके कागज-पत्र-'तिरजी', 'सियाहा' आदि बिल्कुल दूसरी ही चीज थे। पहिले तो उधर ध्यान देनेमें ही दिल उकताता था, क्योंकि साथ ही मैं अपनेको विद्यार्थी अवस्थामें भी तो समझता था। देखते-देखते उनका समझना भी आसान हो गया। मठके जमा-खर्चके जंगलोंको देखना चाहा। मालूम हुआ कि कई सालसे जमा-खर्च ही तैयार नही हुआ। महन्तजीमें न उसे समझनेकी शक्ति थी न देखनेकी फ़ुरसत। पूछनेपर लिखने-पढनेवाले लोग बहानेबाजी करते। खर, यह तो मुझे मालूम हो गया, कि कर्ज बढता जा रहा है, और महन्तजी आमदनीसे ज्यादा खर्च कर रहे हैं। जिस सभामंडपके लिए पत्थर आने शुरू हो गए थे, वह उधारके रुपयोंसे बनते जा रहा है। यद्यपि उसके खर्चका तखमीना महन्तजी चार-पाँच हजार लगा रहे थे, किन्तु मैं समझ रहा था दस हजार, और अन्तमें तो वह पन्द्रह हजार पहुँचकर रहा। मठके भीतरी यन्त्रको बहुत दूर जाकर देखनेकी मुझे बिल्कुल इच्छा नही थी, क्योंकि जैसा मैं कह चुका हूँ, मैं अपना ध्यान पढ़नेसे दूसरी ओर नही ले जाना चाहता था, किन्तु जो कुछ देखा, वही कम न था।

तीन महीने बीत चुके थे, अब जनवरी १९१३ ई० शुरू थी, और पढ़नेका कोई भी इन्तजाम नही। शायद इसका असर भी जाहिर होता, किन्तु इसी समय पत्थरके भेजने तथा कारीगरोंके आनेमें कुछ गड़बडी हुई, जिसके लिए महन्तजी फिर बनारस गये—महन्तजीको ठगना आसान था, और वह हमेशा ठगे जाते थे; किन्तु, स्वयं जाकर सारी जमातके साथ रेल-भोजन आदिपर चौगुना खर्च करके भी—यदि काम करते थे, तो समझते थे, कि मैंने बहुतसे रुपये बचा लिये। उनकी अनुपस्थितिमें एक दिन पिताजी और फूफा महादेव पंडित परसा आ धमके। जिस खतरेसे मैं डरता था, वह खतरा मेरे सामने आ खडा हुआ। सोचने लगा, किस तरह बचा जाये। तै किया—जिस वक्त यह लोग औरोंसे बात करनेमें फँसे हों, उसी वक्त भाग चलना चाहिए। दूसरे दिन सबेरे मैंने नकछेदीको कहा—टमटम कसकर सड़कपर दूर लेकर चलो। 'जी महाराज' कहकर वह कसने लगा। मैं मासूमकी तरह फूफाजीके पास बैठा कुछ गुन रहा था। रामदास या किसी दूसरेने इशारेसे बतलाया कि टमटम चला गया। मैं किसी बहाने उठा, और खिड़कीके रास्ते खेतोंसे होकर सड़कपर पहुँचा। एक बार टमटमपर सवार हो जानेके बाद मेरे हाथमें चाबुक और घोड़ेकी पीठ थी, यदि वह खड़ा होनेका नाम लेता। एकमा,

गुरुजीने परामर्शको स्वीकार कर मेलेसे टमटम खरीद लानेके लिए मुझे ही भेज दिया।

सोनपुरके मेलेको उसके बाद, न जाने कितनी बार देखा, लेकिन वह पहिली बारकी नजरमें कुछ दूसरा ही जँचा था। कहीं कतारके कतार हाथी बँधे हुए हैं, जो जब-तब चिग्घाड़ उठते हैं। कहीं घोड़ोंके अलग-अलग कितने ही बाजार हैं—छोटे घोड़े अलग, नेपाली टांघन अलग, और बड़ी राशिके घोड़े अलग। कितने ही घोड़ोंके ऊपर कपड़ेका सुन्दर चँदवा टँगा हुआ है। बैलों और गायोंकी बाजारमें जानेपर अनन्त दूरतक मालूम होता है, उन्हींका हाट लगा है। मेलेमें सबसे अप्रिय चीज थी, दिनमें धूल और रातमें धुआँ। मैंने अपनी पसन्दका एक टमटम और घोड़ेका नया साज खरीदा, एक ही दो दिन रहकर टमटम लानेके लिए आदमियोंको छोड़कर चला आया।

नई जगहकी नवीनता भी धीरे-धीरे जाने लगी। मैं अपनी पढ़ाईपर नजर डालने लगा, तो वहाँ मेरे आसपास और दिनचर्यामें उसका कोई स्थान न था। खैर, मैं "सरस्वती" और 'डान' (अंग्रेजी मासिक पत्र) का ग्राहक बन गया। इंडियन प्रेसकी छपी कुछ हिन्दीकी पुस्तकें तथा कितने ही संस्कृतके काव्य-नाटक मँगाये। इस प्रकार शून्यता कुछ कम मालूम होने लगी, साथ ही इसमें सहायक हुआ अगले दो-ढाई महीने लगातार दीहातमें घूमते रहना। गुरुजी जानकीनगर, बुधवा, कल्यानपुर होते एक ओर गंडकके किनारे सलेमपुर घाट तक पहुँच गये, तो दूसरी ओर गंगा-सोन संगमपर, मठाके पास, मकर संक्रान्तिका स्नान किया। सभी जगह यात्रा उसी बग्घीसे होती रही, मेरा टमटम गुरुजीके लिए कम आरामदेह था।

मठके जमींदारीके गाँवोंमें रिआयापर जमींदारका रोब मेरे लिए एक नई चीज थी। ननिहाल और पिताके गाँवमें हम लोग खुद छोटे-मोटे जमींदार थे, इसलिए अपने ऊपर जमींदारका रोब कैसे अनुभव कर पाते? किन्तु, मैं न समझ सकता था, कैसे यहाँके जमींदार अपने कारिन्दोंसे आपसी झगड़ेमें जुर्माना वसूल कर सकते हैं, ब्याह-शादी, आना-जाना हर चरत कुसूमत और बेगार ले सकते हैं। युक्तप्रान्तमें जहाँ पटवारी सरकारी नौकर था, वहाँ यहाँ मैं उसे जमींदारका नौकर पाता था। पटवारीसे सारे किसान कितनी पनाह माँगते थे, इसका मुझे अनुभव था; इसलिए यहाँ पटवारीके भी जमींदारका नौकर होनेकी बात देखकर मैं और समझने लगा किसानोंकी दयनीय दशाको।

मठके नौकर-चाकर मेरा बहुत अदब मानते थे, सिर्फ इसलिए नहीं कि मैं नया "पुजारी"जी (परसाके महन्तके उत्तराधिकारियोंका यह भी एक उपनाम था। शायद पहिलेके कुछ अधिक महन्त होनेसे पहिले पुजारी रह चुके थे) था, बल्कि इस-

लिए भी कि मैं कागजकी 'उदिया-गुदिया' समझता था, 'पारसी' अंग्रेजी सब जानता था। बूढ़े महन्तजीके बाद मैं ही महन्त बनूंगा, इसमें किसको संदेह था, जब कि मेरा नाम भी वही रामउदारदास पड़ा था, जिसके नाम महन्तजी महन्ती लिख चुके थे।

कनैला और पन्दहामें जमींदारी कागज-पत्रोंके देखनेका मुझे कभी मौका नहीं मिला था, और यहाँके कागज-पत्र-'तिरजी', 'सियाहा' आदि बिल्कुल दूसरी ही चीज थे। पहिले तो उधर ध्यान देनेमें ही दिल उकताता था, क्योंकि साथ ही मैं अपनेको विद्यार्थी अवस्थामें भी तो समझता था। देखते-देखते उनका समझना भी आसान हो गया। मठके जमा-खर्चके जंगलोंको देखना चाहा। मालूम हुआ कि कई सालसे जमा-खर्च ही तैयार नहीं हुआ। महन्तजीमें न उसे समझनेकी शक्ति थी न देखनेकी फ़ुरसत। पूछनेपर लिखने-पढनेवाले लोग बहानेबाजी करते। खैर, यह तो मुझे मालूम हो गया, कि कर्ज बढ़ता जा रहा है, और महन्तजी आमदनीसे ज्यादा खर्च कर रहे हैं। जिस सभामंडपके लिए पत्थर आने शुरू हो गए थे, वह उधारके रुपयोंसे बनने जा रहा है। यद्यपि उसके खर्चका तखमीना महन्तजी चार-पाँच हजार लगा रहे थे, किन्तु मैं समझ रहा था दस हजार, और अन्तमें तो वह पन्द्रह हजार पहुँचकर रहा। मठके भीतरी यन्त्रको बहुत दूर जाकर देखनेकी मुझे बिल्कुल इच्छा नहीं थी, क्योंकि जैसा मैं कह चुका हूँ, मैं अपना ध्यान पढ़नेसे दूसरी ओर नहीं ले जाना चाहता था, किन्तु जो कुछ देखा, वही कम न था।

तीन महीने बीत चुके थे, अब जनवरी १९१३ ई० शुरू थी, और पढ़नेका कोई भी इन्तजाम नहीं। शायद इसका असर भी जाहिर होता, किन्तु इसी समय पत्थरके भेजने तथा कारीगरोंके आनेमें कुछ गड़बड़ी हुई, जिसके लिए महन्तजी फिर बनारस गये—महन्तजीको ठगना आसान था, और वह हमेशा ठगे जाते थे; किन्तु, स्वयं जाकर सारी जमातके साथ रेल-भोजन आदिपर चौगुना खर्च करके भी—यदि काम करते थे, तो समझते थे, कि मैंने बहुतसे रुपये बचा लिये। उनकी अनुपस्थितिमें एक दिन पिताजी और फूफा महादेव पंडित परसा आ धमके। जिस खतरेसे मैं डरता था, वह खतरा मेरे सामने आ खड़ा हुआ। सोचने लगा, किस तरह बचा जाये। तै किया—जिस वक़्त यह लोग औरोंसे बात करनेमें फँसे हों, उसी वक़्त भाग चलना चाहिए। दूसरे दिन सबेरे मैंने नकछेदीको कहा—टमटम कसकर सड़कपर दूर लेकर चलो। 'जी महाराज' कहकर वह कसने लगा। मैं मासूमकी तरह फूफाजीके पास बैठा कुछ सुन रहा था। रामदास या किसी दूसरेने इशारेसे बतलाया कि टमटम चला गया। मैं किसी बहाने उठा, और खिड़कीके रास्ते खेतोंसे होकर सड़कपर पहुँचा। एक बार टमटमपर सवार हो जानेके बाद मेरे हाथमें चाबुक और घोड़ेकी पीठ थी, यदि वह खड़ा होनेका नाम लेता। एकमा,

गुरुजीने परामर्शको स्वीकार कर मेलेसे टमटम खरीद लानेके लिए मुझे ही भेज दिया।

सोनपुरके मेलेको उसके बाद, न जाने कितनी बार देखा, लेकिन वह पहिली बारकी नजरमें कुछ दूसरा ही जँचा था। कहीं कतारके कतार हाथी बँधे हुए हैं, जो जब-तब चिग्घाड़ उठते हैं। कहीं घोड़ोंके अलग-अलग कितने ही बाजार हैं—छोटे घोड़े अलग, नेपाली टाँघन अलग, और बड़ी राशिके घोड़े अलग। कितने ही घोड़ोंके ऊपर कपड़ेका सुन्दर चँदवा टँगा हुआ है। बैलों और गायोंकी बाजार-में जानेपर अनन्त दूरतक मालूम होता है, उन्हींका हाट लगा है। मेलेमें सबसे अप्रिय चीज थी, दिनमें धूल और रातमें धुआँ। मैंने अपनी पसन्दका एक टमटम और घोड़ेका नया साज खरीदा, एक ही दो दिन रहकर टमटम लानेके लिए आद-मियोंको छोड़कर चला आया।

नई जगहकी नवीनता भी धीरे-धीरे जाने लगी। मैं अपनी पढ़ाईपर नजर डालने लगा, तो वहाँ मेरे आसपास और दिनचर्यामें उसका कोई स्थान न था। खैर, मैं "सरस्वती" और 'डान' (अंग्रेजी मासिक पत्र) का ग्राहक बन गया। इंडियन प्रेसकी छपी कुछ हिन्दीकी पुस्तकें तथा कितने ही संस्कृतके काव्य-नाटक मँगाये। इस प्रकार शून्यता कुछ कम मालूम होने लगी, साथ ही इसमें सहायक हुआ अगले दो-ढाई महीने लगातार दीहातमें घूमते रहना। गुरुजी जानकीनगर, बुधवा, कल्यानपुर होते एक ओर गंडकके किनारे सलेमपुर घाट तक पहुँच गये, तो दूसरी ओर गंगा-सोन संगमपर, संठाके पाग, मकर संक्रान्तिका स्नान किया। सभी जगह यात्रा उसी बग्घीसे होती रही, मेरा टमटम गुरुजीके लिए कम आराम-देह था।

मठके जमींदारीके गाँवोंमें रिआयापर जमींदारका रोब मेरे लिए एक नई चीज थी। ननिहाल और पिताके गाँवमें हम लोग खुद छोटे-मोटे जमींदार थे, इसलिए अपने ऊपर जमींदारका रोब कैसे अनुभव कर पाते? किन्तु, मैं न समझ सकता था, कैसे यहाँके जमींदार अपने कारिन्दोंसे आपसी झगड़ेमें जुर्माना वसूल कर सकते हैं, ब्याह-शादी, आना-जाना हर बात हुकूमत और बेगार ले सकते हैं। युक्त प्रान्तमें जहाँ पटवारी सरकारी नौकर था, वहाँ यहाँ मैं उसे जमींदारका नौकर पाता था। पटवारीसे सारे किसान कितनी पनाह माँगते थे, इसका मुझे अनुभव था, इसलिए यहाँ पटवारीके भी जमींदारका नौकर होनेकी बात देखकर मैं और समझने लगा किसानोंकी दयनीय दशाको।

मठके नौकर-चाकर मेरा बहुत अदब मानते थे, सिर्फ इसलिए नहीं कि मैं नया "पुजारी"जी (परसाके महन्तोंके उत्तराधिकारियोंका यह भी एक उपनाम था। शायद पहिलेके कुछ व्यक्ति महन्त होनेसे पहिले पुजारी रह चुके थे) था, बल्कि इस-

लिए भी कि मैं कागजकी 'उदिया-गुदिया' समझता था, 'पारसी' अंग्रेजी सब जानता था। बूढ़े महन्तजीके बाद मैं ही महन्त बनूंगा, इसमें किसको संदेह था, जब कि मेरा नाम भी वही रामउदारदास पड़ा था, जिसके नाम महन्तजी महन्ती लिख चुके थे।

कनैला और पन्दहामें जमीदारी कागज-पत्रोंके देखनेका मुझे कभी मौका नही मिला था, और यहाँके कागज-पत्र-'तिरजी', 'सियाहा' आदि बिल्कुल दूसरी ही चीज थे। पहिले तो उधर ध्यान देनेमें ही दिल उकताता था, क्योंकि साथ ही मैं अपनेको विद्यार्थी अवस्थामें भी तो समझता था। देखते-देखते उनका समझना भी आसान हो गया। मठके जमा-खर्चके जंगलोंको देखना चाहा। मालूम हुआ कि कई सालसे जमा-खर्च ही तैयार नही हुआ। महन्तजीमें न उसे समझनेकी शक्ति थी न देखनेकी फुरसत। पूछनेपर लिखने-पढ़नेवाले लोग बहानेबाजी करते। खैर, यह तो मुझे मालूम हो गया, कि कर्ज बढता जा रहा है, और महन्तजी आमदनीसे ज्यादा खर्च कर रहे हैं। जिस सभामंडपके लिए पत्थर आने शुरू हो गए थे, वह उधारके रुपयोंसे बनने जा रहा है। यद्यपि उसके खर्चका तखमीना महन्तजी चार-पाँच हजार लगा रहे थे, किन्तु मैं समझ रहा था दस हजार, और अन्तमें तो वह पन्द्रह हजार पहुँचकर रहा। मठके भीतरी यन्त्रको बहुत दूर जाकर देखनेकी मुझे बिल्कुल इच्छा नही थी, क्योंकि जैसा मै कह चुका हूँ, मैं अपना ध्यान पढनेसे दूसरी ओर नही ले जाना चाहता था, किन्तु जो कुछ देखा, वही कम न था।

तीन महीने बीत चुके थे, अब जनवरी १९१३ ई० शुरू थी, और पढ़नेका कोई भी इन्तजाम नही। शायद इसका असर भी जाहिर होता, किन्तु इसी समय पत्थरके भेजने तथा कारीगरोंके आनेमें कुछ गड़बड़ी हुई, जिसके लिए महन्तजी फिर बनारस गये—महन्तजीको ठगना आसान था, और वह हमेशा ठगे जाते थे; किन्तु, स्वयं जाकर सारी जमातके साथ रेल-भोजन आदिपर चौगुना खर्च करके भी—यदि काम करते थे, तो समझते थे, कि मैंने बहुतसे रुपये बचा लिये। उनकी अनुपस्थितिमें एक दिन पिताजी और फूफा महादेव पंडित परसा आ धमके। जिस खतरेसे मैं डरता था, वह खतरा मेरे सामने आ खड़ा हुआ। सोचने लगा, किस तरह बचा जाये। तै किया—जिस वक्त यह लोग औरोंसे बात करनेमें फँसे हों, उसी वक्त भाग चलना चाहिए। दूसरे दिन सबेरे मैंने नकछेदीको कहा—टमटम कसकर सड़कपर दूर लेकर चलो। 'जी महाराज' कहकर वह कसने लगा। मैं मासूमकी तरह फूफाजीके पास बैठा कुछ सुन रहा था। रामदास या किसी दूसरेने इशारेसे बतलाया कि टमटम चला गया। मैं किसी बहाने उठा, और खिड़कीके रास्ते खेतोंमें होकर सड़कपर पहुँचा। एक बार टमटमपर सवार हो जानेके बाद मेरे हाथमें चाबुक और घोड़ेकी पीठ थी, यदि वह खड़ा होनेका नाम लेता। एकमा,

दाऊदपुर, कोपा-समहुताके पास पहुँचा। मेरा जिलेसे बाहर कहीं अनजान जगहमें चला जाना जरूरी था, और टमटम वहाँ तक जा नहीं सकता था, इसलिए मैंने नकछेदीको कहा—'टमटम लौटा ले जाओ, रास्तेमें कोई पूछे तो कह देना, मैं नहीं जानता कहाँ गये, मैं तो यहींसे उतारकर आ रहा हूँ।'

कोपा-समहुतामें ट्रेन आनेमें देर थी, इसलिए वहाँ प्रतीक्षा करनेकी जगह अगले स्टेशन—छपरा—पर पैदल चलकर पहुँच जाना अच्छा समझा। छपरासे मुजफ्फरपुर, पटना, बनारसकी तरह निकल जा सकता था, और शायद ट्रेन भी थी, किन्तु सबसे पहिले तो आवश्यकता थी, रुपयेकी जिसके बारेमें परसामें मैंने नहीं सोचा था, हालाँकि उसके लिए वहाँ सुभीता था। यहाँ छपरामें मुख्तार ठाकुर-प्रसादके सिवाय मेरा कोई परिचित न था। मैंने जाकर उनसे पिता और फूफाके चले आनेकी बात कही, और कहा कि इस वक्त मेरा यहाँसे हट जाना अच्छा होगा, आप कुछ रुपए दें। रुपया कितना भयंकर, कितना जहरीला नाम है, जिसके निकलनेके साथ आदमीकी बात, उसकी शान, उसकी इज्जत नगण्य हो जाती है! मुख्तार साहबके दिलमें भी इसी तरहका कोई भाव उद्‌भूत हुआ, अथवा उनकी सहानुभूति पिताजीकी ओर हो गई। उन्होंने नहीं तो नहीं किया, किन्तु 'थोड़ी देरमें कहेंगे' कहकर शब्दान्तरमें वही कहा।

मैं लौटा आ रहा था, गलीमें पिताजी मिले। मैं ग्यारह-बारह मील टमटमसे भी आया था, वह सारा रास्ता-परसासे छपरा पैदल आये, कैसे वह इतनी जल्दी पहुँच गये? और छपरामें इतनी जल्दी उन्हें जगहका पता कैसे लग गया। मालूम होता है, किसीसे उन्हें ये भेद मालूम हो गये थे. ऐसा भेद बतलानेवाला महन्तजीको प्रसन्न करनेवाला नहीं हो सकता। पिताजी हाँफ रहे थे उनकी आँखोंमें आँसू छलछला आये, कुछ जोरसे बोलना शुरू करना चाहते थे, किन्तु लोग जमा हो जायेंगे, इस शंकासे मैंने कहा—"आप हल्ला न करें, मैं सबेरेसे परसा चलूँगा।'

वहाँसे हम छावनीमें चले गये जो भी गजसे दूर नहीं थी।

सबेरे हम जब परसा पहुँचे तो देखा महन्तजी भी आ पहुँचे हैं। मुझे यह सुनकर बहुत झुँझलाहट पैदा हुई, कि फूफाजीकी बातोंमें पड़कर महन्तजीने सिर्फ दस दिनके लिए कनैला ले जानेकी इजाजत दे दी है। फूफाजीकी पंडिताईका ओझाजी तथा दूसरे लोगोंपर असर हुआ। उन्होंने जब कहा, 'उसकी आजी और बुआ रोते-रोते मरी जा रही हैं, अब तो वैरागी हो जानेके कारण यह हमारी जातिका भी नहीं रह गया, सिर्फ दर्शन और सान्त्वना देकर चला आये, बस हम इतना ही चाहते हैं।' महन्तजीने कहा—'कोई हर्ज नहीं।'

चलते वक्त रामदास खिदमतगार और हनुमानदास (नेत्रहीन होनेसे जिन्हें हम सूरदास कहते थे) साथी बनाकर भेजे गये। "दस दिनमें भेज देनेकी बात पक्की

है। वहाँ जाते ही मैं नजरबन्द कर लिया जाऊँगा"—मैं कितना ही कहता रहा किन्तु महन्तजीने कहा—हम वचन दे चुके हैं।

८

पकड़कर कनैलामें

(१९१३ ई०)

फूफाजीको ब्रह्मपर खास विश्वास था। बछवलमें एक संभ्रांत कायस्थके ऊपर उनका पाँच सौ रुपया कर्ज था, दस्तावेज लिखा हुआ मौजूद था। बहानेबाजीमें उसने तमादीकी मीयाद गुजार दी, और फिर मुकदमा दायर करनेपर वह खारिज हो गया। मुकदमा दायर करनेसे पहिले मूल रुपया वह शायद देना भी चाहते थे। खर, मुकदमा हारनेके बाद फूफा साहेबको बहुत क्रोध आया। घरवाले कह रहे थे, पाँच सौ रुपएके लिए इतनी चिन्ता क्यों करते हैं, किन्तु वह कब माननेवाले थे। उन्होंने बाल बढाये, पुरश्चरण शुरू किया, और जंगबहादुरलालको निरवंश करनेके-लिए उनके टोलेके कबके भूले-भटके ब्रह्मकी पिंडीपर दूधकी धार चढाकर उसे जगाना शुरू किया। इसी फिराकमें वह हरसूराम ब्रह्मकी शरणतकमें हो आये थे। किन्तु जंगबहादुरलालका बाल भी बाँका नही हुआ। हरसूराम ब्रह्मके जोड़-तोड़के ही मैरवावाले हरिराम ब्रह्म भी थे, और मैरवा हमारे रास्ते में पड़ता था, फिर फूफा साहेब वहाँ क्यों न उतरते ?

९ बजे सवेरेके करीब, हम स्टेशनपर उतरे, और मीलभर पैदल चलकर 'बाबाके धाम' पर पहुँचे। यात्री आते थे, पंडे भी मौजूद थे, किन्तु पिछले २८ वर्षोंमें जो श्रीवृद्धि 'बाबाके धाम' की हुई, वह उस वक्त न थी। बड़ा तालाब, और कितने ही मकान तथा दूकानें जो मन्दिरसे उत्तर आज दिखाई पड़ती हैं, वे सब पीछेकी माया हैं। हमलोग मंदिरके सामनेवाले कुएँपर बैठे। फूफा साहेब स्नान-सन्ध्यामें लगे और फिर उन्हे हरिराम ब्रह्मका पूजन करना था। मैं इस ब्रह्म-पूजासे मुक्त था, वैष्णव होनेका एक लाभ तो मिला। पंडित बतला रहे थे—हरि-रामकी गायको राजाने (जिसके ध्वस्त गढ़को थोड़ी ही दूरपर झरहीके किनारे पूरब उत्तरके कोनेपर अब भी दिखलाते हुए) जबर्दस्ती ले लिया। ब्राह्मण हरि-रामने बहुत विनती की, किन्तु प्रभुतामें मदान्ध राजाने एक न मानी। हरिरामने आत्महत्या कर ली। देखते-देखते राजाकी प्रभुता स्वप्नकी तरह विलीन हो गई। 'रहा न कुल कोउ रोवनहारा।' भव्य प्रासाद पस्त होकर मिट्टीमें मिल गये। मैंने कथाको ध्यानसे सुना, किन्तु अब उसमें वह प्रेरणा नहीं मिलती थी, जो दुर्गा-साधनासे पहिले ऐसी चमत्कारित कथाओंमें मिला करती थी।

मैरवासे दूसरी गाड़ी पकड़कर भटनीमें बदलते हुए मऊ पहुँचे। मऊमें यह मेरा पहिले-पहिल आना हुआ था। वहाँ एक या दो दिन हमलोग ठहरे थे कहाँ, सो याद नहीं। फूफा साहेब पसन्द नहीं कर रहे थे, कि सूरदास और रामदास मेरे साथ जायें। सूरदाससे उन्हें खास तौरसे भय था, क्योंकि वह बरमा लौटनेकी ओर मेरा ध्यान दिलाते रहते। फूफाजीकी बोली-बानी देखकर सूरदास भी समझ गये, और उन्होंने एक मित्रसे मिल आनेका बहाना ढूंढ़कर छुट्टी माँगी। मैंने भी इसे पसन्द किया। मैं तो चाहता था, रामदास भी न जावे, क्योंकि बिल्कुल अकेला रहनेमें मुझे भागनेमें सुभीता होता—मैं समझ ही गया था, कि अबकी मेरे ऊपर जबर्दस्त देख-रेख रखी जावेगी।

मालूम होता है, फूफा साहबने पिताजीको मेरे बारेमें विशेष ध्यान देनेके बारेमें समझाया था। वह समझते थे, गाँवमें अच्छे खाने-पहिननेका सुभीता नहीं रहता है, इसलिए इसका मन वहाँ नहीं लगता। जो पिताजी सादी पोशाक, सादे चाल-व्यवहारके जबर्दस्त पक्षपाती थे, उन्होंने जोर देकर मेरे लिए मलमलकी कमीज और किसी वैसे ही सूती-रेशमी कपड़ेका वास्कट वहीं मऊमें सिलवाया। पानके बीड़े ही नहीं आ गये, बल्कि कनैला साथ ले चलनेकेलिए भी सौ-डेढ़ सौ अच्छे पीले पानके पत्ते, कत्था-कसैली, चूना-जर्दाके साथ ले लिया गया। मुझे भीतर ही भीतर हँसी आ रही थी।

कनैलामें देखकर सबसे अधिक खुशी नानाजीको हुई। उनका तो लड़कपन हीसे मैं सर्वस्व था। आजी और चाची भी प्रसन्न हुईं, और मुझे भी प्रसन्नता हुई इससे मैं इन्कार नहीं करता। कनैला और पन्दहाको देखकर क्यों न मुझे आनन्द होता, जहाँके एक-एक वृक्ष, एक-एक भींटे, एक-एक पोखरे-पोखरी, एक-एक खंडहरतकमें मेरे बाल्यकालकी कितनी ही मधुर स्मृतियाँ निगूढ़ थीं। गोविन्द साहेब-पीपल अब सूखकर खतम हो चुका था, किन्तु जब मैं उधरसे गुजरता तो फागुनके दिनोंमें प्रहसन याद पड़ते—कैसे रातकी चाँदनीमें एक तरफ स्त्रियोंकी और दूसरी तरफ पुरुषोंकी जमात बैठती। कैसे बीचमें प्रतिभाशाली तरुण सत्प्रसूत भावनाओंसे प्रेरित हो, लोगोंके मनोरंजनके लिए तरह-तरहके अभिनय करते-जिनमें कितने ही अश्लील भी होते थे यह ठीक है, तो भी वे मनोरंजनकी काफी सामग्री रखते थे। पुछिहार नौजवानोंके उत्साहके कारण अँगीठा खूब जमता था। फ़ज़ल, बलीजान, अब्दुल्लकी उस वक्त बड़ी माँग थी। फ़ज़लकी उस समयकी हँसने-हँसानेवाली सूरतको जब कई वर्ष बादको उस सूरतसे मैंने मिलाया, जिसमें नंगे सिर, बंडी, धोती-खाली लुंगीकी जगह वह घुटनों तक पायजामा, कुर्ता और सिरपर टोपी रखे हुए था, तो वह मुझे बिल्कुल नहीं जँची। मैं रन्नागसरार ब्रह्म बाबाके बरगदको अपने दर्वाजेसे देख सकता था, उस बक्त शामुक

सैयदसे नवोढा पत्नीके सतीत्वको बचानेके लिए ब्राह्मण-दम्पतिकी आत्मा-हुतिसे भी बढ़कर मधुर वह स्मरण मालूम होता, जिसमें पशु-पक्षियों तक को सब काम छोड़ छायाका आश्रय लेनेके लिए मजबूर करनेवाली गर्मीकी दुपहरियामें उस बरगदके नीचे लड़के अपनी गाय-भैसोंको जमा कर देते—वे स्वयं वहाँ बैठकर जुगाली करने लगती—और फिर बरगदकी घनी शीतल छाया से स्फूर्ति पा ओल्हापाती खेलने लगते। और कही होता तो वृक्षपर चढ़नेकी कलामें अपरिचित होनेके कारण मैं शरीक न होता, किन्तु ब्रह्म बाबाकी धरती छूती मोटी-मोटी सहस्र शाखाओंपर चढ़ने और कूदनेमें हाथ-पैर टूटनेका डर न था। बड़ी, लहुरिया और नाउरकी पोखरियाँ उन कहानियोंको याद दिलाती थी, जिन्हें मझली बुआ या माँकी गोदमें लेटा हुआ मैं बड़ी तन्मयतासे सुना करता था। सोचता था—कनैला में भी कोई राजा था, जिसकी बड़ी लहुरी (छोटी) दो रानियाँ थी, जिसकी चहेती एक नाइन थी तीनोंने इन तीनों पोखरियोंको बनवाया था। इन्हीं पोखरियोंमें मैं कभी किन्ना और बदरीके साथ मछली मारा करता। कनैलाके स्थानोंको देखकर पुरानी घटनायें फिर आँखोंके सामने सजीव होकर फिरने लगती, और चित्तमें "ते हि नो दिवसा गताः" की टीसके साथ एक प्रकारका आनन्द भी प्रदान करती। इस तरह कनैला आना सिर्फ असन्तोष ही असन्तोष पैदा करनेका कारण नही हुआ।

पाँच-सात दिन बाद रामदासने परसा हो आनेकी इच्छा प्रकट की, मैंने भी उसके द्वारा गुरुजीके पास अपनी परिस्थितिको कहला भेजा। रामदास आठ-दस दिन बाद लौट भी आया। लेकिन यहाँ जाने देनेका कौन नाम लेता है? निराश हो रामदास जब परसा जानेके लिए तैयार हुआ, तो घरवालोंको बहुत सन्तोष हुआ। मैंने भी इसे अच्छा ही समझा, क्योंकि अपने साथ रामदासको भी लेकर भागना ज्यादा मुश्किल था। घास चरनेके लिए लम्बे रस्सेमें बँधे बछड़ेकी भाँति मेरे बन्धनमें भी कनैलासे बछवलतक आने-जानेकी गुंजाइश थी। मेरे लिए विशेष खाने-पीनेकी व्यवस्था थी, किन्तु कुटुम्ब भोजमें अवांछनीय दाल-भातको अमृत बनाकर खानेवाला मन अब भी मेरे पास था, फिर छोटे भाइयों और घरके दूसरे व्यक्तियोंसे पृथक् अपने लिए विशेष भोजन मुझे क्योंकर पसन्द आता।

रामदासके चले जानेके हफ्तेभर बाद मैंने एक बार मुक्त होनेका साहस किया। भागकर आजमगढ़ स्टेशन पहुँचा, किन्तु ट्रेन पकड़नेके पहिले ही पिताजी वहाँ मौजूद थे। सामने पड़ जानेपर भीड़ इकट्ठा कर बहस शुरू करना मुझे पसन्द न था। मैंने अपनी हार स्वीकार की, और उनके साथ कनैलाकी ओर चल पड़ा। रास्तेमें वह समझा रहे थे—तुम्हें गाँवका जीवन पसन्द नहीं। वहाँ खाना अच्छा नहीं मिलता, वहाँ परिष्कृत वस्त्र दुर्लभ हैं। मैं तुम्हारी जिन्दगी भरके लिए घी-दूध खाने, साफ कपड़ा पहिननेका इन्तजाम कर देता हूँ।' इसके बाद उन्होंने हिसाब

भी लगाना शुरू किया, और बतलाया—"इतने मूलधनके सूदसे तुम्हारा काम चल सकता है। तुम कहीं मत जाओ, घरपर रहो, मैं इतना रुपया तुम्हारे नामसे जमा करनेके लिए तैयार हूँ। मुझे उनकी बातोंसे गुस्सा नहीं आता था, मुझे सिर्फ इतना ही ख्याल आता था, कि अपने भावोंको उन्हें समझाना मेरे लिए कितना मुश्किल है। ज्ञानकी भी कोई भूख है, विस्तृत जगतके देखनेकी भी कोई भूख है, शिक्षित-संस्कृत समाजमें रहनेकी भी कोई भूख है, जो भोजनकी भूखसे हजारों गुना ज्यादा तेज, और सदा अतृप्त रहनेवाली है, इसे मैं समझानेकी कोशिश करता, किन्तु वह उसे सुननेको कब तैयार होते, जब मैं कनैलामें आँखोंके सामने रहनेकी उनकी शर्तको कबूल कर लेता।

कनैला और बछवलमें लोग ज्यादा सजग हो गये थे, इसलिए इस अवस्थामें कोई साहस करना फजूल था। मुक्ति प्राप्त करनेकेलिए विश्वास दिलाकर उनकी उस जागरूकताको खतम करना जरूरी था। यागेश आधा प्रयागमें और आधा बछवलमें रहते थे। वह संस्कृत नागरिक समाजमें रहना पसन्द करते थे, किन्तु ज्ञानलिप्साकी वह प्रचण्ड दावानल जो मेरे अन्तरतममें जल रहा था, उसके प्रहारसे वह बहुत कुछ सुरक्षित थे। वह अब भी मेरे "नर्मसचिव" थे, इसलिए होलीसे पहिले बछवलमें उन्हें आया देखकर मुझे बड़ी खुशी हुई। उसी तरह हम चारपाई पर लेटे या बैठे भूत-भविष्यकी कथायें और कल्पनायें किया करते। उसी तरह हम एक साथ कभी कुटी, कभी संकठाप्रसादके बँगले और कभी हरे-भरे खेतोंमें चक्कर काटने चले जाते। कनैलाकी अपेक्षा बछवलमें मेरा दिन अच्छा कट जाता। फूफा साहेब नस लेते थे, उनके छोटे भाई सहदेव पांडेय (यागेशके पिता) सुर्ती (खाने-का तम्बाकू) और अफीम दोनोंके आदी थे। अपने बड़े भाईकी तरह उन्होंने संस्कृत नहीं पढ़ी थी, उसकी जगह उन्होंने उर्दू सीखी थी। निचले ओठमें सुर्ती दबाये रामायणकी चौपाइयोंको बड़े रागसे और कभी-कभी वह गद्गद हो पढ़ते थे। मेरे प्रति बाहरसे यद्यपि शिष्टाचारका बरताव रखते, किन्तु यागेशपर मेरे असरको यह बिल्कुल पसन्द न करते थे। यागेशकी माँ अपने ज्येष्ठ पुत्रकी इच्छाके विरुद्ध जानेकी हिम्मत नहीं रखती थीं, और उनको मालूम था, यागेश और मेरा स्नेह कितना चिरस्थायी है।

मेरी बुआ मेरे लिये अभिमानकी चीज थी, पहिले ही साक्षात्कारके समयसे मैं उन्हें मितभाषिणी और गम्भीर होते हुए भी बहुत स्नेहमयी पाता था। मुझे माँकी यह बात याद थी—'उन दिनों मैं पहिले-पहिल ब्याहके बाद ससुराल आई थी। घरका बड़ा कुनबा था। मेरी छोटी ननद बचना—अभी ब्याह नहीं हुआ था मैं दरवाजेकी आड़से अँगुली दिखलाकर बतलाती थी, यह है चाचा। मैंने पहिली एक बार आँख भरकर अपने ससुरको देखा था। थोड़े समयके बाद तो वह मर ही

गये।" माँ और उनकी छोटी ननद कैसे रही होंगी ?—तब तो संसारमें मेरा अस्तित्व भी नहीं हो पाया था। बुआ ब्याहके बाद जब बछबल गई, तो उन्हें पीसनेके लिए अनाज बहुत दे दिया जाता था। कनैलामें उनका मायका बहुत धनी न होनेपर भी काफ़ी काम करनेवाले असामियोंका स्वामी था, इसलिए ज्यादा काम न करना पड़ता था, और अभी तो वह छोटी लड़की भी थी। उनकी इस तकलीफ़की सूचना जब कनैला पहुची तो जानकी पांडेने अपने भाईको कहा—'मथुरा! ले जाओ यहाँसे कुछ पिसनहारियोंको, और रामटहल तिवारी (?) फूफा (के मौसा जो उस वक्त घरके प्रवन्धक थे) के घरके लिए छै महीनेकी कुटाई-पिसाई करवा आओ।' मथुरा पांडे सचमुच ही मजदूरिनोंको लेकर गये थे। बुआ मुझसे बहुत बातें करती, और उनकी बाते साधारण ग्रामीण स्त्रियोंके तलसे कुछ ऊँची हुआ करती, इसलिए उस वक्त संस्कृतिके नये दिल्दादे मुझे वह पसन्द आया करती। एक दिन गाँवके पश्चिमकी मठिया (टोले) में रहनेवाली एक वृद्धा स्त्री आई। कमर झुकाये डंडेके सहारे चलती थी। मैंने बुआसे उनके घरके बारेमें पूछा। बोलीं—"बचवा! वह जिस वक्त अपने घरकी बात कहती थी, तो उनकी आँखोंसे छल-छल बहते आँसुओंको देखकर मुझे भी रुलाई आती थी। कहती थी, 'बदमली (१८५७ के गदर) के जमानेमें आसपासके गाँवोंको मारती-जलाती गोरोंकी पल्टन हमारे गाँवमें भी आई। उनका गाँव लखनऊके पास था। गोरोंने घरकी तीन तरुण बहुओंको एक्केमें बैठाकर छावनीकी ओर रवाना किया। रास्तेमें दोनो तालाब या कुएँमें कूदकर मर गई। मैं अपने भाग्यको कोसती हूँ, मैंने भी क्यों नहीं वैसा ही किया। मुझे जीवनका लोभ हो आया।' वैसे ही भूलती-भटकती मठियाके महन्तके पास आजमगढ पहुँच गई।

बछवलमें उसी वक्त एक दुर्घटना घट गई थी। बुआके जेठे लड़के रमेश-उम्रमें मुझसे छोटे बडे गरम मिजाजके थे। एक दिन बात-बातमें एक लड़केसे तकरार कर बैठे, और उसे उठाकर तालाबमें फेंक दिया। मामला पुलिसमें गया, और जाँचमें दारोगाके अतिरिक्त इन्स्पेक्टर साहेब आये। गवाही-साखीके वक्त मैं भी रहा। फूफाजीकी पंडिताईका इन्स्पेक्टरके ऊपर भी प्रभाव पड़ा, और लड़कोंका झगड़ा समझा-बुझाकर वहीं दबा दिया गया। इंस्पेक्टर साहेबका ध्यान मेरी ओर खासतौरसे आकर्षित हुआ था। क्यों? उर्दू-संस्कृत कुछ अंग्रेजी जानता था, इसकी खबर कहाँतक उन्हें मालूम थी, यह तो नहीं कह सकता; किन्तु मैं उस वक्त १९ वर्षका लम्बा छरहरा, पतला किन्तु स्वस्थ जवान था—गाँवके देखनेवालोंके कहे अनुसार 'निखरी जवानी' थी। पतली साफ़ धोती, लाल जूता, फलालैनकी बगलबन्दीके विनीत वेषका भी प्रभाव पड़ना जरूरी था। पूछनेपर जब फूफाजीने अभिमानपूर्वक कहा—"मेरे सालेके लड़के—मेरे ही लड़के हैं।" तो इन्स्पेक्टर साहे

कहा—'ऐसा लड़का मेरा होता तो मैं उसे अंग्रेजी पढ़ाता।' शायद डील-डौलको देखकर उनको खयाल हुआ, अंग्रेजी पढ़ाकर एक दिन मेरी तरह इंस्पेक्टर बनना इसके लिए आसान होता। अब कनैलाका थाना जहानागंज टूटकर चिरैयाकोट हो गया था। एक दिन वहाँके दारोगा साहेब ऐसे ही गश्त लगाते कनैला आये। मेरे दर्वाजेपर थोड़ी देरके लिए ठहरे। बनारसके रहनेवाले खत्री नौजवान थे। कालेजसे पढाई छोड़कर पुलिसमें आ पड़े थे। बड़े-बड़े मनसूबे थे, इसलिए वे सारे वर्तमान परिस्थितिसे सन्तुष्ट न थे। शायद उन्होंने मुझमें कुछ समानधर्मता देखी, इसीलिए तो पुराने स्वप्नोंको मेरे सामने रखने लगे। पुराने आशामय स्वप्नोंका संकथन भी बाज वक्त अच्छा मालूम होता है। मुझे खयाल आता था, अपने शैशवका जमाना, एक बार पिताने गाँवके दूसरे घरका कुछ खेत रोक दिया था—हल्का झगड़ा था—फौजदारीके मामलेमें जहानागंजके दारोगाजी जाँच करने आये। गाँवके बाहर पोखरेके पास पकड़ीके वृक्षके नीचे चारपाईपर दारोगाजी बैठे थे, आसपास लाल पगड़ी बाँधे सिपाही और काला कुर्त्ता पहिने चौकीदार बैठे हुए थे। रात थी, लालटेनकी रोशनीमें—लालटेन जरूर दारोगाजी अपने साथ लाये होंगे, क्योंकि गाँवमें अभी मिट्टीका तेल और लालटेन पहुँच न पाई थी—दारोगाजी दोनों ओरके गवाहोंकी गवाही लिख रहे थे। मैं देख रहा था, किस तरह सारे गाँव और सात-आठ वर्षके बच्चे, मेरे ऊपर भी दारोगाजीका रोब छाया हुआ था। बहुत दिनों तक सिववरती (शिवव्रता मँझली) बुआ, नानी, या दूसरेके मुँहसे कहानियाँ सुनते वक्त राजाका नाम आनेपर मुझे पकड़ीके नीचे के वह दारोगा साहेब तथा उनके आसपासके सिपाही-चौकीदार याद पड़ते थे। आज दारोगाजीको मैं अपने सामने किसी जबर्दस्ती छीन लिये गए आदर्शके वास्ते अफ़सोस करते, और अपनेको संवेदना प्रकट करते देख रहा था।

होलीके दिन मैं बछवलमें रहा। यागेश प्रयाग लौटनेवाले थे, इसलिए किसी दिन उनके साथ चल देना मेरे लिए आसान था। हमलोग रातको यागेशके ननिहाल शाहपुरमें रहे। उनके मामा लक्ष्मीको बछवलकी पहिली यात्रामें देखा था, उनकी उम्र उस वक्त छोटी थी, और उनकी जनानी आवाजका लोग मजाक उड़ाते थे। वह घरपर न थे। रानीकी सराय स्टेशनसे हम दोनोंका रास्ता दो तरफ होनेवाला था। यागेशकी गाड़ी कुछ पहिले रवाना हुई। रानीसिरायको चार साल बाद देखनेका मौका मिला था, किन्तु गाड़ीकी जल्दीमें मैंने उधर ध्यान नहीं दिया। हाँ, यागेशकी गाड़ीसे जानेवाले मेरे सहपाठी जहाँगीरपुरके देवकीप्रसाद मिले। हम दोनोंने एक साथ निजामाबादसे मिडल पास किया था। वह जौनपुरमें अमीन-का काम करते थे। दूसरे एक परिचित व्यक्ति पल्टहाँके थे। उन्होंने मुझे बिल्कुल नहीं पहिचाना, जिससे मालूम हुआ कि तबसे मेरे चेहरेमें बहुत परिवर्तन हो गया

है। जीवनमें बारह और चौबीस वर्षवाले चेहरेमें बहुत अन्तर होता है। मैंने भी उस हालतमें परिचय देना नीति-विरुद्ध समझा।

भटनीमें आकर भेषमें परिवर्तन की जरूरत पड़ी। वैरागी साधु चाहे तो सारे मुंह और शिरके बालको मुंडा सकता है, या सभीको रख सकता है। मैं अबतक कनलामें गृहस्थ वेशमें था। खैर नाईने उस कामको खुशीसे कर दिया, यद्यपि मूंछ मूंड़ते हुए उसे आनाकानी हुई—मूंछ हमारी तरफ़ वही हिन्दू मुडा सकता है, जिसका बाप मर गया हो :—हाँ, अब मेरे चेहरेपर जरा-जरासे बाल उग रहे थे। वेस्टकोटको नाईको ही दे दिया—वह बाबूकी शाखर्चीपर बहुत खुश था, उसको क्या मालूम था, कि बाबू वेश-विरुद्ध समझकर उससे पिंड छुड़ा रहे हैं।

९

फिर परसामें

गुरुजी आशाको बिल्कुल तो छोड़ नही बैठे थे, किन्तु उन्हें मेरे आनेमे सन्देह होने लगा था। मुझे लौटा हुआ देखकर उन्हें बडी खुशी हुई। पिता और फूफाजी जान गये, कि मैं कहाँ गया हूँ, किन्तु अब वहाँसे लौटाकर लाना अपने बूतेसे परेकी बात समझकर वे चुप रहे। रामदास फिर मेरी खिदमतमें आ गया, और तीन महीने पहिले जैसी दिनचर्या फिर शुरू हुई।

पढ़नेके बारेमें कुछ कहनेपर गुरुजी साफ इनकार नही करते थे, कभी कहते 'अच्छा' कभी कहते 'यहीं ओझाजीसे पढते क्यों नही ?' कभी कहते 'मैं बूढ़ा हो गया हूँ खड़ा होकर चल नही सकता, न जाने किस दिन आँखें मुद जायें, तुम मठका कारवार सँभालो।' यह बातें मुझे रुचिकर नही जँचती थीं सही, किन्तु मैं यह भी देख रहा था कि मठका प्रवन्ध बहुत खराब है, हिसाव-किताबका कोई ख़याल नहीं करता। आमदनीसे खर्च बहुत ज्यादा था। सरासर घाटेके काम बडे उत्साहके साथ 'लाभदायक उद्योग' के तौरपर किये जाते थे। परसामें मठके बहुतसे धानके खेत थे, जिनके लिए १०, १५ रुपया एकड़पर जोतनेवाले आसानीसे मिल जाते, किन्तु उनको खास 'जिरात' में रखा गया था। मैंने हिसाब करके दिखलाया कि उन खेतोंकी जुताई, रोपाई, निकाई, सिचाई, कटाई, दँवाईपर जितना खर्च होता है, उतनी भी उनसे आमदनी नही होती, १०–१५ रुपये एकड़ मालगुजारीका जो नुकसान होता है, सो अलग। लेकिन गुरुजी इस बातको भी नहीं समझ पाते थे। कारिन्दा समझा देते—"सालमें धानकी कितनी बड़ी राशि खलियानमें दिखलाई पड़ती है, सब खरीदना पड़ेगा।" और गुरुजी भी वही दुहराते। मन्दिरके सभा-

था, उस वक्त मठके हाथीको दान हो जानेके भयसे परसा मठपर आने नहीं पाता था।

हमारे गुरुजीके गुरु श्रीरघुवरदासजीमें कोई खास विशेषता न थी, सिवाय इसके कि वह अपने मठकी सम्पत्तिका अच्छा इन्तजाम कर लेते थे। इन्तजाम करनेके लिए मठका एक और अधिकारी था जिसे 'अधिकारीजी', कहा भी जाता था। वस्तुतः अंग्रेजी राज्यने—हर तरहकी सम्पत्तिपर व्यक्तिका निस्सीम अधिकार—इस एक ही लाठीसे सबको हाँककर मठकी सम्पत्तिपर व्यक्तिका एकाधिकार जिस तरह कायम कर दिया वैसा पहिले था भी नहीं। पहिले महन्तको मनमानी करनेसे रोकनेका अधिकारीको अधिकार था, और महन्तपर दूसरे साधुओं, गृहस्थों तथा सम्प्रदायके मंडलका अधिकार होता था। परसामें मेरे आनेसे पहिले ही अधिकारीका स्थान रिक्त हो गया था, और गुरुजी अपने स्वातन्त्र्यमें बाधक समझ अभी उसकी स्थापनाके बारेमें सोच भी नहीं रहे थे।

परसाका मठ किसी समय कड़लके मठसे निकला था। उसके संस्थापक केवलरामके उत्तराधिकारी गृहस्थ हो गये, और आज उस मठमें उन्हींकी सन्तान गृहस्थ वैरागीके तौरपर रहती है। केवलरामके गुरु मार्झीके धरणीदास थे, यह बतला चुके हैं। इस प्रकार परसा मठका नम्बर मार्झी और कड़लके पीछे पड़ता है, किन्तु वैरागी जगत्में परसा हीका नाम ज्यादा प्रसिद्ध है, उसकी वजह यही है कि परसादीरामकी शिष्यपरम्परा ज्यादा बढ़ी, और पिछली दो शताब्दियोंमें वह युक्तप्रान्त और बिहार ही नहीं पंजाब, महाराष्ट्र और बंगालतक फैल गई। उसकी शाखा-मठोंकी संख्या आज सैकड़ों है। उस वक्त गुरुजी इन मठोंके नाम तथा उनके संस्थापकोंकी विशेषतायें बतलाते। वह खुद भी बहुत घूमे हुए थे। साथ ही कभी-कभी उन मठोंके साधु मूलस्थानको देखने परसा आया करते थे, उनसे भी बातें मालूम होती थीं।

यद्यपि वह नहीं चाहते थे, कि मैं परसासे जाऊँ, तो भी वह आपबीतीसे जानते थे, कि मैं किसी वक्त चला भी जा सकता हूँ; इसलिए 'करम-धरम' (साम्प्रदायिक चाल-व्यवहार) सिखलानेमें बड़ी तत्परता दिखलाते थे। 'रामपटल' और 'राम पद्धति'—की छोटी-छोटी पोथियाँ मेरे हाथमें थमा दी गई थीं, और रोज आग्रह होता था—'इनमेंसे मन्त्र-श्लोक पद-तन्तर याद कर डालो। वेदान्त और भगवतीके महामन्त्रकी सिद्धिकी जिसपर मार पड़ चुकी हो, उसे आर्यसमाजको छोड़ न सकनेपर भी, ये पटल-पद्धतियाँ निस्वाद-सी थीं; तो भी अब उन्हें देखना तो जरूरी था। इसमें शक नहीं कि, धर्म और वैराग्यकी खोजमें परसा नहीं आया था, मैं यहाँ आया था शास्त्र और संसारके विषयमें विस्तृत ज्ञानकी भूखकी मिटानेको। परसामें एक दिन एक पंडितसे मेरी बहस होने लगी, अद्वैत वेदान्तका पक्ष ले मैं बोल रहा था।

गुरुजीको वेदान्तके सूक्ष्म सिद्धान्तोसे क्या मतलब ! तो भी वह यह जानते थे, कि अद्वैत वेदान्त शंकराचार्यकी चीज है, इसीलिए मुझसे कहा—यह हमारे सम्प्रदायका सिद्धान्त नही है । मुझ यह भी एक नई-सी बात मालूम हुई, क्योंकि मै रामानन्दके शिष्य कबीर तथा रामानन्दीय तुलसीदासको अद्वैत वेदान्तका प्रेमी मानता था ।

'पंच संस्कार' की सोलहो आना जाली 'श्रुतियाँ' तो मुझे असह्य-सी मालूम होती थी, क्योंकि रुद्री और यजुर्वेदके बहुतसे अध्यायोंको स्वरसहित पढ़ा होनेसे मैं पहचानता था, कि वेदके मन्त्रोंकी भाषा कैसी होती है । किसी नये मठ या साधु के पास जानेपर, उसके असली-नकली पहचानके लिए धाम-क्षेत्र सम्बन्धी प्रश्न पूछे जाते है । गुरुजीने उसके कुछ प्रश्नोत्तर मुझे निम्न प्रकार बतलाये—

"कौन स्थान है महात्मा !"

"परसा ।"

"आपके गुरु महाराजका नाम क्या है ?"

"श्री श्री श्री लक्ष्मणदासजी महाराज ।"

"कौन अखाडा है ?"

"दिगम्बर ।"

"कौन द्वारा है ?"

"सुरसुरानन्द ।"

आमतौरसे यही प्रश्न काफी होते है । धाम-क्षेत्रमें वैष्णवोके चारों संघ-बद्ध सम्प्रदायोंके अलग-अलग 'अयोध्या धर्मशाला, चित्रकूट सुखविलास' आदि सूची दी गई है । पाँच-सात वारके कहनेपर भी मुझे उन सूचियोंको रटते न देख गुरुजीने चेतावनी देते हुए कहा—'यदि याद नही करे रहोगे, तो बालाजी (तिरुपती) में पंघत (पंक्ति) से साधु उठा देंगे ।'

मैने उत्तर दिया—"पंघतमें बैठनेकी नौबत आनेसे पहिले मुझे सारे धाम-क्षेत्र, पंच-संस्कार याद हो गये रहेंगे ।"

× × ×

आजमगढ और छपराके जिलोंके बीच में सिर्फ बलिया या गोरखपुरमेंसे एक जिलेका अन्तर है । उन दोनोंकी भाषा भोजपुरी है, और आजमगढके कुछ थानोंमें तो उसकी उपशाखा वही मल्ली बोली जाती है, जो छपरामें । यद्यपि कनैला और पन्दहा दोनोंकी भाषा काशिका (बनारसी) उपशाखाके भीतर पड़ती थी, और इस प्रकार छपराकी भाषासे अन्तर था । इसी तरह कितने ही ग्रामीण आचारों और पूजा-प्रकारोंमें भी अन्तर दिखलाई पड़ता था । जब पहिली वार बहरौलीमें मुझसे कहा गया—आज छठका पर्व (कातिक शुक्ला षष्ठी सूर्य पूजा) है, तो मुझे यह नहीं मालूम हो सका, कि आज हिन्दू-घर रातको कई घंटोंके लिये स्त्रियोंसे

शून्य हो जायेंगे। औरतोंकी बदगमानियोंमें भी मुझे कनैला-पन्दहासे यहाँ फरक मालूम होता था। मेरे लिए यह भी ताज्जुबकी बात थी, कि खासतौरसे पहिलेसे इन्तजाम न करनेपर बहरौली जैसे बड़े गाँवमें भी अरवा चावल-वैष्णव साधु उसीको खा सकते थे—नहीं मिल सकता; घर-गाँव, हाट-बाजार सभी जगह लोग 'उसिना' चावल (उबले धानका चावल) खानेके आदी हैं।

मठके साधुओंके साथ मेरा बरताव सदा सहृदयताका रहता था। ज्ञान-प्राप्ति में सहायताके सिवाय मठके अधिकारको मैं और किन्हीं अर्थोंमें नहीं लेता था। यद्यपि भविष्यकी रूप-रेखा मेरे सामने साकार नहीं थी, तो भी उस वक्त भी मुझे मालूम होता था, कि परसा मेरा 'अथ' और 'इति' नहीं होगा। मठमें साधुओंकी संख्या १५, १६ के करीब रहती थी। मैं उन दिनोंकी बात बड़ी ईर्ष्यासे सुनता था, जब परसा-मठकी 'पंगत' में सौसे कम साधु नहीं बैठते थे। मेरे गुरुभाइयोंमें श्रीगीतारामदास खास हीसे मेरे स्नेहके भाजन रहे। एक और तरुण गुरुभाई—जो थोड़ी-सी लघुकौमुदी भी पढ़े थे—से तो इतना स्नेह हो गया था, कि जब पहिली लम्बी यात्रासे लौटकर आनेके बाद मुझे मालूम हुआ कि उनका देहान्त हो गया, तो इसका मुझे बहुत दिनों तक अफसोस रहा। मेरी कोठरीके बाहर मौनी बाबाका आसन था। वह भी परसा मठके हितैषी सरल साधुओंमें से थे। वह कभी नहीं बोलते थे, किन्तु अँगुलियों और आँखके इशारेसे सभी बातें समझा देते थे, और स्लेट पेन्सिलकी बहुत कम जरूरत पड़ती थी। महन्तजीका उनपर बहुत विश्वास था। वह भी मठके कुप्रबन्धसे बहुत दुःखित थे, किन्तु करते क्या? मठके स्थायी साधुओंमें सूरदास और माधवदास दो भाई थे। सूरदास यह नेत्रहीन होनेके कारण उनका नाम पड़ा—समझदार थे, किन्तु उनके भाई माधवदास आठ वर्षके बच्चेके बराबर बुद्धि रखते थे। तरुण लड़के और छोटे-छोटे मठवासियोंके लिए वह मनोरंजनकी एक सामग्री थे। भात बनानेके बड़े बरतन उन्हें मलनेके लिए दे दिए जाते और कहा जाता—माधवदास आओ आजसे तुम "टोपना" (देग) के महन्त बना दिये गये। मजाक समझ जानेपर भी वह नाराज नहीं, खुश होते। सुदर्शन दासकी कथा बड़ी मनोरंजक है। सोलह-सत्रह वर्षकी उम्रमें यह महन्तजीके शिष्य होने आये थे। दालानमें सोये हुए थे। एक दूसरे साधुको बात मालूम हो गई, उसने कुल्हाड़ीकी कड़ी से धीरेसे गलेमें बाँध दी, जिस वक्त यह कानमें मन्तर फूँक रहे थे, उस वक्त नींद खुली। अब क्या करते? ऐसा तो बन चुके थे, अन्तमें वहीं सम्बन्ध स्थायी बन गया। एक आधा-पागल साधु गंगादास (?) हमेशा अन्नसत्रमें रहता। देग मलनेका काम उसीसे लिया जाता। महंतसे उसे कभी मिलते नहीं देखा। जिस गुमान और सदाचार सौंपा, उसे कभी बदलना नहीं था। एकाध बार उसके बदनसे टबकर मेरे सौंप बिस्तरके नीचे पड़े मिले। इसका

होनेपर भी पैसा जमा करनेमें उस्ताद था। परसासे एकमा जानेवाली सड़कपर, प्रायः आधी दूर बरगदके नीचे एक बिना गचका कुआ था। वह लोटा-डोर लेकर आने-जानेवालोंको पानी पिलाता। बंगालसे लौटनेवाले कितने ही मुसाफिर एकमा स्टेशनसे उतर इसी रास्ते लौटते। पानी पिलाकर बड़े मधुर स्वरमें कहता—'भैयाजी! और सर्धा तो पूरी हो गई। रामजीकी दयासे कुआ भी बँध गया, अब इसकी मनको पक्का कर देनेकी सर्धा और बाकी है। जो आना-दो आना, पैसा-दो पैसा बन सके, धरमके काममें मदद करें।' और उसे पैसे मिल जाते थे। लोग समझते थे, इसी साधुने कुआ बनवाया है।

साधुओंमें पढ़ने-लिखनेका अभाव था, और उसकेलिए प्रोत्साहन भी नहीं दिया जाता था। वहा चाहिए थे ऐसे साधु, जिनके पास कमसे कम दिमागी सम्पत्ति हो। जो बर्तन मल सकें, झाड़ू दे सकें, खाना बना सकें, हजारों छोटे-मोटे शालिग्रामोंको 'नहला' (धो) कर उनपर थोड़ा-थोड़ा चन्दन और एक-एक तुलसीका पत्ता डाल सकें, राम-लक्ष्मण-सीता, या राधा-गोपालकी मूर्त्तियोंके समय-समयपर नया कपड़ा बदल सकें, आरती दिखला सकें, तथा सवेरे झाल-ढोलक लेकर बे सुर-तालके भजन गा सकें, और रातको दूकानसे छुट्टी पाकर आये बनिया भगतोंके साथ मिलकर रामायणके संगायनके नामपर खूब गला फाड़ सकें। इससे ऊपर यदि किन्हींकी जरूरत थी, तो महन्तजीकेलिए एक 'हजूरिया' (साधु खिदमतगार), एक भंडारी (भंडारके सामानको देने-लेनेवाला) की, जिनमें कुछ साक्षरता हो तो अच्छी बात। शरीरसे कुछ काम कर देना, दोनों शाम खा लेना, और समय बचे तो कुछ गला फाड़ लेना या गप्पें उड़ाना बस यही यहांके साधुओंकी दिनचर्या थी—वहीं क्यों दूसरे वैरागी मठ भी इससे बेहतर हालतमें नहीं थे।

हमारे नौकरोंमें कोचवान नकछेदी थे, जिनका लड़का रामदास मेरा अपना खिदमतगार था। नकछेदी बहुत सीधे-सादे बूढ़े आदमी थे। गुरुजीके उस वक्तके खिदमतगार ढुन्मुनके बाप और नकछेदीसे जब भेंट हो जाती, तो मजा आ जाता। ढुन्मुनके बाप चुपकेसे बिना जताये गोली दागनेकी तरह नकछेदीके पास जाकर हाथ धरतीकी तरफ बढ़ा बोलते—"पान (पाव) लगी, नकछेदी भाई!" "पान ल...अरे यह क्या बड़ा भाई छोटे भाईको कहीं 'पान' लगता है?"

"बड़े भाई तुम ही हो न?"

"कहनेसे हो जायेंगे?"

"तो किसीको पंच बद लें?"

"पंच बदनेकी क्या जरूरत? (नकछेदी राउतको पास-पड़ोसमें किसीकी ईमानदारीपर विश्वास नहीं था) वह तो दोनोंका चेहरा ही देखनेसे मालूम हो जायेगा।"

"बालकी कम-बेशी सफ़ेदीसे उमर नहीं पहिचानी जाती ?"

"तो चमड़ेकी झुर्रियोंसे ?"

"हाँ" फिर सन्देहमें पड़कर "नहीं, सारा गाँव जानता है, कौन बड़ा कौन छोटा है।"

"तो नकछेदी भाई ! और किसीको पंच नहीं मानते, तो भौजी (भाभी) को ही पंच मान लें, वह जिसको छोटा कहें वही छोटा।"

"हूँ" हँसीको ओठोंसे बाहर न जानेकेलिए पूरा प्रयत्न करते हुए "भसुर (बड़े भाई) के सामने भवेह (छोटे भाईकी स्त्री) कैसे आयेगी ?"

"भावजको भवेह मत बनाओ, नकछेदी भाई !"

नकछेदी पूरी कोशिश करते, किन्तु कुन्तुनके बापकी बहस तथा पंचोंका रुख उनके खिलाफ़ जाता।

× × ×

मेरेलिए परसाका निवास बौद्धिक अनशन था। किस तरहके समाजमें रहना पड़ता था, इसका कुछ दिग्दर्शन ऊपर करा चुका। इसके अतिरिक्त यदि कोई थे, तो खुशामदी जीहुजूरिये। उनकी बातोंको सुननेसे मालूम होता था, मठ और उसके भगवानके वे कितने अनन्य भक्त हैं, किन्तु मौका पाते ही उन्हें आँखोंमें धूल झोंकते देर न लगती थी। बड़ा घोड़ा बग्गीमें चलता था, जिसकी अस्वस्थता गुरुजीको भी रहा करती थी, इसलिए अन्तमें, डुमरसनके मेलेसे मैंने सवारीकेलिए एक घोड़ा खरीदना चाहा। मैंने अपने जान एक विश्वसनीय आदमीको दाम ठीक करनेमें मदद देनेकेलिए चुना। सवासौ रुपयेमें घोड़ा लिया गया, लेकिन पीछे मालूम हुआ, घोड़ा पचहत्तरसे ज्यादाका कभी नहीं हो सकता। यह सारा वायुमंडल गद्दारसे भरा मालूम होता था। मेरा यही समय अच्छा गुजरता, जब कि 'सरस्वती'के नये आये अंकको या किसी और नई पुस्तकको पढ़ता। उस समय हिन्दी-साहित्य आरम्भिक अवस्थामें भी था। पूजा-पाठकी तरफ मेरा मन न लगता था। सबेरे स्नान करके कोठरीमें जाता। लोग समझते 'पुजारीजी' पूजा-पाठमें लगे हैं, और यहाँ पुजारीजी दर्वाजा बन्दकर बिस्तरेपर खूब पैर फैला लेटे हुए हैं, अथवा कोई उपन्यास या "सरस्वती" का अंक पढ़ रहे हैं। मन्दिरके पुजारी दूसरे ही थे, किन्तु यदि कभी मेरे मत्थे पड़ा, तो पाँच सात शालिग्रामोंको बड़े थालमें दो-दो घड़े पानीसे एक-एक करके धोना मेरे बसकी बात न थी। सौभाग्यसे स्नान-शृंगारके वक्त मन्दिरके दर्वाजेपर पर्दा लटकता रहता था। उस वक्त मैं एक-एकको अलग धोनेकी जगह अंजलीकी अंजली पानीमें डुबोकर रगड़ा लगाता। यदि जाड़ा सख्त होता, और मैं अपने दोनों हाथोंसे सारे देवोंको उठा सकता, तो एक ही बार डुबोके रख देता। श्रद्धाके साथ सदाचार करनेका यही नतीजा

होता है। अभी तक मैं आर्यसमाजके मूर्तिविरोधी प्रभावमें नहीं आया था, तो भी मेरेलिए शालिग्रामके वह काले-काले गोल-मटोल चिकने पत्थर निरे पत्थर थे। बेगारकी तरह उनपर चन्दन और तुलसीदल भी डाल देता। जल्दी पर्दा हटा देनेपर डर था सन्देह होनेका, इसलिए भीतर ही बैठा एक शालिग्रामको दूसरेसे लड़ाया करता।

परसामें यदि किसी आदमीसे मिलनेमें मुझे प्रसन्नता होती, तो देवरिया (डेवढ़िया) के ओझाजी थे। सिद्धान्तकौमुदी (व्याकरण) के कितने ही भागको समाप्त कर चुका था, तो भी मुझे रस आता था काव्यशास्त्रके विनोदमें। कादम्बरी तो नहीं किन्तु दशकुमार चरितका बहुतसा अंश मैं पढ़ चुका था; नाटक तो कई, काव्यमालामें छपे भी कितने ही। एक दिन याद है, पंडितराज जगन्नाथपर हम वार्तालाप कर रहे थे, और शाहजहांके इनाम देनेकी बात कहनेपर पंडितराजने कहा था—

"न याचे गजालिं न वा वाजिराजिं, न वित्तेषु चित्तं मदीयं कदापि।
इयं सुस्तनी मस्तकन्यस्तहस्ता लवंगी कुरंगीदृगङ्गीकरोतु॥"

आजसे तीन सौ ही वर्ष पूर्व एक ब्राह्मण महान् विद्वान्ने 'यवन' तरुणीसे व्याह किया था, इसका मेरे दिलपर, सामाजिक रूढ़ियोंको लेकर, क्या प्रभाव पड़ा था, उसे नहीं कह सकता। वस्तुतः, उस समय मेरे दिलपर सबसे अधिक असर यदि किसी विचारधाराका था, तो वह वेदान्तका, और वेदान्ती व्यवहारमें सड़ियलसे सड़ियल, सरासर वेवकूफीसे भरी, नितान्त परस्पर-विरोधी बातोंपर भी विश्वास करनेका विधान करते हैं।

१०

परसासे पलायन

(१९१३ ई०)

बहरौलीके ठीकेपर चले जानेसे प्रबन्धका कुछ काम मैंने सम्पादन कर दिया था। इधर बौद्धिक अनशनमें भी सब्रका प्याला लबरेज हो चुका था। अबके लीची-आम-कटहलके फल खूब डटकर खाये, और उनकी फ़सलें भी समाप्तिपर पहुँच गई थीं। गुरुजीसे मद्रास और बम्बई प्रान्तके तीर्थों और वहांके वैरागी स्थानोंके बारेमें भी काफी सुन चुका था। पढ़नेकी इच्छा तो प्रबल हो ही रही थी, साथ ही बजन्दाने भी दिन-रात रट लगानी शुरू की—

"सैर कर दुनियाकी गाफ़िल जिन्दगानी फिर कहाँ?
जिन्दगी गर कुछ रही तो नौजवानी फिर कहाँ॥"

किसीको मनकी बात बतलाना, यहां भी परसाकी भांति ही नीतिके विरुद्ध था, गुरुजीकी ओरसे जरूर बाधा पहुँचाई जाती। मैंने मन्दिर बनानेवाले बड़े मिस्त्री महावीरराम—जो बनारसके होनेसे मेरे ज्यादा विश्वास-भाजन थे—से तीन रुपये लिये, और रातको ट्रेनसे थोड़ा ही पहिले जा एकमा पहुँचकर गाड़ी पकड़ी (जुलाई १९१३)। दो-एक संस्कृत पुस्तकें, दो धोतियां, दो लँगोटियां, गमछा और बिछौनेकेलिए आलवानका एक पल्ला मात्र मेरे पास था। ज्यादा चीज मैं ही कैसे ले सकता था? एकमासे हाजीपुरका टिकट खरीदा।

हाजीपुरमें सबसे पहिले जरूरत पड़ी लोटेकी। लोटेके बिना किसी साधुके स्थानपर जा कैसे सकता—तुरन्त कह बैठता, लोटे बिना यह साधु अपना 'धरम-करम' कैसे निबाहता है? आठ आनेमें पीतलका बंगाली लोटा लिया—पैसेको कमसे कम खर्च करना जो था। यह पहिली बार रमते साधुके तौरपर मुझे किसी स्थानमें जाना पड़ा, इसलिए परीक्षामें उपस्थित होनेवाले विद्यार्थीकी तरह दिलमें धकधकी हो रही थी। 'अखाड़ा-द्वारा' तो और याद ही था। रातको रेलकी बत्तीके सहारे मैंने 'धामक्षेत्र', 'पंचसंस्कार' के भी कितने ही अंशोंको रट लिया था—कहीं कोई पूछ न बैठे। रामचौरा मठमें गया। किन्तु वहाँ परसा स्थान भर बतलानेकी जरूरत पड़ी, बाकी मेरा भव्य वेश बतला देता था।

परसासे प्रस्थान करते वक्त यह तो निश्चय कर लिया था, कि अबके मद्रासकी ओर चलना है, किन्तु कैसे, यह तै नहीं कर पाया था। अब निश्चय किया, कि रेलके लिए पैसा भी नहीं है, और पैसा होनेपर भी पैदल ही चलना उत्तम। पिछली बार तो मैं बनारससे मुरादाबाद तक सर्पगतिसे मार्गकी सारी भूमिको स्पर्श करते गया था, अबके मंडूक-प्लुति (मेंढक-कुदान) कर रहा था। हाजीपुरमें एक-दो दिन रह रेलसे बरौनी पहुँचा। शाम होनेको आयी थी, मैं स्टेशनसे पश्चिमवाले नजदीकके गांवमें गया। संस्कृत-भाषणके भरोसे समझ रहा था, किसी संस्कृतज्ञके यहां रात-भरको शरण मिल ही जावेगी। किन्तु, वहां जिस ब्राह्मण देवतासे मुलाकात हुई, उन्हें जब मालूम हुआ कि मैं वैरागी हूँ, तो उनका मुँह बिगड़ गया। अवहेलनापूर्वक एक चौपालकी-सी जगह बतला दी। मैं पड़ा-पड़ा विचारता वहां आकर सो रहा।

सवेरे पाटकी गाड़ी पकड़, गंगा पार हो रेलद्वारा लखीसराय पहुँचा। पूछनेपर साधुके स्थानका पता लग गया, और सड़कसे दाहिनी ओरके मुहल्लेमें एक छोटीसी ठाकुरबाड़ीमें पहुँचा। वहां सिर्फ एक मूर्ति साधु थे। अच्छी तरह आसन लगवाया। उनके मधुर वार्तालापसे चन्द ही मिनटोंमें मालूम हुआ, कि मैं किसी अपरिचित स्थानमें नहीं हूँ। तीन रुपयेकी पूँजी समाप्त होने जा रही थी, इसलिए यहांसे आगे पैदल चलनेकी सोच रहा था। रास्तेके बारेमें जब स्थानीय महात्मासे पूछा, तो उन्होंने कहा—आगे वैद्यनाथका जंगल आवेगा; इसमें चोर-डाकू रहते

हैं, आपके पास कुछ है या नहीं यह वे क्या जानेंगे; पहिले विषबुझा उनका तीर आपको लग जायेगा, फिर आकर टटोलेंगे। अन्तमें उनकी सलाहसे मैंने यही तै किया कि आसनसोल तकके रास्तेको रेलसे पार कर लिया जावे, जिसमें जंगल भी खतम हो जावे, फिर पैदल चला जायेगा।

नदी पार क्यूलमें गाड़ी पकड़नी थी। वहां पहुँचनेपर मालूम हुआ, गाड़ीमें कुछ देर है। एक मुसलमान टिकट-कलेक्टरसे पूछ-ताछ करने लगा। उन्होंने बड़ी नम्रतासे सब बतलाया, और साथ ही मेरे बैठनेके लिए कुर्सी मँगवाकर रख दी, खाने-पीनेका आग्रह करने लगे। पहिले मुझे समझमें नहीं आया, क्यों वह इतना अधिक सम्मान प्रदर्शन कर रहे हैं। मेरे बदनपर शान्तिपुरी पाढ़की सफ़ेद नफ़ीस धोती सादगीके साथ अँचलेके रूपमें बँधी थी। बदनपर दूसरा कुर्ता आदि कुछ नहीं था। हाथ और पैरका बहुतसा भाग खुला था। दूसरी धोतीमें पुस्तक लंगोटीमें लिपटी बांधी थी। कन्धेपर, शायद, साफ पतला गमछा था। शिर और पैर नंगे थे। अच्छा खाने-पीने तथा घोड़ेकी सवारी करते रहनेसे शरीर मांसल और दृढ़ मालूम होता था, ऊपरसे सुगन्धित तिलके तेलकी रोजाना मालिशने चमड़ेको स्निग्ध और छायावासने उसे शुभ्र बना दिया था। क्या इस आकृतिने टिकट-कलेक्टरपर प्रभाव डाला था? कुछ जरूर, किन्तु अधिक असर मेरी भाषाका पड़ रहा था। शायद टिकट-कलेक्टर युक्तप्रान्तके रहनेवाले थे, मेरी उर्दू तथा उसके परिष्कृत उच्चारणसे वह ज्यादा प्रभावित हुए थे।

ट्रेन आयी। बहुतसे कम्पार्टमेंट खाली थे। मैं एक कम्पार्टमें, टिकट-कलेक्टरसे कृतज्ञता प्रकट करते हुए चढ़ने जा रहा था, कि बगलके कम्पार्टमेंटमें बैठे एक सज्जन बोल उठे—'इसी कम्पार्टमेंटमें आइये महाराज!' मैं उसमें चला गया। टिकट-कलेक्टरसे 'आदाब' हुआ, कुछ मिनटोंमें गाड़ी चल पड़ी।

हमारे कम्पार्टमेंटके दूसरे साथीने बात शुरू की। स्थान पूछनेपर परसा बतला दिया, व्यवसाय तो साधु था ही। कहाँ जा रहे हैं?—जहां सींग समाये, लेकिन अभी आसनसोल तक। उनके बारेमें पूछनेपर ज्ञात हुआ, वह बाढ़के वकील युगेश्वरीशरण (?) कचहरीकी छुट्टियोंमें पुरी, रामेश्वर और शायद द्वारिकाके भी दर्शनके लिए निकले हैं। प्रारम्भिक परिचयके समाप्त होनेके बाद उनका सबसे ज्यादा आग्रह था, आसनसोलमें न उतरकर, सीधे उनके साथ चलनेका। मैं पैदल चलनेका पक्षपाती था, रेलके डब्बेमें बन्द होकर एक जगहसे दूसरी जगह पहुँच जानेमें मुझे कोई मजा नहीं मालूम होता था। वकील साहेबके संभ्रान्त व्यवहारको देखते अन्तमें उनके आग्रहको अस्वीकार करनेमें मैं समर्थ नहीं हुआ। तै हुआ, मेरे खाने-पीनेका प्रबन्ध वकील साहेब करेंगे, और रेलकी सवारी बिना टिकट।

तो हम मुसल्मानके बारेमें पूछते थे। मुसलमान जरूर हमारी बोली समझ लेता था।' लड़केने छत्रम्‌के दरवाजेपर मुझे छोड़ दिया। रातको मैं दरवाजेके बाहर चबूतरेपर सो गया।

सवेरे छत्रम्‌में किसीसे आगेके दर्शनीय स्थानके बारेमें नहीं मालूम हो सका। बिना किसीसे पूछे सड़क पकड़कर एक तरफ चल पड़ा। कितनी ही दूरपर सड़क-की दाहिनी तरफ एक बड़ा बँगला देखा, हातेमें कुछ दरख्त थे, फूल नहीं, और एक कोनेमें था एक पक्का कुआँ। मैं कायदे-कानूनसे परिचित न था, कि किसीके हातेमें जाना जुर्म है, विशेषकर कुएको तो घरके आँगनमें भी होनेपर मैं सार्वजनिक सम्पत्ति समझता था। मैंने कुएँपर जाकर इत्मीनानसे पानी भरकर दातुवनकी, स्नान किया। तब तक देखा, बँगलेके बाहरके दरख्तके नीचे तीन-चार कुर्सियाँ पड़ गई हैं, और उन-पर एक तरुण और दो स्त्रियाँ बैठी हैं। स्त्रियाँ उत्तरी भारतकी तरह साड़ी पहिने हुई थीं। हातेके भीतर आते वक्त यह नहीं मालूम था, कि बँगलेमें कौन रहता है। स्नान करते ही वक्त नौकरने आकर इशारेसे मुझे मालिकके बुलानेकी खबर दी। वहाँ जानेपर तरुणने मेरे स्थान आदिके बारेमें पूछा और यह भी कि कहाँ जा रहे हैं। उसकी माँ और बहिन भी बातमें सम्मिलित हो गईं। उन्होंने खाना खाकर जानेकेलिए कहा। यह बेला भी उसीकी थी। मैंने दाल, तरकारीका झगड़ा छोड़ा और रोटीको घी-मिश्रीसे खा लेनेमें जल्दी समझी। पंजाबिन स्त्रीका हाथ हो, और वह छटाक-दो छटाँकसे कम घीकी बात चलाये! एक कटोरी घीसे भरी आई। खाना खाया। कोई लाहौरका उर्दूका अखबार था, उसे जरासा पढ़ा, और फिर चलनेकेलिए उठ खड़ा हुआ। तरुणने आज रह जानेकेलिए कहा, किन्तु आज रहने और कल रहनेके फेरमें मैं अभी-अभी छूटकर आया था। तरुणने मेरेलिए आस-पास किसी तीर्थके बारेमें नौकरोंसे पूछा और तिरुमले (?) का नाम मालूम हुआ। 'तिरुमले अवो', (तिरुमले जाओ) इतना मैंने तामिलमें सीख लिया, और जहाँ कोई आदमी सामनेसे आता दिखाई पड़ता, उसे पूछ देता। वह हाथसे इशारा करते हुए 'इंगे पो' (इधर जा) कह देता। शायद तिरुमले तक मुझे सड़क हीसे जाना पड़ा था, यद्यपि सड़क कच्ची, और कितने ही गाँवोंसे होकर जाती थी।

तिरुमलेमें मन्दिरके सामने एक कमलपूर्ण सरोवर था। दक्षिणके प्रायः सभी मन्दिर इसी तरहके होते हैं, इसलिए यह उसकी विशेषता नहीं हो सकती थी। हाँ, उसके पास एक छोटासा पथरीला पर्वत था, जिसपर मन्दिर नहीं था एक गोपुर (द्वारशिखर) जरूर था, जिसमें रातको मशाल एकसे अधिक स्थानोंमें उसके दो-तीन मंजिलोंपर जलाई जाती थी। तिरुमलेमें मैं शामसे बहुत पहिले पहुँच चुका था। यहाँ संस्कृतके कारण मुझे बोलने-चालनेमें कोई दिक्कत नहीं हुई। मन्दिरमें दर्शन

किया, किसी नवपरिचित व्यक्तिने मुझे यह भी बतला दिया, कि शामको मन्दिरकी भोजनशालासे पथिकोंको दध्योदन मिलता है। दध्योदन है तिलके तेलमें मेथी या किसी दूसरी चीजका तड़का देकर छौंका हुआ मट्ठा और भात, खानेमें खट्टा नमकीन, अच्छा लगा। पुजारीसे यह भी पता लगा, कि यहां 'उत्तरार्धीमठम्' भी है। उत्तरार्धीमठम्में शायद एक आचारी और आचारिणी मिले। यद्यपि वैरागीको यह निम्न श्रेणीका जन्तु समझते थे, तो भी वहां रातको ठहरनेकेलिए जगह मिल गई और साथ ही आगेके दर्शनीय स्थानोंके बारेमें बहुतसी बातें मालूम हुईं। गुरुजी कहा करते थे, कि दक्खिनमें तीर्थस्थानोंको 'दिव्यदेश' कहते हैं, उनकी संख्या सैकड़ों है, जहांपर कि रामानुजाचार्य और दूसरे महात्माओंका वास रहा है। इन उत्तरार्धी (उत्तर भारतीय) आचारी साधु-साधुनियोंसे पता लगा, कि तमिलप्रान्तके बहुतसे दिव्य देशोंमें उत्तरार्धी साधु रहते हैं। उन्होंने कुछके नाम भी लिखवा दिये। यह भी मालूम हुआ कि प्रायः हर मन्दिरमें दो-चार नवागन्तुककेलिए "प्रसाद" बँधा हुआ है।

ये 'उत्तरार्धी' आचारी हम वैरागियोंको नीची निगाहसे देखते थे, किन्तु दक्षिणी गृहस्थ-आचारियोंकी दृष्टिमें उनका भी स्थान वैसा ही था, जैसा उनकी दृष्टिमें हमारा। गुस्सेमें आकर मैंने उत्तरार्धियोंको 'वैरागी' कहकर गाली देते भी सुना था। ये 'उत्तरार्धी' सभी दिव्य देशोंमें कैसे पहुँच गये और स्थानीय ब्राह्मण-पुजारियोंके विद्वेषक होते भी कैसे ये अपना अड्डा जमा सके, यह भी एक मनोरंजक बात है। उत्तरीय भारतमें साधुओं और उनके मठको स्त्री-संसर्गसे बिलकुल शून्य रखना आवश्यक माना जाता है, किन्तु इधर इसमें कुछ उदारता थी, इसका कारण ढूंढ़नेपर पता लगा—उत्तरीय भारतके विरक्त आचारियोंके भी दक्षिणी आचारी ही आदर्श और पूज्य हैं, और दक्षिणी आचारियोंमें कोई भूला ही भटका होगा, जो गृहस्थाश्रमी न हो। इस प्रकार मठमें स्त्रीका रहना उतना निन्दनीय नहीं समझा जाता, खासकर जब कि स्त्रीके बारेमें कोई समीपस्थ सम्बन्ध बतलाया जा सकता हो। इन उत्तरार्धियोंमेंसे अधिकांश तीर्थ करनेकेलिए पैसे-कौड़ी बिना छप्पनका चावल पकाते, तथा मन्दिरका पुंगल (खिचड़ी)। दध्योदन खाते हुए आये थे। किसी दिव्य देशमें पहुँचकर जहां-तहांसे फूल-पत्ता जमाकर "पुष्पकैंकर्य" (फूलों द्वारा सेवा) करने लगे। मद्रास और आसपासके श्रद्धालु अब्राह्मण भक्तोंसे उनकी कुछ जान-पहिचान बढ़ी। उत्तर भारतमें सारे अब्राह्मण तो शूद्र माने नहीं जाते—वहां तो ब्राह्मण, राजपूत, भूमिहार, कायस्थ, अगरवाल आदि पचासों जातियोंको भोजन और प्रणामको छोड़ बिलकुल एक समान माना जाता है, इतना ही नहीं कितनी ही जगह उनके हाथकी कच्ची-पक्की भी चलती है, और यहां मद्रासमें ब्राह्मण अपनेसे भिन्नको बहुत नीच 'शूद्र' समझते हैं। उत्तरार्धी ब्राह्मण

आदतवश यहाँ अब्राह्मण गृहस्थोंके साथ अच्छा व्यवहार करते हैं, जिसका असर पड़ना जरूरी ठहरा। व्यापार, व्यवसाय अब्राह्मण चेट्टी और मुदालियर लोगोंके हाथमें है, उत्तरार्धी अपने व्यवहार द्वारा उनका प्रिय हो जाता है, और इस प्रकार पुण्यकार्यके लिये दो-आना चार-आना मासिक चन्दा-कई जगहोंसे उसे मिलने लगता है। स्त्री और बाल-बच्चोंका बोझ न होनेसे ये रुपये जमा होने लगते हैं, और थोड़े ही दिनोंमें उत्तरार्धीका अपना मकान, अपना बाग, और कभी-कभी काफी जायदाद भी हो जाती है।

तिरुमलेमें मालूम हुआ, कि यहाँसे कुछ दूरपर पुन्नमल्लेका दिव्य देश है। मैंने रास्तेको तमिल वाक्योंको काफी संख्यामें अपने नोटबुकमें लिख लिया था। सबेरे रवाना हुआ। रास्तेमें सौभाग्यसे संस्कृतका जानकार एक तरुण कुछ दूर तक साथी बना, और फिर पूछते-पाछते पुन्नमल्ले पहुँच गया। पुन्नमल्ले काफी बड़ा बाजार है। बस्तीमें नारियलके वृक्ष और बगीचे काफी हैं। यहाँ पहिले उत्तरार्धी मठमें गया। स्वामिनी एक उत्तरार्धिनी आचारिनी थीं, जो बहुत दिनोंसे इधर रह जानेसे तमिल खूब बोलती थीं। वह इधरकी आचारी (वैष्णव अय्यंगार) ब्राह्मणियोंकी तरह लाँग बँधी घाघरानेवाली साड़ी पहिने हुए थीं। देखनेसे मालूम नहीं हो सकता था, कि यह रीवाँकी रहनेवाली हैं। थोड़ासा परिचय दे पूजाके समय मैं मन्दिरमें चला गया। यहाँका मन्दिर तिरुमलेसे बड़ा था। संस्कृत जाननेवाला मन्दिरमें मिल ही जाता था। अपने असह्य जाति-अभिमानके साथ तमिल ब्राह्मणों-में यह बात तो जरूर है, कि उनमें शत-प्रति-शत पढ़े हुए लोग हैं। वह कपड़ा-लत्ता, घर-द्वार ज्यादा साफ रखते हैं, और बहुत काफी संख्या संस्कृताभिज्ञोंकी भी उनमें मिलती है। कह नहीं सकता 'पुगल' मिला या दध्योदन, उसे खाकर मैं उत्तरार्धी मठमें चला आया। उत्तरार्धी मठमें एक आचारी भी थे। पहिले मैं समझता था, यही स्वामी हैं, पीछे यह बात गलत निकली। खैर, उनसे इधर आसपासके कई दिव्य देशोंके नाम और मार्गके बारेमें लिया; इनमें पहिले आनेवाले थे—पच्चपेरुमाल, तिरुमिसी और तिरुवल्लूर; पहिले दोनोंमें उत्तरार्धी आचारी रहते हैं यह भी पता लगा।

पच्चपेरुमाल दूर नहीं था, तो भी अभी प्रतिदिन एक दिव्य देशके दर्शनका नियम गया। पच्चपेरुमाल एक छोटेसे गाँवका छोटासा मन्दिर था, किन्तु यह 'छोटासा मन्दिर' राग-भोग, वस्त्र-आभूषण, धूनि-चन्दनमें हमारे यहाँके बड़े-बड़े मन्दिरोंकी नाक काटनेवाला था। यहाँके उत्तरार्धी आचारी अभी कुछ ही सालोंसे आये थे। उनका अपना मकान भी नहीं था। किसी तरह गुजारा कर लेते थे, किन्तु अवतारके ऐसे तीन दिव्य देशोंमें सबसे अधिक सहृदय मुझे यही मिले। रातको बड़ी देर तक इनके साथ दक्षिणी लोगोंके आचार-व्यवहार पर बातचीत होती रही।

वह भी उनके जात्यभिमानसे तंग आये हुए थे। आगेके बारेमें उन्होंने बतलाया कि तिरुमिशीमें आपको श्री हरिप्रपन्नाचार्य मिलेंगे, वह हमारे उत्तराधियोंमें सबसे अधिक प्रभावशाली व्यक्ति हैं।

११

तिरुमिशीका उत्तराधिकार

(१९१३ ई०)

अगले दिन आठ बजे मैं तिरुमिशी (या तिरुमलिशै) में था। फूले कमलके साथ चारों ओर पक्का बँधा बड़ा तालाब, उसकी उत्तर और पूरबवाले छोरसे दूर तक चली गई एकतल्ले खपड़ैलके, किन्तु स्वच्छ घरोंकी पंक्तियां, पश्चिम तरफ़ काफ़ी खाली जगह छोड़कर, मन्दिरका विशाल गोपुर (शिखरद्वार)—तरह-तरहके पशु-पक्षियो, देव-देवियोकी चूने-ईंटेकी बनी मूर्त्तियोंसे अलंकृत, और उसकी दोनो बगलसे सांपकी तरहसे निकलकर चला गया चतुर्भुज प्राकार तथा तदन्तरालवर्ती देवालय समुदाय। प्राकारके दक्खिन-पश्चिम थोड़ीसी वीथी छोड़कर फिर सम-रेखामें अवस्थित गृह-पंक्तियां। तालावके पूरब तरफ़ फूलोंका बाग, सुन्दर मंडप और फाटक।

तालाबमें स्नानकर पहिले मैं देवदर्शनके कामसे निवृत्त होने मन्दिरमें चला गया। दर्शनके समयका भी खयाल रखना जरूरी था। यहां चार या पाच सन्निधि (देवालय) थे। तिरुमिशी आलवार (भक्तिसार स्वामी) रामानुजी वैष्णवोंके बारह प्रधान आलवारों (सिद्धाचार्यों) में हैं, यह मुझे उस वक्त मालूम हुआ था, जिस वक्त भारी रुद्राक्षके कंठे और दूरसे चमकते भस्म-त्रिपुंडको धारणकर ढूंढ-ढूंढ़कर मैं वैष्णवोकेलिए लिखी गई गालियोको बड़े शौकसे पढ़ता था; उनमेंसे किसी पुस्तिकामें वैष्णवोंको नीच-अन्त्यजोंका पन्थ साबित करनेकेलिए किसी पुराने ग्रन्थका उद्धृत यह श्लोक मुझे याद था—

> "विचक्षणो विश्वविमोहहेतुः,
> कुलोचिताचारकलानुपक्तः।
> पुण्ये महीसारपुरे विधाय,
> विक्रीय शूर्पं विचचार योगी॥"

वही यह महीसारपुर था, और यही भक्तिसार स्वामीका जन्म और धर्म-स्थान रहा। किसी समयके एक शूर्पकारकी जन्मभूमि होनेसे आज इनका यह सम्मान था, किन्तु आजका शूर्पकार वीथीके भीतर तक घुस नहीं सकता था, मन्दिरके प्राकारके भीतर जानेकी तो बात ही क्या?

दर्शन और प्रसादग्रहणसे निवृत्त हो मैं उत्तरार्धी मठमें गया, जो कि दक्षिण-वाली वीथीमें मंदिरसे दूसरी तरफ था। लम्बा और कुछ मोटासा एक प्रौढ़ वयस्क व्यक्ति चबूतरेपर बैठा हुआ था। मैंने संस्कृतमें पूछा—उत्तरार्धी मठ यही है। संस्कृत हीमें मुझे अगले प्रश्नोंका भी उत्तर मिलता गया। बहुत देर बाद जाकर मालूम हुआ, कि यही स्वामी हरिप्रपन्न हैं। कुछ देरके बाद जब मैं चलनेकी इजाजत मांगने लगा, तो उन्होंने अत्यन्त मधुर शब्दोंमें कहा—"दोपहरका प्रसाद पाकर न जावें।" रह जानेके बाद फिर बातें शुरू हुईं। मालूम हुआ उनका जन्म-स्थान बलिया जिलेका है, वृन्दावनके किसी 'खटले' में वह शिष्य हुए। वहीं लघु-कौमुदीका बहुतसा भाग पढ़े, फिर दिव्य देशोंकी दर्शन-लिप्सा उन्हें यहां ले आई। छपरा और बलिया पास-पासके जिले हैं, इसलिए छपराका नाम सुनकर अधिक आत्मीयता अनुभव करना उनकेलिए स्वाभाविक था। दोपहरके बाद जब जानेके-लिए तैयार हुआ, तो कहने लगे—'महात्मा दो-चार दिन यहां विश्राम करो। इसे दूसरेका स्थान मत समझो। तुम्हें दिव्य देशोंके दर्शनकी लालसा है, तो मैं भी उसी लालसासे खिंचकर देश छोड़ इस मुल्कमें आ पड़ा हूँ। पिछले पच्चीस वर्षोंके निवासमें मैं सभी दिव्य देशोंमें घूम आया हूँ। मैं तुम्हें यह सब बातें बतला दूंगा, जिनके जाननेसे तुम्हारी यात्रा अनायाससे होगी।

मुझको उनकी बातें युक्तियुक्त मालूम हुईं, और मैंने अपने दंड-कमंडलुको वहीं रख दिया।

हरिप्रपन्न स्वामी वृन्दावनसे खाली हाथ भागकर दक्षिणमें आये थे। यहीं उन्होंने पुण्यसंकल्प कर्म शुरू किया। धीरे-धीरे मद्रासके कितने ही चेट्टी गृहस्थ उनके परिचित हो गये। चार-चार आठ-आठ आने मासिक चन्देकी रकमें जमा करते अब उनकी आमदनी पचास रुपये मासिकसे ऊपर पहुँच गई थी। स्वामी हरिप्रपन्नके पास वीथीमें अपने दो घर थे, तालाबके पूरबवाला बड़ा पुष्पवाटी बाग इन्हींका था। कितने ही एकड़ धानके खेतोंके अतिरिक्त कुछ हजार रुपये सूदपर भी चल रहे थे। 'यह सब सर्वाधार स्वामीके पुण्यसंकल्पोंकी कृपासे' जैसा कि वह कहते थे।

मठमें हरिप्रपन्न स्वामीके दो शिष्योंमें देवराज फैजाबादके रहनेवाले थे, और तीर्थयात्रा करते ऐसे ही भटकते हुये यहां पहुँच गये थे; दूसरे शिष्य राँची-रामगढ़के रहनेवाले हरिनारायण थे। देवराज बहुत सीधे-सादे थे, किन्तु मुझसा स्नेह और विश्वास उन्हींपर ज्यादा था। पहिले हरिप्रपन्न स्वामीने अपनी कठिनाइयोंको मेरे सामने रखकर सहानुभूति प्राप्त की। तमिल ब्राह्मणोंके अभिमानका उन्हें सचमुच निशाना बनना पड़ा होगा। खाली हाथ आकर उन्होंने यहां एक अच्छा धर्मस्थान तैयार कर दिया, इसमें किसको सन्देह हो सकता है। दो-चार दिन

रहनेके बाद उन्होंने कहा—"मैं भी पढ़नेके समय इसी तरह भागकर मारा-मारा फिरने लगा। पढ़ता होता, तो एक अच्छा पंडित होके रहता। तुम्हारी उम्र पढ़नेकी है, घूमना तो पीछे भी हो सकता है।"

वाजिन्दाकी सदा जीवित वाणीके कोलाहलमें भी कभी-कभी हरिप्रपन्न स्वामी जैसोंकी इस युक्तिके तथ्यको मैं स्वीकार करता था। फिर उनका प्रस्ताव हुआ—"परसा गुरुजीको लिख दें, और कुछ साल यहीं रहकर विद्या पढ़ें। व्याकरणके-लिए हमारा देश जबर्दस्त है, किन्तु न्याय, वेदान्त, मीमांसा और काव्यमें यहां-वालोंका अच्छा प्रवेश होता है। इस घरको अपना घर समझें। किसी बातकी तकलीफ़ हो तो मुझसे कहें। यहां एक अच्छी संस्कृत पाठशाला है, यहीं रहकर संस्कृत क्यों न पढ़ें?"

मुझे हरिप्रपन्न स्वामीकी स्वार्थहीन सम्मति क्यों न पसन्द आती, आखिर सैर और विद्याव्यसनमें कौन मुझे अधिक प्रिय है, इस बातका पता तो अभी भी मुझे नहीं लग सका है।

तालाबके उत्तर-पूरबवाले मकानमें उस समय संस्कृत पाठशाला थी, जिसमें दो अध्यापक थे। मैंने जाकर पाठशालामें नाम लिखा लिया। भक्ति (पीछे मीमांसा-शिरोमणि टी० वेंकटाचार्य), रगा और श्रीनिवास मेरे सहपाठी थे। हम लोग पाठशालाकी ऊपरी श्रेणीमें पढ़ते थे। भारी अन्तर था, यहांके विद्यार्थियों और समकालीन काशीके विद्यार्थियोंमें। लेकिन इसमें दोष हमारे यहांके विद्यार्थियोंका नहीं है, आखिर वह जिन घरोंसे आते हैं, उनमें कितने सैकड़े शिक्षित रहते हैं? बहुतेरे विद्यार्थी तो 'रामागति' शुरू करके 'इयं स्वरे' रटने लगते हैं, और ठीकसे वर्णमाला और हिन्दीकी पाठशालीय पुस्तकोंसे भी परिचित नहीं होते। भक्ति और दूसरे साथी फूले हुए कमलोंसे भरे तालाबके किनारे घंटों बैठ-कर उनके सौन्दर्यको देखते रहते, असाधारण वर्षा होनेसे लबालब भरे जलाशयको देखनेकेलिए तीन-तीन मील तक जाते। क्या इस बातकी आशा हम अपने बनारसी साथियोंसे रख सकते थे? यहां हम लोग सिर्फ़ पाठ्य-पुस्तकोंको ही नहीं रटते थे, बल्कि अपने मनसे कितने ही काव्य, नाटक, चम्पू मिलकर या अलग-अलग पढ़ते थे। देलरामकथासार जैसे कितने ही अपरिचित काव्य-नाटकोंको मैंने यहीं समाप्त किया। मालूम हुआ उपन्यास और कहानियोंकी भांति संस्कृतके इन ग्रन्थोंको भी शौकिया पढ़ाईमें शामिल किया जा सकता है। पाठशालामें हम सिद्धान्त-कौमुदी, मुक्तावली, तथा कुछ काव्य, अलंकार ग्रन्थ पढ़ते थे। मेरा मन खूब लग गया था, इसमें सन्देह नहीं।

हरिप्रपन्न स्वामीने अब धीरे-धीरे अपने सारे परिश्रमके व्यर्थ जाने तथा मठके चौपट हो जानेकी बात कहकर प्रेरणा करनी शुरू की—"ऐसा स्थान जहां पढ़े-लिखे,

दर्शन और प्रसादग्रहणसे निवृत्त हो मैं उत्तरार्धी मठमें गया, जो कि दक्षिण-वाली वीथीमें प्राकारसे दूसरी तरफ़ था। लम्बा और कुछ मोटासा एक प्रौढ़ वयस्क व्यक्ति चबूतरेपर बैठा हुआ था। मैंने संस्कृतमें पूछा—उत्तरार्धी मठ यही है। संस्कृत हीमें मुझे अगले प्रश्नोंका भी उत्तर मिलता गया। बहुत देर बाद जाकर मालूम हुआ, कि यही स्वामी हरिप्रपन्न हैं। कुछ देरके बाद जब मैं चलनेकी इजाजत माँगने लगा, तो उन्होंने अकृत्रिम मधुर शब्दोंमें कहा—"दोपहरका प्रसाद पाकर न जावें।" रह जानेके बाद फिर बातें शुरू हुईं। मालूम हुआ उनका जन्म-स्थान बलिया जिलेका है, वृन्दावनके किसी 'राटन्दे' में वह शिष्य हुए। वहीं लघु-कौमुदीका बहुतसा भाग पढ़े, फिर दिव्य देशोंकी दर्शन-लिप्सा उन्हें यहाँ ले आई। छपरा और बलिया पास-पासके जिले हैं, इसलिए छपराका नाम सुनकर अधिक आत्मीयता अनुभव करना उनकेलिए स्वाभाविक था। दोपहरके बाद जब जानेके-लिए तैयार हुआ, तो कहने लगे—"महात्मा दो-चार दिन यहाँ विश्राम करो। इसे दूसरेका स्थान मत समझो। तुम्हें दिव्य देशोंके दर्शनकी लालसा है, तो मैं भी उसी लालसामें खिंचकर देश छोड़ इस मुल्कमें आ पड़ा हूँ। पिछले पच्चीस वर्षके निवासमें मैं सभी दिव्य देशोंमें घूम आया हूँ। मैं तुम्हें वह सब बातें बतला दूँगा, जिनके जाननेसे तुम्हारी यात्रा अल्पायाससे होगी।

मुझको उनकी बातें युक्तियुक्त मालूम हुईं, और मैंने अपने दंड-कमंडलुको वहीं रख दिया।

हरिप्रपन्न स्वामी वृन्दावनसे खाली हाथ भागकर दक्षिणमें आये थे। यहीं उन्होंने पुष्पकैंकर्य कर्म शुरू किया। धीरे-धीरे मद्रासके कितने ही चेट्टी गृहस्थ उनके परिचित हो गये। चार-चार आठ-आठ आने मासिक चन्देकी रकमें जमा करते अब उनकी आमदनी पचास रुपये मासिक से ऊपर पहुँच गई थी। आज स्वामी हरिप्रपन्नके पास वीथीमें अपने दो घर थे, तालाबसे पूरबवाला बड़ा गुलाबका बाग इन्हींका था। कितने ही एकड़ धानके खेतोंके अतिरिक्त कुछ हजार रुपये सूदपर भी चल रहे थे। 'यह सब भक्तिसार स्वामीके पुष्पकैंकर्यकी कृपासे' जैसा कि वह कहते थे।

मठमें हरिप्रपन्न स्वामीके दो शिष्योंमें देवराज फ़ैजाबादके रहनेवाले थे, और तीर्थयात्रा करते ऐसे ही भटकते हुये यहाँ पहुँच गये थे; दूसरे शिष्य रीवाँ-राज्यके रहनेवाले हरिनारायण थे। देवराज बहुत सीधे-सादे थे, किन्तु गुरुका स्नेह और विश्वास इन्हींपर ज्यादा था। पहिले हरिप्रपन्न स्वामीने अपनी कठिनाइयोंको मेरे सामने रखकर सहानुभूति प्राप्त की। तमिल ब्राह्मणोंके अभिमानने उन्हें सचमुच निमाना बनना पड़ा होगा। खाली हाथ आकर उन्होंने यहाँ एक अच्छा धर्मस्थान तैयार कर दिया, इसमें किसको सन्देह हो सकता है। दो-चार दिन

रहनेके बाद उन्होंने कहा–"मैं भी पढनेके समय इसी तरह भागकर मारा-मारा फिरने लगा। पढता होता, तो एक अच्छा पडित होके रहता। तुम्हारी उम्र पढ़नेकी है, घूमना तो पीछे भी हो सकता है।"

बाजिन्दाकी सदा जीवित वाणीके कोलाहलमें भी कभी-कभी हरिप्रपन्न स्वामी जैसोंकी इस सुवितके तथ्यको मैं स्वीकार करता था। फिर उनका प्रस्ताव हुआ– "परसा गुरुजीको लिख दें, और कुछ साल यही रहकर विद्या पढें। व्याकरणके-लिए हमारा देश जबर्दस्त है, किन्तु न्याय, वेदान्त, मीमासा और काव्यमें यहां-वालोंका अच्छा प्रवेश होता है। इस घरको अपना घर समझें। किसी बातकी तकलीफ़ हो तो मुझसे कहें। यहा एक अच्छी संस्कृत पाठशाला है, यही रहकर संस्कृत क्यो न पढ़ें?"

मुझे हरिप्रपन्न स्वामीकी स्वार्थहीन सम्मति क्यो न पसन्द आती, आखिर सैर और विद्याव्यसनमें कौन मुझे अधिक प्रिय है, इस बातका पता तो अभी भी मुझे नहीं लग सका है।

तालाबके उत्तर-पूरबवाले मकानमें उस समय सस्कृत पाठशाला थी, जिसमें दो अध्यापक थे। मैंने जाकर पाठशालामें नाम लिखा लिया। भक्ति (पीछे मीमांसा-शिरोमणि टी० वेंकटाचार्य'), रगा और श्रीनिवास मेरे सहपाठी थे। हम लोग पाठशालाकी ऊपरी श्रेणीमें पढ़ते थे। भारी अन्तर था, यहाके विद्यार्थियों और समकालीन काशीके विद्यार्थियोंमें। लेकिन इसमें दोप हमारे यहाके विद्यार्थियोंका नही है, आखिर वह जिन घरोंसे आते है, उनमें कितने सैकड़े शिक्षित रहते है? बहुतेरे विद्यार्थी तो 'रामागति' शुरू करके 'इय स्वरें' रटने लगते हैं, और ठीकसे वर्णमाला और हिन्दीकी पाठशालीय पुस्तकोंसे भी परिचित नहीं होते। भक्ति और दूसरे साथी फूले हुए कमलोंसे भरे तालाबके किनारे घंटों बैठ-कर उनके सौन्दर्यको देखते रहते, असाधारण वर्षा होनेसे लबालब भरे जलाशयको देखनेकेलिए तीन-तीन मील तक जाते। क्या इस बातकी आशा हम अपने बनारसी साथियोंसे रख सकते थे? यहां हम लोग सिर्फ पाठ्य-पुस्तकोंको ही नहीं रटते थे, बल्कि अपने मनसे कितने ही काव्य, नाटक, चम्पू मिलकर या अलग-अलग पढ़ते थे। देलरामकथासार जैसे कितने ही अपरिचित काव्य-नाटकोंको मैंने यहीं समाप्त किया। मालूम हुआ उपन्यास और कहानियोंकी भांति संस्कृतके इन ग्रन्थोंको भी शौकिया पढ़ाईमें शामिल किया जा सकता है। पाठशालामें हम सिद्धान्त-कौमुदी, मुक्तावली, तथा कुछ काव्य, अलंकार ग्रन्थ पढ़ते थे। मेरा मन खूब लग गया था, इसमें सन्देह नहीं।

हरिप्रपन्न स्वामीने अब धीरे-धीरे अपने सारे परिश्रमके व्यर्थ जाने तथा मठके चौपट हो जानेकी बात कहकर प्रेरणा करनी शुरू की–"ऐसा स्यान जहां पढे-लिखे,

मन्य जनोंका समागम सुलभ है, एक महान् पुण्यतीर्थ होनेसे सारे वैष्णवजगत् जिसका सम्मान है, ऐसी जगह रहना और दाक्षिणियोंको भी दिखला देना कि उत्तर भारतीय कितने विद्वान् हो सकते हैं, यह कैसा अच्छा होगा ?....''

वे बड़े व्यवहारकुशल थे, उन्होंने अपने अभिप्रायको एक ही दिनमें नहीं कह डाला । उसकेलिए पगवारेका वह इन्तिजार करते रहे । वह यह जान गये, कि यहांके सहपाठियों, पढ़ाई, और समाजमें मेरा मन लग गया है । तो भी मैं बराबर उज्र करता रहा—"मैं एक जगह शिष्य हूँ ।" "ठीक, किन्तु रामानुज स्वामी तो उस सम्प्रदायके भी मूल हैं । उनके वेदान्तकी परम्परा तो बल्कि आचारी लोगोंके ही पास है"— उत्तर मिला । इसी बीच वृन्दावनके महान् नैयायिक सुदर्शनाचार्य (पंजाबी नहीं दूसरे) के प्रधानशिष्य श्री भागवताचार्य श्रीरंगमसे तिरुमिशी आये । शायद हरिप्रपन्न स्वामीने खासतौरसे उन्हें बुलाया था । भागवताचार्य नव्य-न्यायके भारी विद्वान् थे, अपने अध्यापकके सबसे तीव्र विद्यार्थी थे, और उत्तर भारतमें रहते तो उनकी बड़ी ख्याति होती । किन्तु, उनको दमाका रोग था; जाड़ों और बरसातमें भी उत्तरमें रहनेपर बराबर दौरा हो जाया करता था; इसी कष्टसे बचनेकेलिए वह तमिल प्रान्तमें चले आये थे । तमिल देशमें सर्दीका नाम नहीं, माघ-पूसमें भी यहां कपड़ा ओढ़नेकी जरूरत नहीं पड़ती । यहां वह दमासे बचे रहते थे । वह अधिकतर श्रीरंगममें रहते, किन्तु बीच-बीचमें रामानुजाचार्यकी जन्मभूमि पेरेम्बुदूर (भूतपुरी), तिरुमिशी, तथा दूसरे दिव्य देशोंमें भी चले जाया करते थे । उस वक्त उनकी आयु ५० वर्षसे ऊपरकी थी ! उनका पतला-दुबला गोरा शरीर, अमांगल्य प्रसन्नमुख, असाधारण मधुर वाणी, तथा परम सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार किसीको भी अपनी ओर आकर्षित किये बिना नहीं रह सकता था । वह कुछ दिन यहीं रहनेवाले थे, और उनका आग्रह हुआ; मैं सपरिष्कार न्यायके किसी ग्रन्थको शुरू करूँ । तर्कसंग्रह मैं पढ़ चुका था, किन्तु उसीके प्रत्येक लक्षणका परिष्कार उन्होंने मुझे पढ़ाना शुरू किया । उनके पढ़ानेका ढंग सुन्दर था, न्याय जैसे शुष्क विषयमें भी वह दिलचस्पी ला देते थे ।

श्री भागवताचार्य मेरी ओरसे बहुत प्रभावित हुए थे, कारण शायद पढ़नेकी लगन तथा परिष्कृत रुचि ही होगी । हरिप्रपन्न स्वामीकी बातका उन्होंने भी समर्थन करना शुरू किया, और अन्तमें मुझे हरिप्रपन्न स्वामीका प्रस्ताव बलात् स्वीकार करना पड़ा । फिरसे वासुदेवमन्त्र दिया गया, बाहुमूलोंमें तप्तमुद्रा (शंख, चक्र) दी गई, हां उतनी गरम, और उतनी निर्दयतासे नहीं जितनी कि परसाके नये 'आचारी' के हाथोंसे मिली थी । दीक्षाके बाद भी पंक्तिमें बैठकर भोजन करनेकेलिए प्रमाण चाहिए था, कि मैं ब्राह्मण हूँ । मैंने प्रयाग मागेसके पास पत्र

लिख दिया, और उनकी चिट्ठी चली आई। लिखित प्रमाण हरिप्रपन्न स्वामीको नही दक्षिणकी और उत्तरार्धी विरादरीकेलिए आवश्यक था।

यहां मेरेलिए पूजा-पाठका विशेष झगड़ा न था। सवेरे शौच-दातुवन खतम कर तालावमें स्नान करता, फिर तालपत्रकी छोटीसी सुन्दर पिटारीसे सफ़ेद सुवासित रज, तथा लाल रोरीसे ललाटमें तिलक करता, और बस पूजा खतम। हरिप्रपन्न स्वामी, और पडित भागवताचार्य सस्कृतकी पाठच-पुस्तकोके पढ़नेको भी पूजा-पाठका अंग समझते थे। नहाते वक्त हफ्तेमें एक वार तिलके तेलकी मालिश जरूर होती थी। यहां एक छटाक तेल मुखा देना तेल मलनेवाले (स्नापक) केलिए प्रशसाकी वात न थी, और ऐसे स्नापकोकी कमी भी न थी। खैर, वदनमें तेलकी खूब मालिश करानी अच्छी ही वात थी, किन्तु जव आखोंमें भी तिलके तेलके डालनेकी वात आती तो मुझे बहुत बुरा लगता, लेकिन जब देवराज और हरिनारायण एक ओरसे कहने लगते—इससे आख निरोग रहती हैं, तो मानना पड़ता। नहानेके वक्त इमली जैसे एक फल (सिकाकाई) की पानीमें पिसी लेई वदनमें मलनी पड़ती। इससे वदनका तेल छूट जाता, और तेल लगकर धोती मैली नही होती। यदि तेल भी लगाना है, और साथ ही कपड़ेको भी उजला रखना है, तो इससे वढकर दूसरा उपाय नही हो सकता था। हजामत बनानेमें, उत्तर भारतके वैरागीके लिए सिर-मुहका बाल साफ़ करना ही पर्याप्त था, किन्तु यहा सारे शरीरपर, निर्लज्जतापूर्वक भी—छुरा घुमवाना पड़ता था। छाती-पैरके रोओको भी कटवा देना—मुझे व्यर्थ श्रम-सा मालूम होता था। उस वक्त मेरे दिलमें यह ख्याल न आया था, कि यहांके कर्मनिष्ठ ब्राह्मणोकेलिए सुईका सिला कपड़ा वर्जित है, वह कुर्ता, कोट, मिर्जई नही पहिन सकते, इसलिए शरीरके ऊपरके बाल देखनेमें बुरे लगते है।

सब लोग, घरमें और यात्रामें भी कमलपत्रपर खाते थे। उनके सूखे गट्ठर भी वाजारोंमें पत्तलकी तरह बिकते थे। खानेमें भात अनिवार्य चीज थी, और मैंने अपनेको उसके अनुकूल बना लिया था। सवेरे जलपानमें रातके वचे भातसे ताजा वना दध्योदन मिलता था, जो सचमुच ही खानेमें बड़ा स्वादिष्ट मालूम होता था। दोपहरको उत्तरी भारतका दाल-भात, तरकारीके साथ दक्षिणका रस या मानूमधु भी रहता था। कभी-कभी लाल मिर्चोंकी झोखी वढ जाती थी, नही तो गरमागरम पीने या भातके साथ मिलाकर खानेमें यह अच्छा मालूम होता। इसके इमली, लालमिर्च, तिलका तेल—ये खास अंग थे। बुखार आनेपर पथ्यके तौरपर जब हमारे एक सहवासीको रसमू दिया जाने लगा, तो मैं वहस कर बैठा—'क्यो बेचारेको मारना चाहते हो?' मेरे उत्तर भारतीय साथियोने वतलाया—'यह उत्तम पथ्य है, यहांकी आवोहवामें इससे नुकसान नहीं होता।' मैं समझता था कि

इससे तिल्ली बढ़े बिना नहीं रहेगी। भात-दाल मिट्टीकी हँडियोंमें पकता था, और जब तक कोई ग्रहण नहीं आता, तब तक उनके बदलनेकी जरूरत नहीं पड़ती थी। मुसलमानी चौकेकी भाँति आचारीके चौकेको भी दक्षिणी आचारके अनुसार धोने-धानेकी जरूरत नही। वहा कोई खाता तो था नही, फिर सिर्फ कालिख और कचड़ेकी सफ़ाई के लिए रोज-रोजके श्रममें एक-एक तोला खून सुखाना क्या बेवकूफी न थी? रसोईके कमरेसे खानेका कमरा अलग था, और वह खूब साफ रहता था। खा लेनेके बाद पत्तल अपने ही उठा लेनी पड़ती, फिर थोड़ेसे गोबरको लेकर उसपर चिपकाकर गिरे हुए चावल उठा लिये जाते, और पानी फेर दिया जाता। भोजनमें आचारियोंका नियम है—जो कि वस्तुतः तमिल वैष्णव ब्राह्मणोंका आचार है—भोजन कच्चा हो या पक्का, सिर्फ उसीके हाथका ही नही बल्कि उसीकी दृष्टिके सामने खाया जा सकता है, जिसका सहभोज हो सकता है। जिसका भोजन चलता है उसीका पानी भी, इस नियमके कारण बहुतसे धनी तथा उच्च-पदस्थ मद्रासी ब्राह्मणोंकी स्त्रियोंको भी अपने हाथ चौका-बासन, पानी भरना, रसोई बनाना पड़ता है।

खान-पान सम्बन्धी छूत-छातकी अति मुझे उतनी नही खटक रही थी, क्योंकि इसमें कुछ उदार होनेपर भी मेरी धारणा किसी सैद्धान्तिक विचारपर निर्भर न थी; किन्तु ब्याह-शादीकी रीतियां मुझे बहुत खटकती थीं। भक्तिके पड़ोसीमें एक अच्छे संस्कृतज्ञ विद्वान् थे, उनकी गोरी कन्या—नाम कोई....वल्ली पश्चिम वीथीके रहनेवाले एक स्थूलकाय श्यामल तरुणसे ब्याही थी। हमारी तरुण-मंडलीको यह ब्याह अनुचित जँचता था; लेकिन मेरे आश्चर्यकी तो सीमा नहीं रही, जब मालूम हुआ कि उक्त तरुणकी सगी बहिन ही उसकी सगी सास भी है। मामाकी कन्यासे भांजेका ब्याह पहिले सुन रखा था, किन्तु बहिनकी कन्यासे विवाह उस समय मेरेलिए कल्पनातीत बात थी। इसके बाद कितने ही मामा और बूआके दामादोंको देखकर मुझे यह सब साधारणसी बात मालूम होने लगी। नंगे सिर रहना, सौभाग्यका चिह्न होनेसे वहां स्त्रियोंके परदेका तो सवाल ही न था, किन्तु तरुण पति-पत्नियोंका पिता-माताके सामने घूमने निकलना उत्तर भारतीय आंखोंको विनयशून्यता मालूम होती थी—यद्यपि मैं उसका पूरी तरहसे अनुमोदन करता था। शामके वक्त तरुण पत्नी अपनी सर्पपुच्छाकार वेणीको फूलोंसे सजाती, साफ-अथवा रेशमी—भड़कीले रंगवाली साड़ीको लांग बांधकर पहनती, फिर सन्तान होनेपर उसका शृंगार करके, पतिके साथ बाग, वीथी, तालाबकेतटपर घूमने निकल जाती। हमारे उत्तर भारतकी बूढ़ी सासुएं इसे 'निर्लज्जताकी पराकाष्ठा' कहे बिना नहीं रहती। हां, एक बात मुझे जरूर खटकती थी—बुढ़ापेमें कुछ विश्राम पानेकी जगह वहां सासुओंको सबसे ज्यादा काम करना पड़ता था। दो पंच रहते

ही रात सासु उठती, घर-आंगन झाड़ती, पानीमें गोवर घोलकर अविरल धारसे सब जगह छिड़कती, फिर द्वारपर चूनेसे सुन्दर चौक पूरती—इस चौकके देखनेसे मालूम होता था, दक्षिणी स्त्रियाँ अपनी उत्तरी बहिनोंसे कला-सम्बन्धी सुरुचिमें काफी आगे बढ़ी हुई हैं। सूर्य उग आते, किन्तु अभी तरुण बधूकी खुमारी ही नहीं टूटती। बूढ़ी सास पानी गरमकर तैयार करती—शायद बहू तेल-साबुनके साथ नहाना चाहे, केश धोना चाहे या कमसे कम हाथ-मुंह ही धोना चाहे। बहूके बच्चोंको नहलाना-धुलाना आदि भी सासुका ही काम है। बरतन साफ़ करना, खाना पकाना, खिलाना, सासुसे वंचित बहूको ही करना पड़ता—और बस रहनेपर ऐसे घरमें बहुत काम मां-बाप अपनी कन्याको देना चाहते। शामको रसोई बनाना, बच्चोंको खिलाना-पिलाना तथा देख-भाल ही नही करना, बल्कि बहूके केशोंकी वेणी बनाना—रोज नई वेणी गूथनेका रवाज बुरा तो नही है—उसे फूलोंसे सजाना भी सासुका ही काम है। सबेरे चार बजेसे रातके दस-बारह बजे तक सासुको सांस लेनेकी फ़ुरसत कहां? चाहे पचास वर्षकी हो या सत्तरकी, सासुको इसी तरह रोज-रोज, महीने-महीने, बरस-बरस मशीनकी तरह काम करते हुए एक दिन आंखोंको सदाकेलिए मुद जानेपर ही छुट्टी मिलेगी। 'वृद्धाके साथ यह व्यवहार तरुण पुत्र और बधूमें हृदयकी कमी को बतलाता है'—उत्तराधियोंके इस आक्षेपका दक्षिणी उत्तर देते थे—'किन्तु हर सासुको तो पहिले बधूका जीवन बिताना पडता है, और उस वक्त इन सुभीतों-को वह पहिले भोग चुकी रहती है। साथ ही नब्बे फ़ीसदी बधुएं सासुकी अपरिचित नही, उसके भाई, बहिन, बेटीकी लडकियां होती हैं।'

तिरुमिशीमें मठके भीतर छोड़कर बाकी वक्त मुझे संस्कृतका ही व्यवहार करना पडता था। वहा एक ब्राह्मण दूकानदार थे, जिनके यहांसे तेल, दियासलाई या कोई चीज लानेकेलिए जानेपर अंग्रेजीका व्यवहार करना पड़ता। तिरुमिशीमें मैं चार महीने रहा था, किन्तु पढने-लिखने जैसे मानसिक श्रमका काम भी इतने मनोनुकूल ढंग, तथा स्निग्ध ससर्गके साथ चला, कि कभी मन ऊबने न पाया, और सचमुच ही 'दिवस जात नहिं लागहि बारा।' जरूरत न पडनेसे इस बार तमिल सीखनेका मुझे मौका नही मिला।

हरिप्रपन्न स्वामीके एक शिष्य देवराज तो बहुत सीधे-सादे आदमी थे। चौका-बासन, रसोई, मन्दिरके भीतरसे पानी भर लेना (घरके कूएंका पानी खारा था), और कुछ गाय-बैलोंके खिलाने-पिलानेमें ताकीद—बस इतने हीमें उनका समय चला जाता था; हरिनारायणजी नाममात्र पढे, किन्तु होशियार थे, तो भी मुझसे उनको ईर्ष्या न थी, हालांकि हरिप्रपन्नाचार्यका उत्तराधिकारी होनेमें अपने हकसे वंचित हो रहे थे। शायद इसका कारण मेरी मठकी सम्पत्ति और महन्तीमें निस्पृहता थी। मेरी चिट्ठी जब परसा पहुँची, तो जवाबके साथ गुरुजीने पचीस

रुपयेका मनीआर्डर भी भेज दिया, और लिखा कि जब जरूरत हो, रुपये मँगा लेना, और दक्षिणके तीर्थोंमें खूब घूमना।

मन्दिरके तीनों तरफ (पूरब तरफ तालाब और आगे बस्ती न थी) की वीथियोंमें सिर्फ ब्राह्मणोंके घर थे। उनकी दीवारें ईंटकी, छतें खपड़ैलकी थी, घर भीतरसे खूब साफ थे। हर द्वारकी भीतरी देहलीमें जंजीरोंपर लकड़ीके तख्तोंका एक झूला जरूर रहता, जिसपर आगन्तुक या कामसे फुरसत पाया घरका आदमी भी बैठता था। सवेरेके वक्त हर द्वारपर भिन्न-भिन्न ढंगके पुरे हुए चौक, तथा हरे गोबरसे धुली भूमिके कारण वीथी बहुत सुन्दर मालूम होती। मैं वहांके ब्राह्मणोंको जब अपने यहाके ब्राह्मणोसे मिलाता, तो सोचता यह बिना हाथ-पैर हिलाये घरोंमें बैठे रहते हैं, फिर इनका खर्च कैसे चलता है। दरअसल, ब्राह्मणका अपने हाथसे कुदाल चलाना, खुरपा इस्तेमाल करना भी वहांकेलिए अनहोनीसी बात थी। मुसलमानी शासनकी स्थापनासे पहिले शायद उत्तरीय भारतमें भी ब्राह्मणोंकी यही अवस्था रही हो, किन्तु वहां तो नये शासनने पुराने अग्रहारों, उनकी वृत्तियों और दानपत्रोंको हजार शपथों, और शूकर-गर्दभ-सन्तान होनेकी चित्रित गालियोंके होनेपर भी नाजायज करार दे दिया। शासनदंडके सामने किसकी चलती बनती है? इसी कारण उत्तरके ब्राह्मणोंने अन्तमें अपने शारीरिक परिश्रमपर निर्भर रहनेकी शिक्षा ग्रहण की। इसके विरुद्ध तमिल, केरल आदि प्रान्त सदा हिन्दू-शासनके अधीन रहे, कभी मुसलिम-शासकोंने वहां स्थायी विजय नहीं पाई, उन्होंने दिल्लीके फरमानको मान्य भी ठहराया, तब भी अपने स्थानीय राजाओंको दिल्लीके सामन्त या करद राजा रखते हुए ही इस प्रकार उनके अग्रहारों और देवालयोंकी बहुतसी चर-अचर सम्पत्ति उनके हाथसे जाने नहीं पाई। उन्होंने अपनी पुरानी शास्त्रीय संस्कृत शिक्षाके क्रमको भी जारी रखा, इस प्रकार वे निरक्षर नहीं बनने पाये, और साधारण जनतापर उनकी विद्याका रोब बना रहा। लेकिन साथ ही इस अविच्छिन्न शास्त्रीय, धार्मिक परम्पराके कारण ही दक्षिणके ब्राह्मणोंमें सबसे अधिक विचारोंकी संकीर्णता तथा सामाजिक विषमता भी अक्षुण्ण बनी रही।

तिरुमिसीमें दो देवस्थान थे, वैष्णव देवस्थानके अतिरिक्त गांवसे उत्तर एक शैव देवस्थान भी था। वैष्णव शिवकी मूर्तिको अचानक देख लेनेमें भी पाप समझते हैं, किन्तु एक दिन भक्तिके साथ चुपकेसे मैं उसे देखने गया। गरुड़की जगह नन्दी, विष्णुकी जगह शिव, गणेश आदिकी विशेषताके साथ बाकी वही बातें, कुछ छोटे रूपमें यहां भी थीं। वैष्णव मन्दिरके पास काफी जायदाद थी, जिसका वर्तमान प्रमुख "धर्मकर्ता" एक अब्राह्मण मुदलियार था। हर महीने एक-दो विशेष दिन पड़ते थे, जब कि मन्दिरमें विशेष पूजा होती, या किसी विशेष देवता या आचार्यकी मूर्ति बाजे-गाजेके जुलूसके साथ निकलती—प्रधान मन्दिरमें अचल शिलामूर्तियां-

के अतिरिक्त जुलूसमें जानेकेलिए एक धातुकी छोटी चल मूर्ति भी रहा करती है। नाना सुवर्ण-मणि-मुक्ताके आभूषणोंसे सजाकर मूर्तिको सोनेके मुलम्मेके चमचमाते प्रभामंडलयुक्त सिंहासनपर रखा जाता। चार या आठ आदमी—अब्राह्मण—सिंहासनको कन्धेपर उठाकर चलते। आगे-आगे बाजा—जिसमें दक्षिणकी प्रसिद्ध नफीरी (रोशनचौकी) भी शामिल रहती—बजता, उससे भी आगे अपने अँगोछेको धोतीके ऊपर कमरसे लपेटकर ऊर्ध्वकायको नंगे रखे ब्राह्मण लोग पहिले 'द्रविडप्रबन्ध' (सन्तवाणी) पीछे वेदमन्त्र सस्वर पढ़ते चलते। स्त्री-पुरुष सिंहासनके आगेसे शिर झुकाये नजदीक पहुँचते, सवारी जरा देरकेलिए ठहरती, पुजारी मूर्तिके सामने रखी घटीमें जटित चरण-पादुकाको विनम्र नंगे सिर पर रख देता।

लेकिन तिरुमिशीके अब्राह्मण टोलेकी ओर जानेपर वह सफाई, वह सुरुचि, और वह संस्कृति नही दीख पड़ती। वहा निरक्षरता और गरीबीका अखंड राज्य दिखलाई पड़ता, कुछ खाते-पीते किसान घरोंको छोड़कर। हमारे ब्राह्मण साथी बहुत कम उधर जाना चाहते, और उन्हें यह सुनकर तअज्जुब होता, कि उत्तरके ब्राह्मण इन शूद्रों—वहां ब्राह्मणसे अन्य सभी जातियां शूद्र समझी जाती हैं—के हाथसे पानी ही नहीं अन्नकी मिठाई तक खा लेते हैं।

पहिले-पहिल जब रातको कहा गया—'चलो, गोष्ठीमें, पुगलप्रसाद ग्रहण करने,' तो गोष्ठीसे तो मैंने अन्दाज लगा लिया—कई आदमियोंका एक जगह एकत्रित होना, किन्तु पुगल सुनकर मुझे खयाल आया, कोई महार्घ पक्वान्न होगा। दो प्रधान मन्दिरोंके सम्मिलित सभामंडपमें—जिसमें खिड़की-झरोखा न रहनेके कारण दिनमें भी अँधेरा रहता था, रातके टिमटिमाते तेलके चिरागकी वहां कौन सुनता, पत्थरके फ़र्शपर लोग—सिर्फ़ ब्राह्मणही—बैठे हुए थे। मधुर स्वरमें कोई मुरली बजा रहा था। पुजारी पीतलके बरतनोंसे निकाल-निकालकर हाथमें चार-पांच आंवलेके बराबर कोई चीज डालता जा रहा था। पहिले 'कुलीन' होनेसे दक्षिणी ब्राह्मणोंके हाथमें प्रसाद दिया गया, फिर हम उत्तरार्धी 'नीच' ब्राह्मणोंकी बारी आई। अब्राह्मण मंडपके दवारजेसे बाहर आसमानके नीचे अकेले टकटकी लगाये खड़े थे। मेरे हाथमें भी 'पुगल' पड़ा। बड़े उत्साहके साथ मुंहमें डाला, देखा तो खिचड़ी—हाँ, वही खिचड़ी— जिस खिचड़ीके खानेकी बात कहनेपर यागेशको कितनी ही बार बात सुननी पड़ती थी। मैंने धीरेसे हरिनारायणाचारीकी ओर घूमकर कहा—'खिचड़ी! यही पुंगल!!' वहांसे लौटते वक्त हरिनारायणजीने एक घटना सुनाई—"बलिया जिलेके गये बने दो आचारी बाप-बेटे तीरथ करने दक्षिणापथ आये। इसी तरह गोष्ठीमें वह भी बड़े उत्साहके साथ पुंगलप्रसादके-

लिए बैंठे। आपकी तरह हाथके पुंगलको मुंहमें डाला, तो लड़का चिल्ला उठा–'अरे खिचड़ी है, हे बाबूजी, समुरने, पुंगल कहके जाति ले ली।'"

खैर, मुझे जातिकी परवाह नहीं थी, और यागेश जैसे खिचड़ी-प्रेमीको तो काफी घी डालकर बनी उड़द-चावलकी खिचड़ी बहुत अच्छी भी लगती। मीठा पुंगल, और मीठा 'दोसै' (चावल-मूगका मोटा चीला) तो मुझे भी अच्छा लगता, किन्तु वह कभी ही कभी बँटता था। और खीरके नामसे रोआं गिर जाता। स्वामी हरिप्रपन्नका कहना था, पावभर दूधमें एक दक्षिणी मनभर खीर तैयार कर सकता है।

तिरुमिशीमें रहते पुन्नमले, पच्चपेरुमाल, पेम्बुदुरके उत्सवोंमें मैं शामिल हो आया था। जिस दिन पहिले-पहिल हरिप्रपन्न स्वामी अपनी बंडी (बैलगाड़ी) पुन्नमले चलनेकेलिए जुतवा रहे थे, तो मैंने कहा–"रहने दीजिये, पैदल ही चले चलेंगे।" 'इससे जल्दी पहुँचेंगे'–सुनकर मुझे विश्वास नही हुआ। हरिणकी तरह पीछेकी ओर खिची सींगोंवाले मुट्ठीभरके उनके बैलको देखकर तो और भी आशा नहीं हो सकती थी। लेकिन दंग रह गया, जब मैंने उसे साधारण एक्केके घोड़ेकी चालसे दौड़कर चलते देखा। बंडी ऊपरसे दाहिनेसे बायें मेहराबमें छाई हुई थी। शायद पहियोंपर स्प्रिंग नही था।

अगहनका महीना था, जब कि एक दिन हरिनाराणाचारीने तिरुपतीके पास तिम्मानूरके महोत्सवका जिक्र चलाया। बालाजी, तिरुपतीका नाम मैं परसासे बहुत सुन चुका था, सोचा चलें, उसे भी देख आवें।

१२

दक्षिणका तीर्थाटन

चौरस्तेपर दो रास्ते नजदीक क्या एक-दूसरेसे मिश्रित रहते हैं, किन्तु वही आगे चलकर सैकड़ों,-हजारों मील दूर पड़ जाते हैं। इसी तरह आदमी चौरस्तेपर जरासा पथान्तर करनेपर आगे कहीका कहीं चला जाता है। तिरुमिशीसे चलते वक्त हरिप्रपन्न स्वामीने तिरुपतीके एक आचारी स्थानका पता दे दिया था, और शायद परिचयपत्र भी। रेलमें अकेले बैठनेपर मैं सोचने लगा, आचारीके स्थानमें चलूं, या तिरुपतीके बैरागी महन्तराज–कई लाखकी तहसील रखनेवाले वे वस्तुतः राजा महन्त है–के स्थानपर। यहांकी पंगत (पंक्ति) में बैठ लेना बैरागीकेलिए बड़े गर्वकी चीज है। परसाके सम्बन्धको मैंने दिलसे तोड़ा नहीं था, क्योंकि अभी मैं निश्चय नहीं कर सका था, कि अपना कार्यक्षेत्र उत्तरीय भारत रखूं या दक्षिणीय। अन्तिम निर्णय आगेकेलिए छोड़कर मैंने सोचा, तिरुपतीमें बैरागी स्थान हीमें चलना अच्छा होगा।

वेष-भूषासे मैं बहुत सम्भ्रान्त तरुण दीख पड़ता था, पढ़ा-लिखा भी था, इस-लिए मुझे महन्तजीके झाड़फ़ानूससे सजाये हालकी बगलमें एक अच्छी कोठरीमें ठहराया गया। मेरे पासकी कोठरीमें छपरा जिलेके एक तरुण साधु थे, जो लघु-कौमुदी पढ़ रहे थे। हालमें खुलनेवाले पूरबके कमरेमें मुरसंड (मुजफ्फरपुर) लवाहीपट्टीके परमहंसके शिष्य एक पंडित साधु रहते थे। इन दोनों व्यक्तियोंसे परिचय हुआ। सबेरेका जलपान तो कर लिया। दोपहरके भोजनका समय आया। पघतका घंटा या नगारा बजा। औरोंके साथ मैं भी मन्दिरके सभामंडपमें जाकर बैठा। थोड़ी देरमें एक रसोइया आया, और उसने नम्र स्वरमें कहकर मुझे ले जा आगनमें बैठे साधुओंकी पंक्तिमें बैठा दिया। मैंने साधारण बुद्धिसे समझ लिया, कि दोनो जगहोंमें ऊँच-नीचका कोई भेद है, और यह खयाल आते ही लोटा लिये मैं उठकर अपनी कोठरी हीमें चला नहीं आया, बल्कि बाजारसे कुछ सेब-अगूर तथा मिठाई लाकर खानेकी तैयारी करने लगा। इसी बीच यह घटना मठके प्रमुख व्यक्तियोंको मालूम हुई। आदमी दौड़े-दौड़े मेरे पास आये–"चलिये, आप उठ क्यों आये?"

"आप मुझसे धाम-क्षेत्र, पंचसस्कार जो भी वैरागका करम-धरम है, पूछते; न बतलाता तो जहां चाहते वहां बैठाते, किन्तु आपने एकदमसे ले जाकर मुझे कँगालोंमें बैठा दिया।"

"नही, कँगालोंमें नहीं बैठाया था। ऊपरकी पघतमें ऊपर (बालाजी) जो बैठ आता, उसे यहां भी बैठाया जाता है। अभी आप ऊपरसे नहीं हो आये है, इसी वास्ते रसोइयाने ऐसा किया।"

"तो अब तो मैं खानेकी चीज ले आ चुका।"

"नही, गलती माफ़ कीजिये। रसोइये अनपढ़ उजड्ड होते हैं, आप जानते ही है। चलिये आप जहां चाहे वहां बैठें।"

खैर मैंने जाकर सभामंडपवाली पंक्तिमें बैठकर भोजन किया।

तिरुपती अच्छा खासा शहर है। यहां आनेपर मालूम हुआ, यह स्थान तमिल (द्रविड़) देशमें नहीं आन्ध्रमें है। मठ (धर्मस्थान) के बारेमें कहा जाना था, पहिले यह सारी सम्पत्ति–गांव आदि–किसी राजाकी थी। हाथीराम बाबा कोई वैरागी उत्तर भारतसे आये, उनके सिद्धिबलसे राजा इतना प्रभावित हुआ, कि उसने अपना सर्वस्व उन्हें दे दिया। मठमें गांवोंकी आमदनी बारह-तेरह लाखकी बतलाई जाती है। इसके अतिरिक्त ऊपर पहाड़पर वेंकटेश (बालाजी), तथा नीचेके कई मन्दिरोंके चढ़ावेकी भी बहुत भारी आमदनी है। मन्दिरोंकी आमदनी-पर उस वक्त भी महन्तका एकाधिकार नहीं था। पिछले कई महन्तोंके जहर या गोलीके शिकार होनेकी बात मैं सुन चुका था, इसलिए वर्तमान महन्त प्रयागदासका

बहुत सजग रहना स्वाभाविक था। ह्याथीराम बाबाके समयसे ही यहांके महन्त उत्तर भारतीय होते आ रहे हैं, महन्त प्रयागदासका जन्म राजपूतानेका है। महन्तोंकेलिए बहुत पढ़ने-लिखनेकी क्या जरूरत, जब वैरागियोंके यहां कहावत मशहूर है—"पढ़ै लिखै बम्भनका काम। भज वैरागी सीताराम।" महन्त प्रयागदासके पास एकाध ही बार मैं गया, खाली स्थानपतिको अपना सम्मान प्रदर्शित करनेकेलिए, अन्यथा किसीकी मुसाहिबी करनी मेरे स्वभावसे बिलकुल उल्टी बात थी।

यहां रहते हुए मैंने फिर सोचा और अन्तमें इसी निर्णयपर पहुँचा, कि उत्तराखंडको छोड़कर दक्षिणापथको मैं अपना कार्यक्षेत्र नहीं बना सकता, और तब कितना ही प्रिय होनेपर भी तिरुमिशी लौटकर जाना उचित नहीं। मैंने परसा तार दिया और तारसे ही रुपये चले आये। रुपये लेते वक्त महन्तजीका हस्ताक्षर जरूरी था, इसलिए उस वक्त दो-एक बात बोलनेकी जरूरत पड़ी। तिम्नानूर या चिन्नानूर तिरुपतीसे थोड़ी दूरपर एक गाव है, जहा लक्ष्मीका एक पुराना मन्दिर है। उत्सवमें बड़ी भीड़ थी, यहां आन्ध्र, द्रविड़ स्त्री-पुरुषोंके अतिरिक्त सैकड़ों वैरागियों और आचारियोंके रूपमें कितने ही उत्तर भारतीय भी थे।

वेंकटाचलम् या बालाजीका पर्वत तिरुपतीसे आठ-दस मील दूर पहाड़पर है। पहाड़की जड़में सीढ़ियां बनी हैं, जिनमें पहिले तो दाता लोग अपना नाम खुदवाकर अमर फल पाने की कोशिश करते थे, और अब विज्ञापनबाजीके युगमें बहुतसी व्यापार कम्पनियां अचिर फलके लिए सीढ़ियोंपर अपना नाम खुदवा रही हैं। पहाड़की पैदल चढ़ाईमें जितना चक्करदार बिना सीढ़ीका रास्ता अच्छा होता है, उतनी सीढ़ियां नहीं। सीढ़ियोंपर आदमी जल्दी थक जाता है, तो भी सीढ़ी बनानेका रवाज बहुत पुराना मालूम होता है। सीढ़ियोंको पार करनेके बाद रास्ता साधारण चढ़ाई-उतराईका शुरू हो जाता है। रास्तेके दोनों तरफ काफी जंगल है।

बालाजीकी बस्ती अधिक यात्रियों और उनकी सहायतामें व्यापृत लोगोंकी है। तिरुपतीके वैरागी संस्थानका मूल मठ यहीं है, जो पहिलेका राजप्रासाद बतलाया जाता है। मुझे पहिले मठमें जाकर आसन लगाना था। मठके बाहरी भागमें पहाड़ीकी जड़में पांतीसे बहुतसी कोठरियां थीं, जिनमेंसे एकमें दूसरे दो साधुओंके साथ मुझे भी स्थान मिला। संयोगसे मेरी बगलमें एक मस्त मौला साधु मिल गये, जो कई सालोंसे यहीं रहा करते थे। बोलने-चालने, गाने-बजाने, देश-परदेशकी बातोंका जितना उनका ज्ञान था, उसके रहते वह मठके प्रभावशाली व्यक्तियोंमें हो जाते, किन्तु उनको इससे मतलब नहीं था। बहुत दिनों तक भारतके भिन्न-भिन्न भागोंकी भी उन्होंने सैर की थी। आज यहां एक जगह रहनेपर वह रोज दो-चार कोस दूर जंगलोंमें चले जाते थे। अंचला, कमंडलुके अतिरिक्त एक खन्ती, झोलीमें गांजेकी चिलम, साफी तथा दियासलाई उनके पास होती। मौज आती

तो बड़े स्वरके साथ गाते—"चार युगोंमें नाम तुम्हारा कृष्णकन्हैया तुम्हीं तो हो।" वह मुरादाबाद जैसे किसी शहरके रहनेवाले थे। भाषा उनकी स्वभावतः परिष्कृत थी। सैलानी तबियतके साथ इस विशेषताने मुझसे उनकी घनिष्टता पैदा कर दी। शामको हम दोनों दूर चले जाते। यहां तक चिलम-माफ़ीसे बचा आया था, किन्तु अब मैं न बच सका। दरअसल वैसा करनेमें हमारे साथका आधा मजा ही किर-किरा हो जाता। कभी-कभी हम लोग दो-दो, तीन-तीन घंटा रात बीतनेपर स्थानमें लौटते। लोग कहा करते थे, इन जंगलोंमें बाघ रहता है, और एकाध बार बस्तीके पासकी मठकी गौशालासे गायको पकड़ भी ले गया, तो भी चिरनिवासी साथीको जब इसकी परवाह नहीं थी, तो मुझे क्या होती। शामको चार बजे हम इस दैनिक सैरपर निकलते। दिनमें एक और अड्डा बन गया था। बालाजीके मन्दिरके खुलते वक्त और जब तक खुला रहे, तब तकके लिए वहां वैरागीमठके एक व्यक्तिका रहना जरूरी था। वह व्यक्ति एक उत्तर भारतीय पचास बरसके साधु थे। गलेमें सोनेकी साकल, कानमें साकलदार मणिजटित कुंडल, तथा बदनपर जरीकी कीमती खिलअत पहिने वह द्वारकी दाहिनी तरफ़ आकर खड़े होते, जब कि दरवाजा खुलता। उनका अपना स्थान और बगीचा था, उन्होंने उसे काफ़ी आरामदेह और सजाकर रखा था। 'कृष्णकन्हैया' बाबाके साथ मैं एक दिन वहां गया। हाथीराम बाबा भी राजासे चौपड़ खेलते थे, इसीलिए शायद, यहां भी चौपड़ खेली जाती थी। मैं भी शामिल हो गया। खेलके बाद वहीं खानेका आग्रह। इतने दिनोंमें रहते भी उन्हें भात खानेकी आदत नहीं थी। दोपहरको मुझे अक्सर वहीं खाना खाना पड़ता, और सदा पूड़ी ही बना करती। मालूम नहीं बालाजीमें दस दिन रहा या पन्द्रह दिन, उनमेंसे अधिकांश दिनों दोपहरका भोजन मेरा यहीं होता रहा।

दूसरे मठोंकी भांति बालाजीके "अधिकारी" का भी महन्तके नीचे मठके प्रबन्धमें काफी अधिकार था। अधिकारीजी ज्यादा यहां ही रहा करते थे। उनके दोनों पैर बेकार थे। 'कृष्णकन्हैया' बाबाको जब कभी भी गांजेकी कमी होती, तो वह अधिकारीजीके पास चले जाते। अधिकारीजी उनको मानते थे। अधिकारी वस्तुतः महन्तकी अपेक्षा साधुओंमें अधिक जनप्रिय थे। बालाजीके मध्यम-श्रेणीके साधु कर्मचारियोंके पास जब चालीस-पचास हजार रुपये जमा हो जाने आसान थे, तो अधिकारीके बारेमें क्या कहना ?

बालाजीमें सबसे मनोरम प्राकृतिक दृश्यकी जगह मुझे एक हनूमानजीका स्थान मालूम हुआ। वहां बारहों महीने "जनु बसन्त ऋतु रह्यो लुभाई।" खूब दरख्त, चारों ओर हरियाली, पानीसे भरा जलाशय, और आसपास वनाच्छादित पहाड़ियां थीं।

बालाजीका निवास भी अच्छा रहा, और छोड़ते वक्त, चित्तको उदासी मालूम

हुई। किन्तु आखिर हर जगह एक-एक बरस देनेके लिए हजार-हजार बरसकी उमर भी तो चाहिए। हजार बरसकी आयु होनेपर भी कौन जानता है, यह एक साल भी आदमीकी नजरमें दस-पन्द्रह दिनका नहीं लगने लगेगा।

बालाजीसे फिर तिरुपती और वहांसे आगेकी यात्रा आरम्भ हुई। अब मैं पहिलेकी भांति तहीदस्त मुहताज नहीं था। पांच रुपये जब हाथमें रहते तभी परमा तार देता, और तीसरे दिन पचीस रुपयों का मनीआर्डर पहुँच जाता, तो भी जो रुपयेके बल पर सैर करना चाहता है, वह सैरका मजा नहीं उठा सकता—आखिर मिर्चोंकी कड़वाहट ही स्वाद है। अबके रेनगुंटासे जब हम स्वामिकार्तिककी ओर गये, तो हमारे साथ चार-पांच और बैरागी थे। आचारियोंकी हदसे ज्यादा छूआ छूत, और 'मैं बड़ा—तू छोटा' की नीति ने भी मुझे तिरुपतीमें आचारी रहनेमें न जाने दिया। एक लोटा या कमडलु लेकर कमसे कम सामानके साथ घूमनेकी इच्छावाला आदमी भला आचारी-खटरागको कैसे माथेपर ढो सकता है? बैरागी इस विषयमें कुछ स्वतंत्रता रखते थे, यद्यपि उतनी नहीं जितने कि संन्यासी। हम चार-पांच बैरागी थे, किन्तु एक-दूसरेके हाथकी रोटी खानेसे पहिले हमें अपनी जातिका प्रमाणपत्र मँगवाना जरूरी नहीं था। स्थान, नाम, द्वारा-अखाड़ाका उत्तर जहां ठीक आया, कि समझ गये—टकसाली साधु हैं, नकली नहीं है।

स्वामिकार्तिक मन्दिर पहाड़पर रेनगुटासे कुछ दूर शायद दूसरे स्टेशनपर था। किस तरहकी मूर्ति, कैसा मन्दिर था यह याद नहीं। शायद पासके छत्रमें सदावर्त थी, जहां हमने भोजन बनाकर खाना खाया था।

चिंगलपटसे हम पक्षीतीर्थ गये। उत्तर भारतीय साधुओंने दक्षिणके अधिकांश नामोंको दूसरे ही नामोंसे प्रसिद्ध कर दिया है, इसलिए कह नहीं सकते पक्षीतीर्थ का तमिल नाम क्या है? वहां एक प्राकारवेष्टित विशाल मन्दिर है, किन्तु बैरागियोंका पक्षीतीर्थ उसके पासवाली पहाड़ीपर है। रोज दस बजे पुजारी लोग कुछ भोजन बनाकर उस पहाड़ीके पार्श्वपर ले जाते हैं, फिर दो बड़े-बड़े पक्षी मंडराते उतर आते हैं, जिन्हें पुजारी भोजन कराते हैं। कहते हैं, यह पक्षी साधारण पक्षी न हो भगवान् विष्णुके वाहन साक्षात् गरुड़जी और उनकी धर्मपत्नी हैं। मुझे तो वह चमरगिद्ध (सफेद शरीर, काली पाँखवाले छोटे गिद्ध) मालूम हुए। वहां कितने ही श्रद्धालु गरुड़ महाराजको साष्टांग दंडवत् करते थे। नीचेके बड़े मन्दिरके बारेमें यही याद है, कि उसकी किसी शालामें चमगादड़ियोंकी भरमार थी, और बदबूके मारे नाक फटी जाती थी।

काञ्चीपुर (कंजीवरम्) के शिवकांची, विष्णुकांची नगरार्धोंके मंदिरोंमें भी गया, किन्तु उस वक्तकी कोई बात याद नहीं। श्रीरंग और मदुरा होते रामेश्वरम् चला। रामेश्वरका रेलवेपुल अभी नहीं बना था। आगे धनुष एक स्टीमरसे

उस पार गया। खाक चौकमें डेरा गिरा। 'वैरागियों' के स्थान अधिकतर उन्हीं जगहोंमें हैं, जहां तुलसीकृत रामायण चलता है—यदि बंगालके गौडिया साधुओंको वैरागीमें न गिना जाये। गुजरातमें वैरागी स्थान बहुत हैं, और महाराष्ट्रमें भी कितने ही हैं, किन्तु उनमें रहनेवाले साधु प्रायः हिन्दी-भाषा-भाषी हैं। मद्रासकी तरफ वैरागियोंके स्थान कम हैं, जिसके कारण उन्हें कष्ट होता है। वस्तुतः स्थान क्या हैं, घूमती-फिरती पल्टनकी स्थायी छावनियां हैं, जहां पहुँचते ही साधु घर-सा अनुभव करने लगते हैं। यदि स्थानीय साधुके पास खाने-पीनेका सामान है, तो वह हाजिर है; यदि नहीं है, तो वह एक लोटा पानी लेकर खड़ा हो सकता है, अभ्यागत उसकेलिए बुरा नहीं मानेगा। उसके पास अपना जो कुछ रहेगा उससे रसोई बनावेगा और स्थानीय साधुको भी खिलावेगा। दक्षिणमें वैरागी साधुओंके अभाव होते भी वहां छत्रम् और सदावर्त काफी हैं, जिससे यात्रा असह्य होने नहीं पाती। रामेश्वरम्‌में एक या दो ही वैरागी साधुओंके छोटे-छोटे स्थान हैं,—खाक चौक और रामझरोखा। खाक चौक बस्तीमें होनेसे अधिकांश साधु वहीं जाते हैं। एक, दो दिन तक साधु-सेवा भी होती है, शायद दायक अधिकतर उत्तर-भारतीय यात्री होते हैं। रामझरोखा बस्तीसे बाहर एक जगह है। उस वक्त एक चलते-पुर्जे साधु वहां रहते थे। वह दो-चार अभ्यागत साधुओंको बुला लाते, यात्रियोंसे—'हमारे स्थानमें बच्चा, इतनी मूर्त्तियां हैं, कुछ रागभोगका इन्तजाम करो' कहकर सामान लाते। शामको साधुओंको एक-एक मुट्ठी चना देकर टरका देते। दूसरे दिन फिर रामेश्वरसे दूसरी मूर्त्तियां फँसा लाते।—यही उनका काम था।

रामेश्वरके मन्दिरकी विशाल शालायें, छतसे ढँकी परिक्रमाओंको देखनेसे मालूम होता था, कि मन्दिरोंके बनानेमें उत्तर-भारत दक्षिण-भारतसे कितना पिछड़ा हुआ है—यदि हम मुसलमानोंके शासनकालमें टूटे मन्दिरोंकी गिनती न करें। रामेश्वरके प्रधान गर्भमन्दिरके सामने कोई मंडप बन रहा था। भीतर शिवलिंगपर लोग जल चढ़ा रहे थे, कितने ही काशी, हरिद्वार और गंगोत्रीका गंगाजल ढाल रहे थे।

रामेश्वरसे कुछ साधुओंके साथ मैं धनुष्कोडीकेलिए निकला। स्टेशनके रास्तेमें एक दो आदमियोंके साथ एक तरुण ब्रह्मचारी दयाशंकर—नाममें भूल हो सकती है (वह उनके हाथपर खुदा हुआ था)—मिले। उनके बदनपर एक लम्बी अल्फी, शिरपर एक छोटासा अँगोछा, हाथमें पीतलके कमंडलुमें शंख थी। मझोला कद, छरहरा बदन, गोरा रंग, आयु २६, २७ की होगी। शहरी हिन्दी बड़ी बेत-कल्लुफीसे बोल रहे थे। मालूम हुआ उनका जन्मस्थान मथुरा है। वह भी धनुष-कोडी जा रहे थे। हम लोग रामेश्वरके टापूके दूर तक फैले बालू, कांटेदार बबूलों और ताड़ोंको देखते रेलसे रवाना हुए। स्टेशनसे उतरकर कुछ दूरपर ताड़के

हुई। किन्तु आखिर हर जगह एक-एक बरस देनेके लिए हजार-हजार बरसकी उमर भी तो चाहिए। हजार बरसकी आयु होनेपर भी कौन जानता है, वह एक साल भी आदमीकी नजरमें दस-पन्द्रह दिनका नही लगने लगेगा।

बालाजीसे फिर तिरुपती और वहांसे आगेकी यात्रा आरम्भ हुई। अब मैं पहिलेकी भांति तहीदस्त मुहताज नहीं था। पांच रुपये जब हाथमें रहते तभी परसा तार देता, और तीसरे दिन पचीस रुपयों का मनीआर्डर पहुँच जाता, तो भी जो रुपयेके बल पर सैर करना चाहता है, यह सैरका मजा नही उठा सकता—आखिर मिर्चोंकी कड़वाहट ही स्वाद है। अबके रेनगुंटासे जब हम स्वामिकार्तिककी ओर गये, तो हमारे साथ चार-पांच और बैरागी थे। आचारियोंकी हदसे ज्यादा छुआ छूत, और 'मै बड़ा—तू छोटा' की नीति ने भी मुझे तिरुपतीमें आचारी मठोंमें न जाने दिया। एक लोटा या कमंडलु लेकर कमसे कम सामानके साथ घूमनेकी इच्छावाला आदमी भला आचारी-खटरागको कैसे माथेपर ढो सकता है? बैरागी इस विषयमें कुछ स्वतंत्रता रखते थे, यद्यपि उतनी नही जितने कि संन्यासी। हम चार-पांच बैरागी थे, किन्तु एक-दूसरेके हाथकी रोटी खानेसे पहिले हमें अपनी जातिका प्रमाणपत्र मँगवाना जरूरी नही था। स्थान, नाम, द्वारा-अखाड़ाका उत्तर जहा ठीक आया, कि समझ गये—टकसाली साधु है, नकली नहीं है।

स्वामिकार्तिक मन्दिर पहाड़पर रेनगुंटासे कुछ दूर शायद दूसरे स्टेशनपर था। किस तरहकी मूर्त्ति, कैसा मन्दिर था यह याद नही। शायद पासके छत्रमें सदावर्त थी, जहां हमने भोजन बनाकर खाना खाया था।

चिंगलपटसे हम पक्षीतीर्थ गये। उत्तर भारतीय साधुओंने दक्षिणके अधिकांश नामोंको दूसरे ही नामोंसे प्रसिद्ध कर दिया है, इसलिए कह नही सकते पक्षीतीर्थ का तमिल नाम क्या है? वहा एक प्राकारवेष्ठित विशाल मन्दिर है, किन्तु बैरागियोंका पक्षीतीर्थ उसके पासवाली पहाड़ीपर है। रोज दस बजे पुजारी लोग कुछ भोजन बनाकर उस पहाड़ीके पार्श्वपर ले जाते हैं, फिर दो बड़े-बड़े पक्षी मंडराते उतर आते हैं, जिन्हें पुजारी भोजन कराते हैं। कहते हैं, यह पक्षी साधारण पक्षी न हो भगवान् विष्णुके वाहन साक्षात् गरुड़जी और उनकी धर्मपत्नी हैं। मुझे तो यह चमरगिद्ध (सफेद शरीर, काली पोंछवाले छोटे गिद्ध) मालूम हुए। यहां कितने ही श्रद्धालु गरुड़ महाराजको साष्टांग दंडवत् करते थे। नीचेके बड़े मन्दिरके बारेमें यही याद है, कि उसकी किसी शालामें चमगादड़ियोंकी भरमार थी, और बदबूके मारे नाक फटी जाती थी।

कांचीपुर (कंजीवरम्) में शिवकांची, विष्णुकांची नगरार्द्धोंके मंदिरोंमें भी गया, किन्तु उस बसकी कोई बात याद नही। श्रीरंग और मदुरा होते रामेश्वरम् चला। रामेश्वरका रेलवेपुल अभी नहीं बना था। जाते वक्त एक स्टीमरसे

उस पार गया। खाक चौकमें डेरा गिरा। 'वैरागियो' के स्थान अधिकतर उन्हीं जगहोंमें हैं, जहां तुलसीकृत रामायण चलता है—यदि बंगालके गौडिया साधुओको वैरागीमें न गिना जाये। गुजरातमें वैरागी स्थान बहुत हे, और महाराष्ट्रमें भी कितने ही है, किन्तु उनमें रहनेवाले साधु प्रायः हिन्दी-भाषा-भाषी हैं। मद्रासकी तरफ वैरागियोके स्थान कम हैं, जिसके कारण उन्हें कष्ट होता है। वस्तुतः स्थान क्या हैं, घूमती-फिरती पलटनकी स्थायी छावनियां हैं, जहा पहुँचते ही साधु घर-सा अनुभव करने लगते हैं। यदि स्थानीय साधुके पास खाने-पीनेका सामान है, तो वह हाजिर है; यदि नही है, तो वह एक लोटा पानी लेकर खडा हो सकता है, अभ्यागत उसकेलिए बुरा नही मानेगा। उसके पास अपना जो कुछ रहेगा उससे रसोई बनावेगा और स्थानीय साधुको भी खिलावेगा। दक्षिणमे वैरागी साधुओके अभाव होते भी वहा छत्रम् और सदावर्त काफी हैं, जिससे यात्रा असह्य होने नही पाती। रामेश्वरम्में एक या दो ही वैरागी साधुओके छोटे-छोटे स्थान हैं,—खाक चौक और रामझरोखा। खाक चौक बस्तीमें होनेसे अधिकाश साधु यहीं जाते है। एक, दो दिन तक साधु-सेवा भी होती है, शायद दायक अधिकतर उत्तर-भारतीय यात्री होते हैं। रामझरोखा बस्तीसे बाहर एक जगह है। उस वक्त एक चलते-पुर्जे साधु यहा रहते थे। वह दो-चार अभ्यागत साधुओंको बुला लाते, यात्रियोंसे—'हमारे स्थानमें बच्चा, इतनी मूर्त्तिया हैं, कुछ रागभोगका इन्तजाम करो' कहकर सामान लाते। शामको साधुओको एक-एक मुट्ठी चना देकर टरका देते। दूसरे दिन फिर रामेश्वरसे दूसरी मूर्त्तिया फँसा लाते।—यही उनका काम था।

रामेश्वरके मन्दिरकी विशाल शालायें, छतसे ढँकी परिक्रमाओको देखनेसे मालूम होता था, कि मन्दिरोके बनानेमें उत्तर-भारत दक्षिण-भारतसे कितना पिछड़ा हुआ है—यदि हम मुसलमानोके शासनकालमे टूटे मन्दिरोंकी गिनती न करें। रामेश्वरके प्रधान गर्भमन्दिरके सामने कोई मडप बन रहा था। भीतर शिवलिंगपर लोग जल चढ़ा रहे थे, कितने ही काशी, हरिद्वार और गगोत्रीका गंगाजल ढाल रहे थे।

रामेश्वरसे कुछ साधुओंके साथ मैं धनुषकोडीकेलिए निकला। स्टेशनके रास्तेमें एक दो आदमियोंके साथ एक तरुण ब्रह्मचारी दयाशंकर—नाममें भूल हो सकती है (वह उनके हाथपर खुदा हुआ था)—मिले। उनके बदनपर एक लम्बी अल्फी, शिरपर एक छोटासा अँगोछा, हाथमें पीतलके कमंडलुमें शंख थी। मझोला कद, छरहरा बदन, गोरा रंग, आयु २६, २७ की होगी। शहरी हिन्दी बड़ी बेतकल्लुफीसे बोल रहे थे। मालूम हुआ उनका जन्मस्थान मथुरा है। वह भी धनुषकोडी जा रहे थे। हम लोग रामेश्वरके टापूके दूर तक फैले बालू, कांटेदार बबूलों और ताड़ोंको देखते रेलमे रवाना हुए। स्टेशनसे उतरकर कुछ दूरपर ताड़के

पत्तोंसे छाई एक वैरागी-कुटिया थी। अभी हाल हीमें बनी थी, इसलिए बड़ी बेसरोसामानी थी। उन्हें मीठा पानी दूरसे लाना पड़ता था। खैर, उस तपती भूमिमें ताड़-पत्तोंकी छाया मामूली चीज न थी। कुटीसे थोड़ी दूरपर दो दिशाओं—दक्षिण और पश्चिमको दिखलाकर बतलाया गया—यही 'रत्नाकर' और 'महोदधि' का संगम है। दोपहर और शामको भी समुद्रस्नान हुआ, और रातको वहीं विश्राम।

लौटते वक्त ब्रह्मचारी दयाशंकरसे विशेष बात हुई। वे कुछ महीनोंसे दक्षिण-में आये हैं। आजकल पामनमें रह रहे हैं। वैद्यका काम करते हैं, जिससे निर्द्वन्द्व विचरनेकेलिए उनको बहुत सुभीता है। उनके साथ एक काला-सा आदमी था, ब्रह्मचारीका गाजा-चिलम-दियासलाईका खजांची वही था। 'वैराग्य' में आकर पुलिसकी नौकरी छोड़ उसने ब्रह्मचारीका साथ पकड़ा था। मैं भी उर्दू बोल सकता था मुझे भी कितने ही शेर याद थे। अन्तमें ब्रह्मचारीने मुझसे पामन चलकर कुछ दिन रहनेकेलिए कहा। ऐसे निमन्त्रण यदि हर सौ मीलपर मिला करें, तो मैं दो-दो हफ्ता बितानेके लिए तैयार था।

पामन रामेश्वर-द्वीपकी अन्तिम बस्ती है। उसके बाद कुछ मीलोंकी उथली-सी खाड़ी और फिर जम्बूद्वीप (भारत) का स्थल-भाग आ जाता है। पामनके ज्यादातर रहनेवाले मुसल्मान थे—ब्रह्मचारी भी एक मुसल्मान हीके मकानमें रहते थे। ये लोग हिन्दुस्तानी बोलते थे, इसलिए तमिलसे अनभिज्ञ ब्रह्मचारीको सुभीता था। घर अधिकतर फूस और बांसके थे। ब्रह्मचारीके पास पैसोंकी कमी न थी। रोज दस, पन्द्रह, बीस रुपये आ जाते। पांच-सात रुपये रोज तो उनके गांजेमें उड़ जाते। उनके पास सिर्फ दो दवाइयां थीं, एक जमालगोटेका जुलाब, और दूसरी संखियाकी भस्म। शिरदर्द-पेटदर्द जैसी मामूली बीमारियोंसे लेकर कुष्ट, पांडु, यक्ष्मा जैसे महारोगोंपर भी वह अनुपान बदलकर इन्हीं दवाओंको देते थे। मुफ्त दवा शायद ही किसीको देते हों। दवा देनेसे पहिले भेंटकी शर्ते तै कर लेते। दो तिहाई या कमसे कम आधी रकम पहिले ले लेते, और बाकीकेलिए यह देते—इतने दिनों बाद रोगीको रोग-मुक्तिस्नान करा देंगे, और उसी दिन बाकी रुपया दे देना होगा। कितने ही बीमारोंको उनकी दवासे बहुत चमत्कारिक लाभ हुआ था, इसलिए लोग खुशी-खुशी रुपया देकर दवा कराते थे। पामनमें तो गैर मुसल्मान सहवासी दुभाषियेका काम कर देते थे, किन्तु दूसरी जगह होनेपर लोग खुद दुभाषिया लिये हुए आते। ब्रह्मचारीको यह परवाह नहीं थी, कि मुसल्मानके साथ रहनेकेलिए लोग उनकी कैसी नुक्ताचीनी करते हैं, खासकर ब्राह्मण लोग।

मुसल्मान घरमें रहते हुए भी ब्रह्मचारी भोजन खुद या किसी साधुसे पकवाकर उसके हाथका बनाया खाते, और यह मेरे जैसोंकेलिए तकल्लुफकी चीज थी। दूध, घी, आटा जितना चाहो, उतना मौजूद था, बनानेवाला चाहिए था। ईश्वा-

निव पाचनकलासे बहुत प्रेम नहीं करते थे, यद्यपि यह नही कह सकते, कि उससे बिलकुल अपरिचित थे। दिनमें एक बार खीर परावठे, या कोई अल्पश्रमसाध्य चीज बना लिया करते। दिन-रातका वहां पता थोड़ेही लगता था। सबेरे जिस वक्त नींद खुली, गाजेकी चिलम तैयार मिली। और फिर एक चिलम बुझ रही है, दूसरी जल रही है, यही सिलसिला तब तक जारी रहता, जब तक रातको सो नहीं जाते। मै समझता हूँ, शायद ही रातको ३, ४ घंटे हो, जिनमें मेरा मस्तिष्क गांजेके नशेसे मुक्त रहा हो। ब्रह्मचारीकी चमत्कारिक दवाको देखकर मेरी भी ख्वाहिश हुई उसे सीख लेने की। ब्रह्मचारी चाहते भी थे सिखा देना, किन्तु कह रहे थे—जमाल-गोटा मारना, संखिया मारना आप किताबसे भी सीख सकते हैं, किन्तु जबतक सामने बनाकर दिखलाया न जावे, तब तक मुहसे बतला देनेमें कोई फ़ायदा नही। उनका कहना बजा था, और वस्तुतः मेरे तीन-चार सप्ताह पामनमें रह जानेका भी प्रधान कारण यही भस्म-विधि सीखनेकी इच्छा थी। गाजा पीने, गप करनेके अतिरिक्त वहां मेरे लिए दूसरा काम नहीं था, शायद उर्दूकी कोई कविता-पुस्तक ब्रह्मचारीके पास थी, उसे पढ़ लिया करता था। हमारे आवासके पास एक कोढ़ी मुसल्मान था, ब्रह्मचारी उसकी मुफ्त दवा शुरू करनेवाले थे। उससे दो-एक कौवे बहुत हिल-मिल गये थे, वे उसके शिर और कन्धेपर बैठ जाते थे। कौओंको लड़कपन हीसे मैं बहुत होशियार जाति जानता था। सुना था, मादा कौआ एक बार अपने बच्चोंको सिखला रही थी—'जैसे ही कोई पत्थर उठानेकेलिए झुके, उड़ जाना।' बच्चोंने पूछा—'और मां! यदि वह घर हीसे पत्थर लिये आवे?' माने कहा—'तब तुम्हें सिखलानेकी जरूरत नही।' यहां इन कौओंको कोढ़ीके शिर और कन्धेपर बैठते देखना उनकी जातिकेलिए भी चतुराईका अपवाद जान पड़ा।

ब्रह्मचारी सामान मँगाकर भस्म बनाना सिखलानेकी तैयारी कर रहे थे, किन्तु अब मेरी रुचि उधरसे हट गई थी। दुनियाके सभी व्यवसायोंको सीखनेसे मतलब, जब मैं सबको कर नहीं सकता? ब्रह्मचारी और मुझमें कई बातोंमें समानता थी, उर्दू, शहरी भाषा और जीवनके भी हम समान भक्त थे, इसलिए उनकी इच्छा क्योंकर होती, कि मैं चला जाऊँ।

चलनेकेलिए हमने पामन खाड़ीपर नये बने पुलपर चलनेवाली पहिली ट्रेनको पसन्द किया। ब्रह्मचारीने रामनदमें भी अपनेलिए एक अड्डा बना रखा था, और वह भी मेरे साथ ही आये। अड्डा क्या, बस्तीसे दूर खजूरोंके काटेदार झुरमुट-में पन्द्रह-बीस हाथ लम्बी-चौड़ी एक जगह साफ़ की गई थी, और उसीमें तालके पत्तोंकी एक झोपड़ी पड़ी थी। ब्रह्मचारी जब कभी आते तो वही ठहरते। झोंपड़ी मदुरासे रामनद होते रामेश्वर जानेवाली सड़कपर थी, इसलिए पैदल चलनेवाले साधु कभी-कभी वहां पहुँच भी जाते थे। वस्तुतः इसी खयालसे ब्रह्मचारीने उस

जगहको पसन्द किया था। जब साधु आ जाते, तो उनको बहुत खुशी होती ब्रह्मचारी उन आदमियोंमें थे, जो आजकी आमदनीको कलकेलिए रख छोड़ने अपराध समझते हैं। साधुओंको खिलाने-पिलानेका उन्हें बहुत शौक था। तीर्थ यात्रियोंमें दो श्रेणी होती है, एक नियमपूर्वक किसी सम्प्रदाय–बैरागी, उदासी संन्यासी आदि–में प्रविष्ट साधु, जिनको अपने सम्प्रदायका आचार-व्यवहार सीखन जरूरी होता है, और सम्प्रदायकी सार्वजनिक रायको माननेकेलिए बाध्य होन पड़ता है। उनको लज्जा, संकोच आत्म-सम्मानका भी बहुत खयाल करना पड़त है, इन पाबन्दियोंका लाभ उनको यह है, कि सारे भारतमें जगह-जगह अवस्थि अपने सम्प्रदायके स्थानोंमें दाबेके साथ, और दूसरे स्थानोंमें सम्मानके साथ उन स्वेच्छासे रहनेका मौका मिलता है। ये स्थान बिना पैसे-कौड़ी दिये यात्रीकेलि भोजन और निवासके होटल है–इसीसे पता लग सकता है, कि इन संस्थाओंने साधुओ केलिए यात्रा कितनी सरल बना दी है। भारतका कोई भाग नहीं है, जहां ये मठ य साम्प्रदायिक स्थान न हों। हिन्दी भाषा-भाषी हिन्दू-प्रान्तोंमें इनकी संख्या बहु ज्यादा है,–पंजाब, सिन्धु सीमान्तमें भी हिन्दुओंकी संख्याके अनुसार काफी हैं गुजरात, कठियावाड़ साधु-सेवाकेलिए बहुत प्रसिद्ध प्रान्त समझे जाते हैं। आसाम बंगाल, उड़ीसा, महाराष्ट्रमें भी संख्या काफी है। द्रविड़-भाषाओंके चारों प्रान्तोंमें अवश्य इन मठोंकी कमी है। वैसे तो ये मठ काबुल, कन्धार तक ही नहीं मुदूर पश्चिम कास्पियन तटके बाकूमें भी कुछ साल पहिले मौजूद थे।

रामनदमें ब्रह्मचारीसे विदाई ली। एक बार फिर तिरुमिशी लौटनेका विचार हो सकता था, किन्तु मेरे जैसे आजाद-तबिअत मुसाफिरत-पसन्द आदमीके लिए आचारियोंके आचार-व्यवहार भारी बन्धन थे –, यह बात अभी बालाजी रामेश्वरकी ताजी यात्राने भी बतला दिया था–इसलिए मैंने उधर जानेका ख्याल छोड़ दिया। यात्राकी तरह पढ़नेकी रुचि भी मेरे खमीरमें है, इसलिए जब तक वह उग्र रूप धारण नहीं करती, तबतक कुछ घूम लेना मैंने जरूरी समझा। इस प्रकार अब मेरा रुख द्वारिकाके रास्तेमें आनेवाले तीर्थों और दर्शनीय स्थानोंकी ओर था।

बंगलोर–रास्तेमें पहिले-पहिल बंगलोरमें उतरा। शहर देखकर गाड़ीसे आगे बढ़नेका इरादा था। बाजारमें भोजनसे निवृत्त होनेकेलिए कोई स्थान ढूढ रहा था, कि एक हलवाईकी दूकान मिली। हलवाईकी दूकान द्राविड़ प्रान्तोंकेलिए नई चीज है। पानी-पूड़ीमें जहां बराबरकी छुआछूत हो, वहां हलवाईकी दूकान कैसे चल सकती है? जाकर रुच्यनुसार पेटभर पूड़ी-मिठाई खाई। पैसा देनेपर हलवाईने कहा–"नहीं महाराज! आपसे पैसा नहीं लेंगे। उत्तर भारतीय सन्तोंकी एक बार भोजनसे सेवा कर देना हमारा नियम है।"

विजयनगर—वंगलोरके वाद, जहा तक याद है, विजयनगर (हम्पी) के खंडरो-के लिए उतरनेको जगहपर रेलसे उतरे। स्टेशनका नाम शायद हुसपेट था। धर्मशालामें कुछ 'खड़ियापलटन' वाले मिले। 'खड़ियापलटन' यह साधुओंका खास शब्द है। बहुतसे स्त्री-पुरुष किसी सम्प्रयादमें बाकायदा दीक्षा लिए बिना साधुका वेष बनाये भारतके भिन्न-भिन्न जगहोंमें घूमते-फिरते हैं। इन्हें साम्प्रदायिक आचार-व्यवहार वेष-भूषाकी बाकायदा शिक्षा तो हुई नहीं रहती, इसलिए ऊपरसे साधुओको देखकर उनकी नकल करना चाहते हैं। नकल करनेमें भी अवान्तर भेदों—जो बहुत सूक्ष्म होते हैं—का ध्यान जरूरी हैं, किन्तु ये उसमें अपनी अनभिज्ञता प्रदर्शित करते हैं। साधु देखते ही समझ लेते हैं, ये बनावटी साधु हैं। खडिया कन्धेपर दोनों तरफ़ लटकते झोलेको कहते हैं, जिसे किसी सम्प्रदायके साधु इस्तेमाल नही करते, ये तीरथवासी खड़िया लिये फिरते हैं, इसलिए इनका नाम ही "खड़ियापलटन" पड गया है। साधुओमें स्त्री, स्त्री-साधुनियोंके साथ, और पुरुष, पुरुष-साधुओंके साथ घूमते है, खड़ियापलटन इस नियमसे अपनेको मुक्त समझती है, उसमें स्त्री-पुरुष दोनों शामिल रहते हैं।

खड़ियापलटनसे मालूम हुआ, किष्किन्धा-विजयनगरके पासकी बस्ती—यहांसे बहुत दूर नही है, पक्की सडक गई है। शायद सवारी भी मिल रही थी, और मेरे पास पैसोंकी कमी न थी, तो भी पैदल चलना ही मुझे पसन्द आया। बोझा रखनेका मैं विरोधी हूँ। शरीरको हलकासे हलका रखना मुझे पसन्द है, और खाली हाथ चलनेमें मजा आता है। रास्ते और उसके आसपासके स्थानोके बारेमें कोई बात याद नही, सिवाय इसके कि मैं कर्णाट भाषाभाषी प्रदेशमें चल रहा था। शामको ४ बजेके करीब मैं एक खंडहरके पास पहुँचा। एक कब्र थी, एक वृक्षके किनारे बड़ा-सा चबूतरा था, जो बहुत दिनोसे बेमरम्मत पड़ा था। वहा एक शाह साहेब (मुसलमान फ़क़ीर) बैठे थे। उन्होंने हाथ उठाते हुए 'दर्शन सफ़ा' कहा, मैंने भी 'मिजाजे वफ़ा' कह जवाब दिया। हिन्दू-मुसलमान साधुओंमें पारस्परिक अभिवादनकी यह रीति है। शाह साहेबने आग्रहसे बैठाया। गाजेकी चिलम तैयार की, दयाशंकर ब्रह्मचारीके यहां चिलममें मुसलमान गृहस्थ तक शामिल होते थे, तो यहां मुसलमान साधुकेलिए क्या कहना था? चिलम पीते हुए हम लोगोंकी कितनी ही देर तक बातें होती रही। शाह साहेब उत्तर भारतके ही कहींके थे, दक्खिनके मुसलमानोके खान-पान, बोली-बानीकी उनको सख्त शिकायत थी। कह रहे थे—"इमली और मिर्च। तोबः तोबः। कम्बख्तोंको खानेका भी शऊर नहीं।" हम लोगोंके बात करते समय ही एक दूसरे साधु चले आये; उन्होंने मुझे भी अपने साथ चलनेका निमन्त्रण दिया। वे तीन-चार साधु नदीके पास किसी परित्यक्त पाषाणगृहमें पांच-सात दिनोंसे ठहरे हुए थे।

सूर्यास्त हो गया था, जब हम तकियासे रवाना हुए। हमें एकाध जगह नगरके टूटे पाषाण-प्राकारको पार करके जाना पड़ा। मैंने भारतके इतिहासको पढ़ा तो था, किन्तु अभी ऐतिहासिक दृष्टि प्राप्त नहीं हुई थी, तो भी विजयनगरको ऐतिहासिक स्थान ही समझ में देखने आया था। साधुओंका निवासस्थान सचमुच ही मस्तानोंका अखाड़ा था। गोसाईं (संन्यासी), उदासी, वैरागी सभी सम्प्रदाय वहां मौजूद थे। मुझे छोड़ बाकी सभी जटाधारी भभूतिये थे। बीचमें लकड़ीकी धूनी जल रही थी और चारों ओर हम लोग बैठे थे। यहां ब्रह्मचारी दयाशंकरकी तरह अखंड चिलम-चक्र तो नहीं चल सकता था, किन्तु दो-चार चिलममें कोई हर्ज नहीं था। बाकी वक्त 'सूखा कंकड़' चलता रहा। बातोंकी कमी न थी, सभी पुराने अखाड़िये थे, और दुनिया घूमते ही जिन्दगी काटी थी। धूनीमें ही आटेके टिक्कर लगे, मालूम नहीं तरकारी या दाल थी कि नहीं।

रातको तो मैं कुछ देख नहीं सका था, सवेरे नहानेके बाद घूम-घूमकर प्राचीन विजयनगरके खंडहरोंको देखना शुरू किया। उस वक्त पुरातत्त्वकी ओरसे उल्लेखनीय खंडहरोंपर उतने साइनबोर्ड नहीं लगे थे। हर खंडहरका परिचय साथी साधुओंमेंसे पहिलेके आये, सुनी-सुनाई परम्पराके अनुसार दिया करते—'यह सुग्रीवकी कचहरी है', 'यह बालिका राज-दरबार है', 'यह ताराका रनिवास है', 'यह अंगदकुमारका महल है'....। सभी त्रेतायुगकी चीजें, सभी बालिकी किष्किन्धा-पुरीकी इमारतें। और मैं जो चला था विजयनगरके ध्वंसावशेषोंको देखने? उनके बारेमें यहां कोई कुछ बतलानेवाला न था। तो भी ये मन्दिर और महल विजयनगर राज्यके समर्थक हैं, इस बारेमें मुझे सन्देह नहीं था। वैष्णव-विरोधी पुस्तिकाओंको पढ़ते वक्त उसमें त्रिपुंड और ऊर्ध्वपुंड (आड़ी-खड़ी टीका) का भी झगड़ा देखा था। मैं समझता था, वैष्णवोंका ऊर्ध्वपुंड बहुत पीछेका है, त्रिपुंड ही सनातनसे चला आया है। मैंने एक तरहके ऊर्ध्वपुंड्रोंको यहांके मन्दिरोंमें अंकित देखा। मीलों चले जानेपर भी वे ध्वंसावशेष खतम नहीं हो रहे थे, और उनके मन्दिर, सामने पाषाणगृहोंकी पंक्तियां या बाजार ध्वस्त हो जानेपर भी रूप-रेखा रखती थी। मन्दिर तो कितने ही आसानीसे मरम्मत कराये जा सकते थे। नगरके भीतरसे पड़ी टेकरियोंपर भी कोई न कोई मन्दिर था। इन्हीं मन्दिरोंमेंसे एक जगह दोपहरको हम पहुँचे। स्थान आचारियोंका था। आचारी—तीन लोकसे मथुरा न्यारी—के सिद्धान्तानुसार अपनी डेढ़ चावलकी खिचड़ी अलग ही पकाते हैं। दूसरे सम्प्रदायके स्थानमें खाना-पीना तो उनका हो नहीं सकता, इस-लिए दूसरे सम्प्रदायवालोंको अपने यहां खिलानेकी क्या जरूरत—इस ख्यालसे वैरागी-उदासी-सन्यासी साधुओंका उनके यहां आतिथ्य-सत्कार भी नहीं होता, होता भी है तो बेगारकी तरह। उस स्थान—रामशिला या स्फटिकशिला—के

अधिकारीने और साधुओंकेलिए तो भोजन-सामग्री दे दी, और मुझे खानेकेलिए बुलाया। इस भेदका कारण क्या हो सकता था ? शायद जटा-भभूतके अभावके कारण ऐसा किया गया हो।

दोपहर बाद हम तुंगभद्राके तटपर गये। नदी पार होनेकेलिए बड़े कढ़ावकी शकलकी चमड़ेकी नाव थी, जिसमें एक बार तीन-चार आदमी बैठ सकते थे। नदीमें जहां-तहा उभड़ी और दबी पत्थरकी चट्टानोंको देखकर चमड़ेके नावकी उपयोगिता मुझे मालूम हो गई। अब हम हैदराबाद रियासतके एक बड़े गांव या कस्बेमें थे। वहा कितनी ही दूकानें तथा पक्के घर थे। लोगोंने इसका नाम किष्किन्धा (आजकलकी) बतलाया। रातको हम पम्पा-सरोवरपर ठहरे। एक छोटे तालाब—जिसे पम्पासर बतलाया जाता था—पर एक वैरागी स्थान था, दस-पाच साधु वहां बराबर रहा करते थे। निवासस्थान और मन्दिर भी था, शायद काफी गायें भी थीं। अभ्यागत साधुओंकी सेवा होती थी इससे मालूम होता था, कर्नाटकमें उत्तरीय साधुओंका कुछ चल बन जाता है।

सबेरे उठकर स्नान-'पूजा' के बाद मैं आसपासकी पहाड़ियोंपर चढ़ता फिरा। एक पहाड़ीमें अजनागुहा बतलाई गई। यहा ही अजनाने हनूमानका प्रसव किया था। मठसे थोड़ी दूरपर पौढे-ऊखके खेत थे, और शायद मुझे खानेकेलिए मोलसे या बेमोलके एक-दो मिले थे।

पम्पासरसे नदी पारकर फिर एक बार हम्पी (विजयनगर) के खंडहरोंमें आना पड़ा था। खंडहरोंमें, याद है, कोई बीजापुरका महल या मस्जिद भी देखी थी, जो अपेक्षाकृत अधिक सुरक्षित अवस्थामें थी।

बागलकोट—हसपेटसे फिर रेलपर रवाना हुआ। परसामें गुरुजीसे पता लगा था, कि उनका एक सादिक (करम-धरम सीखनेवाला साधक) चेला बागलकोटमें महन्त है। इधर भी बागलपुरके महन्तकी साधु-सेवाकी बड़ी ख्याति सुनी थी; और अब मेरा रुपया भी समाप्त हो रहा था, इसलिए कही दो-चार दिन ठहरकर उसे मँगाना था। बागलकोट सीधी लाइनपर नहीं है, और जहातक याद है, गडग रास्तेमें पड़ा था, किन्तु मैं वहां उतरा नही था। स्टेशनसे मठमें पहुँचनेमें दिक्कत नही हुई। बागलकोटमें काफी मारवाड़ी दूकानदार हैं, और हिन्दी भाषा-भाषियोंके पादरी तो हम लोग थे ही।

महन्त वैष्णवदास (शायद यही उनका नाम था) को जब मालूम हुआ, कि मैं परसाके महन्तका शिष्य हूँ, तो बहुत प्रसन्न हुए। हमारे गुरुजी उनके "सादिक" गुरु ही न थे, बल्कि उन्हें महन्ती भी उन्हींकी सलाहसे मिली थी, फिर ऐसे व्यक्तिके शिष्य और उत्तराधिकारीकी क्यों न खूब खातिर करते ? वैसे भी बागलकोटमें साधुओंकी बड़ी खातिर होती थी, और उन्हें तीन दिन तक रहनेकी खुली इजाजत

थी। अभ्यागतको कोई काम नहीं करना पड़ता था—दूसरे स्थानोंमें रसोईकी सामग्रीको सुधारना, तथा कुछ छोटा-मोटा काम करना जरूरी होता था, किन्तु यहां तीन बजे रातको ही महन्तजी उठ जाते। स्नान-पूजाके बाद अपने एक शिष्यके साथ अँधेरा रहते ही रसोईमें घुसते। पूड़ी-तरकारी और साथमें हलुवा या पुआ-मेंसे कमसे कम एक बारहों मास बनता था। कच्ची रसोई खिलाना महन्तजीके शानके खिलाफ़ था। बागलकोटके मारवाड़ी गृहस्थ महन्तजीकी साधु-सेवामें सहायता पहुँचानेमें होड़ लगाये रहते थे। सूर्योदय होते-होते, जब नदीसे स्नान करके पूजाकी इच्छासे मारवाड़ी महिलायें आने लगतीं, तब तक रसोई तैयार हो गई रहती।

गाजे और तम्बाकू पीनेमें पिछले एक मास मैंने अति कर दी थी, इसलिए सन्देह होने लगा कि पेटमें धूएँकी बहुतसी कालिख जमा हो गई होगी। यहीं अपने हाथसे सनायकी जुलाब बनाकर ली, रुपयेकेलिए परसा तार तो दूसरे दिन ही भेज दिया था।

बागलकोटके बाहर एक नदी बहती है, और शायद पथरीली। इस तरफ़ धोबीको कपड़ा देनेका बहुत कम रवाज है, देखता था सवेरेसे शाम तक घाटके ऊपर कपड़ोंपर डंडा दनादन चल रहा है।

पंढरपुर—रुपया आ जानेपर मैं वहांसे पंढरपुरकेलिए चल पड़ा।—नये-नये तीर्थ-स्थानोंका पता साधुओंसे लग जाया करता है। पंढरपुर तथा वहांके विट्ठलनाथ महाराष्ट्रके माननीय तीर्थ और देवमूर्ति हैं, किन्तु उनके बारेमें मैं इतना ही जानता था, कि जब हमारे साथी साधु मैदानमें रसोई बनाते, तो कहते—भाई विट्ठल भगवान्‌से होशियार रहना, अर्थात् कुत्ता कहीं रोटी न उड़ा ले जाये।

पूना-बंबई—पंढरपुरसे चलकर पूनामें शायद एक दिन मैं ठहरा, वहां क्या देखा, इसका कोई खयाल नहीं। बम्बईमें पंचमुखी हनुमानमें आसन पड़ा। शहर और महालक्ष्मीको देखा। किसी खास चीजने वहां आकर्षण नहीं पैदा किया। जानकी माईकी ख्याति सुनी—"यह बहुतसे लोगोंको जहाजसे द्वारिका भिजवा देती हैं। उसके बहुतसे बड़े-बड़े सेठ सेवक हैं"—आदि आदि। मुझे बम्बईसे सीधे द्वारिका जाना नहीं था, और न किरायेकेलिए मेरे पास रुपयोंकी कमी थी।

नासिक—द्वारिका जानेसे पहिले नासिक जाना मैंने पसन्द किया। नासिक स्टेशनसे शहर तक उस वक्त घोड़ेकी ट्राम जाती थी, या कमसे कम उसकी रेल अब तक मौजूद थी। शहरके बाद पथरीली भूमिमें अनेक धारोंसे बहती-उतरती गोदावरीको पार किया। परसाका एक शाखामठ कपिलधारा (नासिक जिला) में था, जिसकी शाखा नासिकमें भी है, यह पता लग चुका था। पता लगानेपर यह जगह तो मिल गई, किन्तु वहां उस वक्त कोई आदमी मौजूद न था। नासिक

भी महाराष्ट्रमें ही है, किन्तु यहा वैरागी तथा दूसरे उत्तर भारतीय साधुपन्थोंके काफ़ी स्थान हैं, यह देख कुछ नवीनता मालूम हुई; किन्तु पीछे बम्बईमें बसनेवाले मारवाड़ी गृहस्थोंका खयाल आते ही वह शंका दूर हो गई। दो-तीन दिन रह पंचवटी और दूसरी जगहोंमें घूमता रहा।

त्र्यम्बक–नासिकमें मालूम हुआ, गोदावरीका उद्गम-स्थान त्र्यम्बक बहुत प्रसिद्ध तीर्थ है। उस वक्त कोई वार्षिक मेला था, हजारो स्त्री-पुरुष सड़कसे उधर ही जा रहे थे, मैं भी उनके साथ हो लिया। नासिकसे त्र्यम्बक कितने मील हैं, सो तो नही याद; किन्तु मैं दोपहरसे पहिले नही चला था। रातको रास्तेमें रहना पड़ा, दूसरे दिन त्र्यम्बक पहुँचा, तो वहां भारी भीड़ थी। गोदावरीके स्रोतमें स्नान, और त्र्यम्बकका दर्शन किया। ठहरा कहा, नही कह सकता। करताल और एकतारा ले कई मंडलिया कुछ कीर्तन-सी कर रही थी, जो कि उत्तरी-भारतके मेलोंसे कुछ भिन्न-सी चीज थी। रातको गैसकी रोशनीमें भी यह भजन-संगायन होते रहे।

कपिलधारा–त्र्यम्बकसे मैं कपिलधाराको चला। गांवका नाम कुछ दूसरा था और वह देवलालीमे नजदीक पड़ता है, किन्तु मैं नासिकसे फिर लौटकर बम्बईकी ओर जाना नही चाहता था। रास्ता पहाड़ी, और पगडंडीका था, खानेकेलिए मैने पासमें कुछ पेड़े बाध लिये। पहाडमे पानी कम था, और इधर मिठाई खानेसे प्यासने भी जोर मारा। नजदीकमे किसी आदमीके न मिलनेसे एकाध बार मैं रास्ता भी भूल गया, इस प्रकार मेरी दिक्कतें बढ गईं। दोपहरको तो प्याससे व्याकुल हो मैं रास्ता-वास्ताका खयाल छोड गाव ढूढने निकल पड़ा, और काफ़ी दूर जाने पर कुछ झोपड़े मिले। प्यासा हूँ, कहनेपर एक लडकीने ले जाकर गांवसे बाहर एक गडहेको दिखला दिया, जिसका पानी मटमैला-सा था, और मैं समझता हूँ, उसमें मवेशियोंके घुसनेकी भी कोई रुकावट न थी। साधारण अवस्थामें वैसे गडहेका पानी कौन पीता, किन्तु उस वक्त जब कि तालू फटना चाहता था, उस पानीसे कौन इनकार कर सकता था? शामको पहाड़के एक बड़े गांवमें पहुँचा। सार्वजनिक चौपाल-सी थी, जिसमें मैने आसन डाला। रातको एक पुलिसका सिपाही आया, उसने नाम-स्थान आदि नोट किये। खयाल आता है, वह हैदराबाद रियासतका गांव था, लेकिन इसकी सत्यतापर अब विश्वास नहीं पड़ता। गावमे बड़े तड़के ही मैं कपिलधाराकी ओर चल पडा। ऊँचाईसे निचाई–ढालुआ समतल जैसी–की ओर, और फिर निचाईसे ऊँचाईकी ओर रास्ता जा रहा था। रास्तेमें कोई आदमी खेतकी रखवाली कर रहा था, जिसके पास ठहरकर मैंने मटर या चनेके ताजे होले खाये। कपिलधारामें दोपहरसे पहिले पहुँचा था। उस वक्त महन्तजी वहां नहीं थे, कोई एक अभ्यागत साधु मन्दिरका काम कर रहा था। मठमें

गायें काफी थीं। भीतर एक झरना था, जिसका नाम कपिलधारा था। म
राष्ट्रके इस अरण्य-पर्वतमें कैसे वैरागी स्थान बनानेमें सफल हुए, या कैसे
रहे है, और इसका प्रयोजन क्या ?—यह मुझे समझमें नहीं आया। लेकिन
वक्त मेरे दिलमें ये ख्याल आ रहे थे, उस वक्त मैं त्र्यम्बकसे रास्तेकी मार स
आ रहा था। कपिलधारासे देवलाली ज्यादा नहीं है, इस बातका उस वक्त
दिलमें ख्याल न था। कपिलधारामें उस साधारण मीठे पानीके झरनेके
और कोई खास बात नहीं थी, किन्तु मैं परसामठकी सुदूर महाराष्ट्रमें अवस्थि
शाखाके तौरपर उसे देखनेकेलिए आया था, जिसमें कि परसा लौटकर मैं गुरुजी
बतला सकूं, कि मैं वहां हो आया हूँ। जो अकेला साधु वहां रहता था, एक आगन
साधुको देखकर उसपर भारी बोझ-सा पड़ गया। उसने पहले तो कहा—महन्त
यहां नहीं है, वह कहीं गये हुए हैं, मैं तो मन्दिर और इन गायोंको देखनेपर लगा
गया हूँ। कुछ देर इधर-उधरका काम करके वह फिर आया, और बोला—मैं
भोजन कर चुका हूँ, चावल दे देता हूँ, भोजन बना लें और मट्ठासे खा लें।
कहा—इस वक्त मैं थका-मांदा हूँ, मट्ठा ही दे दो-एक लोटा, यही पीकर विश्र
करूँगा।

देवलाली बहुत दूर नहीं, यह सुनकर दोपहर बाद मैं स्टेशनपर चला आया।

ओंकारनाथ-मान्धाता—बम्बईसे ही नासिककी ओर चलते वक्त निश्च
किया था, कि ओंकारनाथ और उज्जैनका दर्शन करते डाकोरसे द्वारिकाकी ओ
जाना है। देवलालीसे मैंने बुरहानपुरका टिकट लिया, लेकिन वहां शहरमें ठह
नहीं। बुरहानपुरसे ओंकारनाथकेलिए कौन स्टेशनपर उतरा, नहीं याद; कि
शायद एक या दो नदी को पार करना पड़ा था। मान्धाताकी स्टेशनसे कुछ पैद
चलकर जाना पड़ता है। पहाड़ोंके बीच नर्मदाकी गम्भीर धारा है, नदीके दोन
तरफ बस्ती है, पुलके उस पारवाली बस्तीमें किसी गोंडराजाका महल बतलाय
जाता था। मैं इसीपार नर्मदाके तीरके वैरागीके स्थानमें ठहरा। नर्मदाकी महिम
काशीमें अपने वेदाध्यायक गुजराती ब्रह्मचारीसे बहुत सुनी थी। वह नर्मदाके किना
बहुत विचरे थे। उनकी सम्मतिमें पवित्रतामें नर्मदाका स्थान गंगासे कम ऊँचा नह
है। बल्कि योगियों और तपस्वियोंकेलिए मुक्तिसाधनाका जो सुभीता नर्मदा प्रदा
करती है, वह गंगा भी नहीं। ओंकारनाथमें मैं एकसे अधिक दिन ठहरा था
शामके वक्त नदीके तटके ऊपरकी ओर दूर तक चला जाता। वहां गरबूजेके खे
थे, दिगम्बर या जनवरी होनेसे वह गरबूजोंके पकनेका समय तो नहीं था। इस
पासके किसी शिवालयमें एक शिलालेख मैंने देखा था, किन्तु वह प्राचीन था या
नवीन इस ओर उस वक्त ध्यान ही नहीं जा सकता था। पुलपारकी बस्तीमें भी
गया था, यह नहीं कहता ओंकारनाथका मन्दिर उस पार है या इस पार।

उज्जैन-मान्धातासे चलते वक्त मेरे साथ एक और तरुण नागा साधु हो लिये। मुसलमानी कालमें, समसामयिक सभी देशोंमें मठाधिकारी तथा भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय अपने स्वार्थोंकी रक्षाकेलिए फ़ौजी ढंगसे अपनेको संगठित करते देखे जाते हैं। भारतमें भी वैसा हुआ था। उस वक्त मुसलिम-शासन होनेसे आजके जैसे हिन्दू-मुसलिम झगड़े तो हो नही सकते थे, उसकी जगह हिन्दुओंके आपसके साम्प्रदायिक झगड़े होते थे। हर बारहवें साल, और आपसमें कुछ सालका अन्तर दे हरिद्वार, प्रयाग, उज्जैन तथा नासिकके चार चढ़ाव ('कुम्भ' मेले) हुआ करते थे, जिनमें यात्रियोकी सख्या लाखो तक पहुँचती थी। वैरागी, दशनामी (गोसाईं या सन्यासी) तथा दूसरे सम्प्रदायोंके हजारों साधु जमात बाधकर आते। संख्या और प्रभावमें वैरागी तथा सन्यासी आगे बढ़े हुए थे, इसलिए चढ़ावमें पहिले स्नान करनेकेलिए इन्हीमें आपसमें झगड़े हुआ करते। कबीरका समय तो वैरागियोका आरम्भिक समय था, इसलिए सोलहवी सदीके अन्तसे पहिले वह सन्यासियोसे लोहा लेने लायक नही हो सके होगे, इसमे सन्देह नही। जान पड़ता है, शुरू-शुरूमें झगडे १७ वी सदीके साथ शुरू हुए होंगे, ज्यादासे ज्यादा उनका आरम्भ हुमायूं-शेरशाहके समय तक जा सकता है।

इन्ही चढ़ावोंके झगड़ोमें पिटकर हर दलने अपनेको मजबूत करना शुरू किया, और हर सम्प्रदायकी सशस्त्र, साधारण युद्धशिक्षाप्राप्त सेनायें बनने लगी। वैरागियोंके दिगम्बर, निर्वाणी, निर्मोही आदि सात अखाड़े बने, सन्यासियोंके भी निरंजनी आदि अखाड़े। अखाड़ोमें नाम लिखानेवाले तरुण साधु नागा कहे जाते। इन्हें बाना-बनेठी, तलवार-भाला चलानेकी बाकायदा शिक्षा होती। वैरागी अखाड़ेमें प्रविष्ट होनेवाला लड़का हुड़दंगा कहा जाता था, बारह बरसकी अखाड़ेकी सेवा करनेके बाद किसी चढ़ावमें पच लोग उसे नागा बनाते। उस वक्त वह अपने अखाड़ेका जरदोजीके कामका झंडा-निशान (दिगम्बरका पंचरंग और दूसरोंके भिन्न-भिन्न) रखने और उठानेका अधिकारी होता। बारह बरसका नागा हो जाने-पर वह अतीत बनता। इन अखाड़ोंके पास महत्त्वपूर्ण स्थानोंमें काफी मठ और सम्पत्ति होती, जिनका इन्तजाम एक महन्तके हाथमें न होकर बहुत कुछ पंचायती होना, और सचमुच संघका बल निर्णायक होता। नागा-अतीत लोग अपने अखाड़ोंके अतिरिक्त, जमात बनाकर एक चढ़ावके बाद दूसरे चढ़ावकी पैदल यात्रा करते। उनके पास ऊँट रहते। जिस मठपर भी नागा पहुँचते, उन्हें खिलाने-पिलानेके अतिरिक्त अपने भेपकी पलटन समझकर कुछ पूजा भी देनी पड़ती। नागोंके यहां अपने शिष्योंसे ज्यादा मादिक शिष्योंकी प्रधानता होती है। ज्ञान-वैराग्यकेलिए इनका निर्माण नही हुआ था, ये तो थे चढ़ाव और दूसरे मौकोंपर भेपके निशान को ऊँचा रखनेकेलिए। मरने-मारनेमें वे किसीसे डरते न थे।

आज अंग्रेजी शासनके इतने दिनों बाद इन अखाड़ों और नागोंका वह महत्त्व नहीं है। पुरानी बातोंकी कुछ नकल आज भी हम 'चढ़ावों' पर देख सकते हैं, और इन अखाड़ोंके कितने ही मठ और स्थान उज्जैन, हरिद्वार आदि जगहोंमें भी देख सकते हैं।

उज्जैनमें हम रातको उतरे थे। मेरे साथीको न्यारी बावली या कौन स्थान मालूम था, हम लोग बिना दिक्कतके वहां पहुँच गये।

उज्जैनमें तीन-चार दिन ठहरे होंगे। चढ़ावेके वक्त मेला जहां लगता है, उस स्थानको देखा, और बहुतसे अखाड़ोंमें भी गये। महाकालका दर्शन तो किया था, किन्तु पीछे वह विस्मृत हो गया। जाड़ेका दिन था, सर्दी मालूम हो रही थी, इसलिए नागाके साथ मैंने भी एक गरम कोट अपनेलिए बनवाई—वरना होता तो कोटकी जगह चौबन्दी बनवानी पड़ती। यहां भी धूनीके पास ही आसन लगा था, और वह गँजेड़ियों-भँगेड़ियोंके चौधरानेमें थी। एक दिन भांगकी गोली लेकर कुछ नशेमें हो, आंखें मूंद, आसनपर पालथी मारे मैं बैठा था। भंगके नशेमें आप बोलने लगें तो बहुत बोलते रहेंगे, चुप रहना चाहें, तो एकदम चुप ही रहेंगे। मैं एकदम शान्त आसीन था। आठ-नौ बजे शामका वक्त था। कोई सहृदय श्रद्धालु गृहस्थ बैठा बहुत देरसे औरोंकी बातचीत करते, किन्तु मुझे उस तरह शान्त देख, समझने लगा—कोई योगी ध्यानमें मग्न है। उसने पासके साधुओंसे जिज्ञासा की। उन्होंने जो तारीफ करनी शुरू की—'भगत! महात्मा हैं नहीं तो यह दुनिया ठहरी कैसे है?....' मेरे मनमें आता था, बोल दूं—'क्यों झूठमूठको हांक रहे हो', किन्तु भगतकी श्रद्धासे खेल करना भी तो अच्छा नहीं।

डाकोर—उज्जैनसे डाकोरकी ओर चलते वक्त उक्त तरुण नागा फिर मेरे साथ था। रतलाम रास्तेमें पड़ा, किन्तु हम लोग वहां शहरमें नहीं गये। हमें जाना था डाकोर—अभिनव-द्वारिका। गुजराती लोग वैरागी साधु कम होते हैं, किन्तु उनके स्थान वहां बहुत ज्यादा हैं। डाकोरको तो एक तरहसे वैरागी स्थानोंका नगर कहना चाहिए। हर गली-मुहल्लेपर कोई न कोई स्थान है। हम लोग खाकचौक (?) में 'उतरे' (ठहरे)।

महीनोंसे सैकड़ों स्थानोंमें 'उतरने', बातचीत करते, अब रीति-रिवाज, तथा स्थानीय एवं अभ्यागत साधुके कर्तव्य और अधिकार मुझे मालूम हो गये थे। किसी जगह आने-जाने, मिलने-जुलने, रहने-सहनेमें कोई संकोच नहीं था। अब दरअसल मैं टकसाली साधु बन गया था। इन सभी स्थानोंमें घूमते हुए मैं देख रहा था, वहां पढ़ने-लिखनेवालोंका कितना अभाव है; उनका सांस्कृतिक तल कितना नीचा है। लेकिन, इतना होते भी दुरूह रास्तों और स्वागतहीन देशोंमें जानेकेलिए तैयार नौजवान भी उनमें मिलते थे, जो कि मेरेलिए कम आकर्षणकी चीज न थी।

बालाजीकी तरह डाकोरमें भी मुझे एक छोटेसे स्थानके महन्त दामोदरदाससे परिचय हो गया। वह साधारण वैरागियोंसे कुछ अधिक संस्कृत और समझदार थे। उनके स्थानमें दो-तीन और साधु थे, महन्तजीके पास काफ़ी समय गप करने, चौपड़ खेलने और बीड़ी-तम्बाकू पीनेकेलिए था। वह थे भी मेरी ही उम्रके, इसलिए हम दोनोमें खूब पटरी जम गई। मैं अक्सर उनके ही यहां रहता, चौपड़ खेलनेके अतिरिक्त एक गुजराती पुस्तक उनके यहां देखकर मैं उठाकर देखने लगा; कितने ही अक्षर तो पहिले हीसे परिचित थे, दूसरे-तीसरे दिन मैं उसे खूब पढ़ने लगा, और भावार्थ समझनेमें भी कोई दिक्कत न थी। दामोदरदासजीने मुझसे बिहारके अच्छे धानोंका बीज मांगा था, जिसे परसा पहुँचनेपर मैंने भिजवा दिया था।

अहमदाबाद (जनवरी १९१४)—माघ उतर रहा था, जब कि मैं अहमदाबादकेलिए रवाना हुआ। अहमदाबादमें जमालदरवाजेसे बाहर थोड़ी ही दूरपर नरसिंह बाबाका मन्दिर साधु-सेवाकेलिए मशहूर हो चुका था। मेरे साथी वहां ही जा रहे थे, मैं भी उनके साथ वही जाकर धुनीके पास 'उतरा'। धीरे-धीरे देख रहा था, धुनी मुझे ज्यादा आकृष्ट कर रही है, किन्तु क्या गांजा या सूखेकी चिलमकेलिए ?—नही, बल्कि गँजेड़ी-भँगेड़ी ही परले दरजेके सैलानी भी होते हैं; उन्हीसे ज्यादा 'देश-देशान्तर' की बात सुननेको मिल सकती, उन्हीकी बतलाई अभिज्ञताके अनुसार मैं आगेकी यात्राका प्रोग्राम बना सकता था। कश्मीर, कुल्लू, काठियावाड़, छत्तीसगढ, अमरकंटक, आसामके दुर्गम तीर्थोंकी बातें यही धुनीके सामने सुनी जा सकती थी। स्थानके ब्रजवासी महन्त बड़े सीधे-सादे व्यक्ति थे। एक मैलासा अचला, नंगे पैर, नगे शिर—बस यही वेष था। कामकेलिए उनको न आलस्य था, न संकोच। आगनमें झाड़ू-बुहारू कर डालना यह उनकेलिए मामूली बात थी। गृहस्थ, उनको मानते थे, और महीनेमें बीस दिन किसी न किसीकी ओरसे भोज होता रहता था। गुजरात साधुसेवी-प्रान्तके तौरपर साधुओंमें बड़ा ही मशहूर है और उसमें भी अहमदाबाद। काली-रोटी, धवली-दाल (पूआ और खीर) को वहाके साधारण भोजके तौरपर समझा जाता था। अहमदाबादमें मैं एक मासके करीब रहा, और देख रहा था, बराबर पूड़ीके साथ किसी दिन हलवा, किसी दिन पूआ-खीर। कितने ही गृहस्थ स्थान हीमें सामान भेज देते थे, और कितने खानेकेलिए अपने घर बुलाते थे। उनके घर जाते वक्त घड़ी-घंटेके साथ साधुओंका जुलूस निकलता, लालसा होनेपर निशान (कीमती ध्वजायें) भी लगाकर चलते। एकाध बार साबरमतीकी दूसरी तरफ़ किसी गांवमें भी हमें भोजन करने जाना पड़ा।

स्नान आदिकेलिए हमें साबरमती जाना पड़ता, जो स्थानसे बहुत दूर नहीं

आज अंग्रेजी शासनके इतने दिनों बाद इन अखाड़ों और नागोंका यह महत्व नहीं है। पुरानी बातोंकी कुछ नकल आज भी हम 'चढ़ावों' पर देख सकते हैं, और इन अखाड़ोंके कितने ही मठ और स्थान उज्जैन, हरिद्वार आदि जगहों में भी देख सकते हैं।

उज्जैनमें हम रातको उतरे थे। मेरे साथीको खारी बावली या कौन स्थान मालूम था, हम लोग बिना दिक्कतके वहां पहुँच गये।

उज्जैनमें तीन-चार दिन ठहरे होंगे। चढ़ावके वक्त मेला कहां लगता है, उस स्थानको देखा, और बहुतसे अखाड़ोंमें भी गये। महाकालका दर्शन तो किया था, किन्तु पीछे वह विस्मृत हो गया। जाड़ेका दिन था, सर्दी मालूम हो रही थी, इसलिए नागाके साथ मैंने भी एक गरम कोट अपनेलिए बनवाई—सस्ता होता तो कोटकी जगह चौबन्दी बनवानी पड़ती। यहां भी धुनीके पास ही आसन लगा था, और वह गँजेड़ियों-भँगेड़ियोंके चौधरानेमें थी। एक दिन भांगकी गोली लेकर खूब *नशेमें हो, आंखें मूंद, आसनपर पालथी मारे मैं बैठा था। भंगके नशेमें आप बोलने* लगें तो बहुत बोलते रहेंगे, चुप रहना चाहें, तो एकदम चुप ही रहेंगे। मैं एकदम शान्त आसीन था। आठ-नौ बजे घामका वक्त था। कोई शहरका श्रद्धालु गृहस्थ बैठा बहुत देरसे औरोंको बातचीत करते, किन्तु मुझे उस तरह शान्त देख, समझने लगा—कोई योगी ध्यानमें मग्न है। उसने नागाके साथुओंसे जिज्ञासा की। उन्होंने जो तारीफ करनी शुरू की—'भगत! महात्मा है नहीं तो यह दुनिया ठहरी कैसे है?....' मेरे मनमें आता था, बोल दूं—'क्यों झूठमूठकी हांक रहे हो', किन्तु भगतकी श्रद्धासे खेल करना भी तो अच्छा नहीं।

डाकोर—उज्जैनसे डाकोरकी ओर चलते वक्त उक्त तरुण नागा फिर मेरे साथ था। रतलाम रास्तेमें पड़ा, किन्तु हम लोग वहां शहरमें नहीं गये। हमें जाना था डाकोर—अभिनव-द्वारिका। गुजराती लोग वैरागी साधु कम होते हैं, किन्तु उनके स्थान वहां बहुत ज्यादा हैं। डाकोरको तो एक तरहका वैरागी स्थानोंका नगर कहना चाहिए। हर गली-सड़कपर कोई न कोई स्थान है। हम लोग मानचोक (?) में 'उतरे' (ठहरे)।

महीनोंसे सैकड़ों स्थानोंमें 'उतरने', बातचीत करने, अब रीति-रिवाज, तथा स्थानीय एवं अभ्यागत साधुके कर्तव्य और अधिकार मुझे मालूम हो गये थे। किसी जगह आने-जाने, मिलने-जुलने, रहने-सहनेमें कोई संकोच नहीं था। अब दरअसल मैं टकसाली साधु बन गया था। इन सभी स्थानोंमें घूमते हुए मैं देख रहा था, वहां पढ़ने-लिखनेवालोंका कितना अभाव है; उनका सांस्कृतिक तल कितना नीचा है। लेकिन, इतना होने भी कुछ साधुओं और स्थानधारी देशोंमें जानेकेलिए तैयार नौजवान भी उनमें मिलते थे, जो कि मेरेलिए कम आकर्षणकी चीज न थी।

बालाजीकी तरह डाकोरमें भी मुझे एक छोटेसे स्थानके महन्त दामोदरदाससे परिचय हो गया। वह साधारण वैरागियोंसे कुछ अधिक संस्कृत और समझदार थे। उनके स्थानमें दो-तीन और साधु थे, महन्तजीके पास काफी समय गप करने, चौपड़ खेलने और बीड़ी-तम्बाकू पीनेकेलिए था। वह थे भी मेरी ही उम्रके, इसलिए हम दोनोंमें खूब पटरी जम गई। मैं अक्सर उनके ही यहां रहता, चौपड़ खेलनेके अतिरिक्त एक गुजराती पुस्तक उनके यहा देखकर मैं उठाकर देखने लगा; कितने ही अक्षर तो पहिले हीसे परिचित थे, दूसरे-तीसरे दिन मैं उसे खूब पढने लगा, और भावार्थ समझनेमें भी कोई दिक्कत न थी। दामोदरदासजीने मुझसे बिहारके अच्छे धानोंका बीज मांगा था, जिसे परसा पहुँचनेपर मैंने भिजवा दिया था।

अहमदाबाद (जनवरी १९१४)—माघ उतर रहा था, जब कि मैं अहमदाबादकेलिए रवाना हुआ। अहमदाबादमें जमालदरवाजेसे बाहर थोड़ी ही दूरपर नरसिंह बाबाका मन्दिर साधु-सेवाकेलिए मशहूर हो चुका था। मेरे साथी वहां ही जा रहे थे, मैं भी उनके साथ वही जाकर धुनीके पास 'उतरा'। धीरे-धीरे देख रहा था, धुनी मुझे ज्यादा आकृष्ट कर रही है, किन्तु क्या गांजा या सूखेकी चिलमकेलिए ?—नही, बल्कि गँजेड़ी-भँगेडी ही परले दरजेके सैलानी भी होते हैं; उन्हींसे ज्यादा 'देश-देशान्तर' की बात सुननेको मिल सकती, उन्हींकी बतलाई अभिज्ञताके अनुसार मैं आगेकी यात्राका प्रोग्राम बना सकता था। कश्मीर, कुल्लू, काठियाचाड़, छत्तीसगढ़, अमरकंटक, आसामके दुर्गम तीर्थोंकी बातें यही धुनीके सामने सुनी जा सकती थीं। स्थानके ब्रजवासी महन्त बड़े सीधे-सादे व्यक्ति थे। एक मैलासा अचला, नगे पैर, नंगे शिर—बस यही वेष था। कामकेलिए उनको न आलस्य था, न सकोच। आंगनमें झाड़ू-बुहारू कर डालना यह उनकेलिए मामूली बात थी। गृहस्थ, उनको मानते थे, और महीनेमें बीस दिन किसी न किसीकी ओरसे भोज होता रहता था। गुजरात साधुसेवी-प्रान्तके तौरपर साधुओंमें बड़ा ही मशहूर है और उसमें भी अहमदाबाद। काली-रोटी, धवली-दाल (पूआ और खीर) को वहांके साधारण भोजके तौरपर समझा जाता था। अहमदाबादमें मैं एक मासके करीब रहा, और देख रहा था, बराबर पूड़ीके साथ किसी दिन हलवा, किसी दिन पूआ-खीर। कितने ही गृहस्थ स्थान हीमें सामान भेज देते थे, और कितने खानेकेलिए अपने घर बुलाते थे। उनके घर जाते वक्त घड़ी-घंटेके साथ साधुओंका जुलूस निकलता, लालसा होनेपर निशान (कीमती ध्वजायें) भी लगाकर चलते। एकाध बार साबरमतीकी दूसरी तरफ़ किसी गावमें भी हमें भोजन करने जाना पड़ा।

स्नान आदिकेलिए हमें साबरमती जाना पड़ता, जो स्थानसे बहुत दूर नहीं

थीं। यहां भी साधारण लोग धोबीको कपड़ा न दे खुद साफ़ कर लिया करते। नदी की धारा क्षीण थी, उसमें धुले कपड़ेका पानी मिल जाता, तो बहुत गन्दा हो जाता था। जाड़ेका दिन था, और धोनेवाले जरा देरसे काम शुरू करते थे, तब तक जाड़े पाले हीमें बड़े तड़के हम लोग जाकर स्नान कर आते थे। अभी तक साबरमतीमें गांधीजीका कोई सम्बन्ध स्थापित नहीं हुआ था, वह उस वक्त अफ़रीका हीमें थे। स्थानमें ज्यादातर अभ्यागत साधु थे, जो हफ्ता-दस दिन रहनेके बाद चल देते थे। महन्तजीके शिष्य और उत्तराधिकारी माधवदास गुजराती तरुण थे। कुछ पढ़े थे, किन्तु आगे बैठ गये थे। मुझसे मामूली बातचीत थी। एकाध बार उनके साथ मैं गुजराती गृहस्थ परिवारोंमें गया। उनमें अधिक शिक्षा, अधिक संस्कृति थी, जैसी कि हमारे यहांके नौकरी पेशा शिक्षित परिवारोंमें देखी जाती है। बीड़ीका भारी प्रचार पहिले-पहिल यहीं मैंने देखा, अभी वह बिहार और युक्तप्रान्तमें नहीं पहुँची थी। आगन्तुकके सामने भुना हुआ धनिया, बनी हुई कसैली तथा बीड़ी पेश की जाती थी। गुर्जरोंको भी पंचद्रविड़ोंमें शामिल किया गया है, किन्तु यहां छूतका ढोंग क्षुधा भर तमिलघरों जैसा देखा। पर्दा नहीं था, किन्तु यहांकी साड़ीसे तामिल-साड़ीका कोई सम्बन्ध न था। शायद मामाकी कन्यासे भांजेका ब्याह (?) यहां तक चले आनेके कारण यहांके ब्राह्मणोंको पंचद्रविड़ोंमें गिना गया हो। लोग यहांके कमजोर थे—बाजरेकी रोटीका देश, फिर इतने कमजोर क्यों?—कुछ लोगोंने बाजरेका मसहूर बखान किया है। स्त्रियोंसे पुरुष ज्यादा कमजोर, और कितनोंका कहना था, यहांकी स्त्रियां अबला नहीं सबला हैं; परन्तु शायद बनिया और क्लर्क श्रेणीको देखकर उनकी यह धारणा हुई, क्योंकि स्त्री-पुरुषोंमें ऐसा वैषम्य नहीं देखा।

अहमदाबादमें रहते मैंने गुजरातीकी कुछ पोथियां पढ़ीं। गुरु बनानेकी जरूरत नहीं थी, गुजरातीका हिन्दीके साथ वैसा ही सम्बन्ध है, जैसा हिन्दीके साथ भोजपुरी और मगहीका। गुजरात हिन्दी भाषा-भाषी प्रान्तोंकी कोटिमें क्यों नहीं आ गया, यह आश्चर्यकी बात है। अहमदाबादमें इतने दिन रहनेका कारण हुआ, मेरी परसासे आनेवाले रुपयेकी प्रतीक्षा। मैंने तारोंसे तार दिया था, देर होते देख वहांसे पत्र आया, और आखिर जब तक रुपया नहीं आवे, तब तक मैं इन्तजार कर गया।

अहमदाबादसे अब जाना था, काठियावाड़ और द्वारिकाकी ओर, किन्तु अहमदाबादके साथियोंने कहा—डाकोर जैसी होली इधर कहीं नहीं होती; इसलिए डाकोरकी होली देखकर द्वारिका जानेका निश्चय किया। हमारा [illegible] दिनोंमें हम लोग एक दूसरे स्थानमें, महन्तकी धर्मशालाके बाहर ही [illegible] आते थे। यहां देखते थे, स्त्रियोंको रास्तेपर अश्लील गान गाते। पुरुषोंपर

बतलाया, निशान यहां भी बन सकते हैं, किन्तु उनका कारबार करनेवाले कारीगर सूरतमे है। निशानमें जरीके सूतसे महावीरजीकी उभड़ी हुई मूर्ति बनाई जाती; इसमें शायद कुछ विशेष कारीगरीकी जरूरत होती।

देश देखना हो, तो पैदल चलो—इस सिद्धान्तका मै पूरा कायल हूँ, यद्यपि हर वक्त उसका पालन करना मुझसे भी नही हो सका। अबके अहमदाबादसे नड़ियादके रास्ते डाकोर पैदल आना तय किया। साथी थे, बहुत दिनोंसे गुजरातमें रहता एक नागा, तथा एक बस्ती जिलेके मोटे-तगडे 'रमतेराम' (पर्यटक)। गुजरातके गांव कुछ बुंदेलखंडके गैरपहाड़ी इलाके गांवो जैसे मालूम हुए। गावोमें भी जगह-जगह साधुओंके स्थान थे, जिनसे नागाजी परिचित थे। हम लोग वही ठहरते। नरसिंह स्थान (अहमदाबाद) की भाति यहां भी बडी-बडी गाये पाली हुई थीं। शामको घीमें चुपड़ी बाजरेकी रोटी, खट्टे मट्ठेकी कढ़ीके साथ मुझे जितनी स्वादिष्ट मालूम होती थी, उतनी वह काली-रोटी, धवळी-दाल भी नही। यद्यपि रहनेकी हमें जरूरत नही पडी, किन्तु गावोमें कितनी ही जगह चौपालें भी पथिकोकेलिए बनी थीं।

नडियादमें हम एक अच्छे वैरागी-स्थानमें ठहरे। महन्त अब तो उतना नही, किन्तु पहिले कुछ नागरिक जीवन पसन्द करते थे। उनके बैठकेमें अच्छे-अच्छे कौच, गद्दीदार कुर्सिया, झाड़-फनूस तथा तसवीरें टॅगी थीं। नागाजीने बतलाया, यह सब महन्तजीकी प्रेयसीकी देन है, जिसे मरे कुछ दिन हो गये, और जिसके बाद महन्तके जीवनमें उदासी आ गई। गुजरातके वैरागी-मठोंमें अधिकतर महन्त और स्वत्वाधिकारी युक्त-प्रान्त और बिहारके होते है। महन्तोंकी अवस्था सभी जगह एक-सी है, और सभी जगह प्रेयसियां सुलभ है, इसलिए इसमें किसी प्रान्तके पुरुषो और किसी प्रान्तकी स्त्रियोकी कमजोरी बतलाना गलत हैं। हमारे दोस्त बतलाना चाहते थे, कि गुजरातमे तरुण वैरागी सन्ततिप्रवाह कायम रखनेमें बडे सहायक है, लेकिन मैंने पूछा—जब अधिकतर इनका सम्बन्ध कुलीन विधवाओंसे होता है, तो सन्ततिप्रवाह कायम रखनेका सवाल कहा होता है? रास्तेमें हमारी बीती यात्राओंके वर्णन और नई यात्राओंकी योजनाके बारेमें बात होती रही। हिमालयके देवदारुओं और हिमाच्छादित श्वेत शिखरोंने मेरे हृदयको हर लिया था, इसलिए प्रकृतिके सौन्दर्य, साहसपूर्ण यात्राका जब सवाल आता, तो मै हिमालयका नाम लिया करता। द्वारिकाके तो अब पास पहुँच गये थे, और वहां पहुँच जाना कुछ दिनोंकी बात मालूम होती थी—यद्यपि वह फिर कभी पूरी न हुई। हम लोग आगेकी यात्रामें हिमालय और पंजाबको ही शायद ले रहे थे। बस्तीवाले बाबा हममेंसे सबसे कम घूमे हुए थे।

अबकी बार डाकोरमें 'चार सम्प्रदाय' में उतरे। वहाके महन्त नागाजीके

परिचित थे। आसन ऊपर कोठेपर था। हमारे पास ही नाहनके महन्तजीका आसन था। वह एक-दो साधुओंको अपने साथ नाहन ले जाना चाहते थे। कस्सी-वाले बाबा तैयार हो गये। आखिर रास्तेमें जो हिमालयकी तारीफ़का मैं पुल बाँधता आया था। साधुओंमें महन्तजीकी शिकायत भी करनेवाले थे, क्योंकि उन्होंने स्त्री रख रखी थी। साथ ही साधुसेवामें वह डाकोरके किसी संस्थासे पीछे न थे, अपनी सारी सम्पत्तिको साड़ी-सिन्दूरपर खर्च नहीं करते थे, इसलिए तारीफ़ करनेवालोंकी कमी न थी। भारी सम्पत्तिके स्वामी, तथा वैराग्यके आदर्शपर अल्पतम विश्वास रखनेवाले महन्तोंको नागरिक जीवनके उपभोगोंसे वंचित रखकर, अखंड ब्रह्मचर्य पालन करनेकी उनसे आशा रखना, वस्तुतः उन्हें आत्मवंचना एवं परवंचनाकेलिए उत्साहित करना था। 'चार सम्प्रदाय' के महन्तजी बहुत विनीत और मिलनसार पुरुष थे। होलीके दो-एक दिन पहिले मैं डाकोर पहुँचा था, और एक-दो दिन बाद चला आया, इतने कम समयमें महन्तजीसे कितना मिलने-जुलने-का मुझे मौका मिला, यह तो मुझे याद नहीं, किन्तु एक बार अपने अस्तबलमें उन्होंने मुझे अपनी अच्छी घोड़ी दिखलाई थी। सवारी मैंने नहीं की, उसकेलिए जी तो किया होगा जरूर।

डाकोरमें उसी तरहकी काली मोटी-सी रणछोड़ (मगधराज जरासन्धसे युद्धसे पराजित हो मथुरासे द्वारका भाग आनेके कारण कृष्णका यह नाम पड़ा) की मूर्ति है। कहते हैं, रणछोड़ने द्वारिका छोड़ डाकोर आनेकी इच्छा एक भोले-भाले गृहस्थसे प्रकट की, और वह उन्हें डाकोर ले आया। डाकोरमें मैं उनके दर्शन-केलिए एक-दो बार जरूर गया होऊँगा, किन्तु देर तक प्रतीक्षा करना और कुछ भीड़-भड़क्केके सिवा और कोई बात याद नहीं। होलीका जुलूस सचमुच बड़ी तैयारीके साथ निकला था। वैरागी साधुओंने गुजरातको आमतौरसे और डाकोरको खास तौरसे अपना अखाड़ा बना रखा है। उस दिन वह अपने गदका-फरी, त्रिशूल, बाना-बनैठीके हाथ दिखला रहे थे। चारों ओर अपार दर्शकोंकी भीड़ दिखाई दे रही थी। निशान चल रहे थे—सो तो याद नहीं, किन्तु बाजे बज रहे थे, अबीर उड़ाई जा रही थी, शायद होली भी गाई जा रही थी, यद्यपि उत्तरीय भारतकी भाँति गन्दी नहीं; क्योंकि उनके गानेवाले साधु थे; तो भी कृष्ण-राधा, गोपी-कृष्णके नामपर उसे सरस बनाया जा सकता था।

डाकोर आते ही मैंने परसा तार दिया था, और होलीके दूसरे ही दिन भाड़े मनीआर्डरके साथ खबर आई—जल्दी काम है तुरन्त चले आओ।

१३

परसा वापिस

डाकोरसे परसा बहुत दूर है और मुझे रतलाम, भूपाल, बीना, कटनी, प्रयाग, काशी होते गुजरना पड़ा; किन्तु एक दिनकेलिए काशीको छोड़कर रास्तेमें कहीं नहीं उतरा। परसा आनेपर मालूम हुआ—डोरीगंजके महन्त मर गये; उनकेलिए उत्तराधिकारी चुननेका मामला पेश है। डोरीगंज छपरासे कुछ मील पूर्व गंगातटपर किसी वक्त एक अच्छा बाजार था, जब कि रेलके आनेसे पहिले गंगा द्वारा व्यापार हुआ करता था। जहां लक्ष्मी निवास करना चाहती है, साधु लोग भी वहां अपना आवास बना लेते हैं—इस नियमके अनुसार परसाके किसी साधुने जाकर वहां अपनी छोटी-सी कुटिया बांधी, वह धीरे-धीरे बढ़कर एक छोटा-मोटा मठ बन गया। बाजारकी आर्थिक अवनतिका प्रभाव मठपर भी पड़ना जरूरी था, तो भी उसके पास कुछ खेत और महन्तजीके पास थोड़ेसे पैसे थे। परसाके महन्त प्रधान स्थानके स्वामी होनेके कारण महन्त बनानेका अधिकार रखते थे। डोरीगंजके महन्त यकायक मरे थे, और परसाके महन्तको यह सोचनेका मौका भी नहीं मिल पाया था, कि वहां कौन महन्त बनाकर भेजा जावे। मरने या सख्त बीमार पड़नेकी खबर आनेपर मठकी सम्पत्तिकी देखभालकेलिए किसी होशियार आदमीको भेजना जरूरी था—होशियार भी हो और महन्तजीका विश्वासपात्र भी, ऐसे आदमीका परसामें अभाव-सा था। लाचार हो उन्होंने अपने एक भतीजा-शिष्य रामलखनदासको भेज दिया। बलिया जिलेके सैथवार गांवमें भी परसा मठका एक अच्छा शाखामठ है, वहांके पहिले महन्त, रामलखनदासके गुरु थे। उनके मरनेपर रामलखनदासको बड़ी आशा थी, कि वही महन्त होंगे, किन्तु उनको महन्त बनानेसे परसाके महन्तको भेंट-पूजा कम मिलती, नया महन्त अपने पूर्वजका शिष्य होनेसे मठकी चल सम्पत्तिपर अधिकार रखता, तथा उसे भविष्यकेलिए अपने पास ही रखनेकी चाह रखता। परसा महन्तने 'मौनीजी'को सैथवारका महन्त बना दिया, रामलखनदासका नाराज होना जरूरी था। रामलखनदास वही साधु थे, जिन्होंने लड़के सुदर्शनदासको परसा महन्तके पास शिष्य होने न देकर, सोते हीमें उसे कंठी और मन्त्र दे दिया था।

डोरीगंजमें जाकर रामलखनदासने सोचा कि यहां भी महन्तजी चाहेंगे, सारे रुपयोंको अपने पास रख लेना, और कुछ दूसरा करनेपर वह रामलखनदासको महन्त भी न बनावेंगे, इसलिए अबकी बार महन्तजीको छकानेकी उन्होंने पूरी तैयारी की थी। पहिले स्थानके गृहस्थ शिष्योंको समझा दिया, कि महन्तजी चाहेंगे डोरीगंजकी मिट्टी तकको खोदकर उठा ले जाना। उनकी यही रवैया हर जगह होती है। मठके 'सेवकों'ने तय किया, कि महन्तजीको बैमा नहीं करने देंगे। इसकी कुछ भनक

परिचित थे। आसन ऊपर कोठेपर था। हमारे पास ही नाहनके महन्तजीका आसन था। वह एक-दो साधुओंको अपने साथ नाहन ले जाना चाहते थे। बस्तीवाले बाबा तैयार हो गये। आखिर रास्तेमें जो हिमालयकी तारीफ़का मैं पुल बाँधता आया था। साधुओंमें महन्तजीकी शिकायत भी करनेवाले थे, क्योंकि उन्होंने स्त्री रख रखी थी। साथ ही साधुसेवामें वह डाकोरके किसी स्थानसे पीछे न थे, अपनी सारी सम्पत्तिको साड़ी-सिन्दूरपर खर्च नहीं करते थे, इसलिए तारीफ़ करनेवालोंकी कमी न थी। भारी सम्पत्तिके स्वामी, तथा वैराग्यके आदर्शपर अल्पतम विश्वास रखनेवाले महन्तोंको नागरिक जीवनके उपभोगोंसे वंचित रखकर, अखंड ब्रह्मचर्य पालन करनेकी उनसे आशा रखना, वस्तुतः उन्हें आत्मवंचना एवं परवंचनाकेलिए उत्साहित करना था। 'चार सम्प्रदाय' के महन्तजी बहुत विनीत और मिलनसार पुरुष थे। होलीके दो-एक दिन पहिले मैं डाकोर पहुँचा था, और एक-दो दिन बाद चला आया; इतने कम समयमें महन्तजीसे कितना मिलने-जुलनेका मुझे मौका मिला, यह तो मुझे याद नहीं; किन्तु एक बार अपने अस्तबलमें उन्होंने मुझे अपनी कच्छी घोड़ी दिखलाई थी। सवारी मैंने नहीं की, उसकेलिए जी तो किया होगा जरूर।

डाकोरमें उसी तरहकी काली भोंडी-सी रणछोड़ (मगधराज जरासन्धसे युद्धमें पराजित हो मथुरासे द्वारका भाग आनेके कारण कृष्णका यह नाम पड़ा) की मूर्ति है। कहते हैं, रणछोड़ने द्वारिका छोड़ डाकोर आनेकी इच्छा एक सीधे-सादे गृहस्थसे प्रकट की, और वह उन्हें डाकोर ले आया। डाकोरमें मैं उनके दर्शनकेलिए एक-दो बार जरूर गया होऊँगा, किन्तु देर तक प्रतीक्षा करना और कुछ भीड़-भड़क्केके सिवा और कोई बात याद नहीं। होलीका जुलूस सचमुच बड़ी तैयारीके साथ निकला था। वैरागी नागोंने गुजरातको आमतौरसे और डाकोरको खास तौरसे अपना अखाड़ा बना रखा है। उस दिन वह अपने गदका-फरी, लेजिम, बाना-बनेठीके हाथ दिखला रहे थे। चारों ओर अपार दर्शकोंकी भीड़ दिखाई पड़ रही थी। निशान चल रहे थे—सो तो याद नहीं, किन्तु बाजे बज रहे थे, अबीर लगाई जा रही थी, शायद होली भी गाई जा रही थी, यद्यपि उत्तरीय भारतकी भाँति गन्दी नहीं; क्योंकि उनके गानेवाले साधु थे; तो भी कृष्ण-राधा, गोपी-कृष्णके नामपर उसे सरस बनाया जा सकता था।

डाकोर आते ही मैंने परसा तार दिया था, और होलीके दूसरे ही दिन मारके मनीआर्डरके साथ खबर आई—जरूरी काम है तुरन्त चले आओ।

१३

परसा वापिस

डाकोरसे परसा बहुत दूर है और मुझे रतलाम, भूपाल, बीना, कटनी, प्रयाग, काशी होते गुजरना पड़ा; किन्तु एक दिनकेलिए काशीको छोड़कर रास्तेमें कही नही उतरा। परसा आनेपर मालूम हुआ—डोरीगंजके महन्त मर गये; उनकेलिए उत्तराधिकारी चुननेका मामला पेश है। डोरीगंज छपरासे कुछ मील पूर्व गंगातटपर किसी वक्त एक अच्छा बाजार था, जब कि रेलके आनेसे पहिले गंगा द्वारा व्यापार हुआ करता था। जहां लक्ष्मी निवास करना चाहती है, साधु लोग भी वहा अपना आवास बना लेते हैं—इस नियमके अनुसार परसाके किसी साधुने जाकर वहा अपनी छोटी-सी कुटिया बाधी, वह धीरे-धीरे बढकर एक छोटा-मोटा मठ बन गया। बाजारकी आर्थिक अवनतिका प्रभाव मठपर भी पडना जरूरी था, तो भी उसके पास कुछ खेत और महन्तजीके पास थोड़ेसे पैसे थे। परसाके महन्त प्रधान स्थानके स्वामी होनेके कारण महन्त बनानेका अधिकार रखते थे। डोरीगंजके महन्त यकायक मरे थे, और परसाके महन्तको यह सोचनेका मौका भी नही मिल पाया था, कि वहां कौन महन्त बनाकर भेजा जावे। मरने या सख्त बीमार पड़नेकी खबर आनेपर मठकी सम्पत्तिकी देखभालकेलिए किसी होशियार आदमीको भेजना जरूरी था—होशियार भी हो और महन्तजीका विश्वासपात्र भी, ऐसे आदमीका परसामें अभाव-सा था। लाचार हो उन्होंने अपने एक भतीजा-शिष्य रामलखनदासको भेज दिया। वलिया जिलेके सॅथवार गावमें भी परसा मठका एक अच्छा शाखामठ है, वहाके पहिले महन्त, रामलखनदासके गुरु थे। उनके मरनेपर रामलखनदासको बडी आशा थी, कि वही महन्त होगे, किन्तु उनको महन्त बनानेसे परसाके महन्तको भेंट-पूजा कम मिलती, नया महन्त अपने पूर्वजका शिष्य होनेसे मठकी चल सम्पत्तिपर अधिकार रखता, तथा उसे भविष्यकेलिए अपने पास ही रखनेकी चाह रखता। परसा महन्तने 'मौनीजी'को सॅथवारका महन्त बना दिया, रामलखनदासका नाराज होना जरूरी था। रामलखनदास वही साधु थे, जिन्होंने लड़के सुदर्शनदासको परसा महन्तके पास शिष्य होने न देकर, सोते हीमें उसे कंठी और मन्त्र दे दिया था।

डोरीगंजमें जाकर रामलखनदासने सोचा कि यहां भी महन्तजी चाहेंगे, सारे रुपयोको अपने पास रख लेना, और कुछ दूसरा करनेपर वह रामलखनदासको महन्त भी न बनावेंगे, इसलिए अबकी बार महन्तजीको छकानेकी उन्होने पूरी तैयारी की थी। पहिले स्थानके गृहस्थ शिष्योको समझा दिया, कि महन्तजी चाहेंगे डोरीगंजकी मिट्टी तकको खोदकर उठा ले जाना। उनकी यही रवैया हर जगह होती है। मठके 'सेवकों'ने तय किया, कि महन्तजीको वैसा नहीं करने देंगे। इसकी कुछ भनक

महन्तजीको लग गई थी, इसलिए उन्होंने मुझे तार दिया था। मैंने सब बात सुनकर इसे अनुचित और नीतिविरुद्ध समझा कि डोरीगंजकी सारी चल सम्पत्ति परसा चली आवे। आखिर वहां भी मन्दिर और मठ था। साथ ही रामलखनदासके वहांकी धार्मिक जनताको महन्तजीके खिलाफ भड़कानेकी भी बात मैंने सुनी। सब सोचकर मैंने गुरुजीको समझानेकी कोशिश की, लेकिन वह कब उसे पसन्द करते। उन्हें ईंट-चूने-पत्थरोंपर स्वाहा करनेकेलिए हर साल दस-पन्द्रह हजार रुपये चाहिए थे, और समझते थे डोरीगंजके हजार-बारह सौ रुपये बहुत कामके साबित होंगे।

श्राद्ध या भंडाराका दिन आया। एकाध दिन पहिले ही गुरुजीके साथ मैं भी डोरीगंज पहुँचा। महन्तजीने जहां रुपये तलब किये, वहीं स्थानीय गृहस्थोंके कान खड़े हो गये। रामलखनदासने मुस्कराते हुए इशारा करके कहा—'मैं कह रहा था न, महन्तजीकेलिए डोरीगंजका स्थान चूल्हे-भाड़में जाये, उन्हें तो जरूरत है रुपयों-से।' गृहस्थ-सेवकोंका भी आखिर मठपर कुछ अधिकार होता है, वे कई पीढ़ीसे डोरीगंजके महन्तके शिष्य होते आ रहे थे, मठकी सम्पत्तिमें उनके दानका भी रुपया था, और उनकी सन्तानका मठके साथ चिरस्थायी सम्बन्ध था, फिर वे नये महन्तको खाली हाथ काम शुरू करनेकी बातको क्यों पसन्द करने लगे? उन्होंने सरलोंके साथ कह दिया, कि मठकी मरम्मत आदि कितने ही काम बाकी हैं, जिनकेलिए ये [illegible] और उसे 'चौकी [illegible]

[illegible]

हुए बोलना तथा गली-कटी सुनाना यह महन्तजीकी शान बाहर था। [illegible] वहां चौकी तोड़नेसे क्या होनेवाला था, यदि गांवभरके लोग एक साथ थे, तो बीस कोस दूरका बड़ेसे बड़ा आदमी भी वहां क्या कर सकता था? बेचारे रामलखन-दास अनुभवी नहीं थे, उनको जरूरतसे ज्यादा आत्मविश्वास था, और जनताको अपनी ओर करनेकी आवश्यकताको नहीं समझ पाये थे, अबकी बार वे उन गलतियोंको दुहराने नहीं जा रहे थे।

न्योता पाकर आसपासके कई स्थानोंके महन्त और साधु आये हुए थे। अच्छे खासे भंडारेकी तैयारी थी। रुपये देनेसे इनकार करनेपर महन्तजी अड़ गये—'तो मैं रामलखनदासको महन्तीकी चादर ही नहीं दूंगा।' मुझे समझानेमें बहुत परिश्रम करना पड़ा। मैंने कहा—'आपको चादर न देनेपर भी रामलखनदास डोरीगंजसे जानेवाले नहीं हैं, पिछले दस-बारह दिनोंमें आपके खिलाफ लोगोंको भड़काकर उन्होंने अपनी स्थिति मजबूत कर ली है। फिर नाहक बदनामी लेनेसे फायदा? आखिर हजार-बारह सौ रुपयोंसे आपका कुछ होने जानेवाला नहीं है।' 'चौकी तोड़' उठनेके बाद उनका पारा कुछ नीचे उतरता है, यह सबको मालूम था। अन्तमें हमलोगोंकी बातोंका असर हुआ, उन्होंने मुंह फुलाये हुए, किन्तु बाहरसे चौथ म

प्रकट करते हुए सब काम किया। चद्दर दे रामलखनदासको महन्त बनाया, उनके बाद आये हुए दूसरे महन्तोंने भी चद्दर दी। रामलखनदास सैथवारके नही तो डोरीगंजके महन्त हुए।

रामनवमी परसा में हुई। परसामठकी रामनवमी, जन्माष्टमी बहुत प्रसिद्ध है। रंडियोंकी नही, किन्तु छोकरोंकी जितनी नाच-मँडलिया आ जावें, उनको खाना और विदाई मिलती है। जन्माष्टमीके भादोमें पड़नेसे वर्षाके कारण उसमें विघ्न भी पड़ सकता है, किन्तु रामनवमीमें दो दिन तक शामियानेके नीचे नाच होती रहती है। जनताको तो मनोरंजन चाहिए—वह चाहे धर्मके नामपर हो या दूसरे नामपर। आसपासके पचासो गावके लोग नाच देखनेकेलिए डटे रहते। सवेरे बडबाजा, और रोशनचौकी साधारण तौरसे बजती, १२ बजे दिनको रामजन्म होता, उस वक्त बाजेकी आवाजसे कानका परदा फटने लगता, परसादी लेनेकेलिए लोगोंकी भीड़ लग जाती। दोपहरको खा-पीकर निश्चिन्त हो नाच शुरू होती, और फिर चलती ही रहती। नाच-गाना देखनेका मुझे शौक न हो सो बात नहीं, किन्तु जिस तरहके गवैये वहां जमा होते थे, उनकेलिए नींद हराम करना मै अपने लिए उचित नही समझता था। कभी-कभी कोई कत्थक या वास्तविक गायक पहुँच जाता—और ऐसा अवसर कम ही होता, क्योंकि गुरुजीकेलिए सब धान बाईस पसेरी थे—तो जरूर कुछ समय तक सुनता।

अबकी लौटकर परसा आनेपर एक प्रिय परिचित चेहरेको देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई, वह था वनमाली ब्रह्मचारीका चेहरा। वनमाली वही जो बनारसमें मोतीरामके बागमें मेरे वेदके सहपाठी थे, मेरे अपने जिलेके रहनेवाले थे, मेरे मित्र थे। मालूम हुआ, मेरे बनारससे चले आनेपर उनके मनमें भी खलबली पैदा हुई, और वह भी आकर परसामें गुरुजीके शिष्य हो गये, नाम पड़ा वरदराजदास—गुरुजी दिव्य देशोके पर्यटनसे प्रभावित हो आचारियोकी नकल करना चाहते थे, इसीलिए उन्होने शंख चक्र देना शुरू किया था, और इसीलिए वरदराज जैसा आचारी नाम हमारे मित्रको दिया गया। वरदराजको पास पानेसे मुझे खुशी और अप्रसन्नता दोनों हुई। खुशी तो इसलिए कि अब मेरे पास एक अभिन्न हृदय मित्र आ गया था, जिसके सामने बिना कोई परदा रक्खे अपने हृदयके भावों—सन्तोषों, असन्तोषों—को रख सकता था; अप्रसन्नता इसलिए हुई, कि परसामठके समाज, उसके विद्याविमुख तथा निम्नकोटिके वातावरणसे मैं स्वयं ही असन्तुष्ट था; उसमें एक और अपने मित्रको फँस गये देखना मुझे अच्छा नही मालूम हुआ। तो भी स्वार्थके खयालसे तो खुशीकी मात्रा ही मुझमें ज्यादा पैदा हो सकती थी।

मेरेलिए फिर वही चर्चा। जमींदारीके गावोंको देखो, कागज-पत्र समझो, मामले-मुकदमेकेलिए कारपर्दाजोंको हिदायत करो, दिनों-दिन बढते कर्जके बोझेको

फिक्रमें मरो, और इन सब बातोंके साथ अकलका अपमान करनेकेलिए हर वक्त तैयार रहें चाटुकारोंकी खुशामदोंको सुनो। गर्मीके दिन, किसी तरह नौ-दस बजा दिये, फिर तो गर्मीमें बाहर जाने या किसीसे मिलने जुलनेकी बात नहीं; कोठरीमें बैठा पंखेके नीचे या वैसे कुछ किताबें पढ़ता, बरदराजसे बातें करता, या सो जाता। चार बजे उठनेपर फिर कुछ इधर-उधर मठके कामको देखता। ठंडा होनेपर घाहे घोड़ेपर चढ़कर या टमटममें चार-छै मीलकी सैर करता। टमटमसे जानेपर एकमा-की ओर जाता। टमटम कितनी बार उलटा होगा, गिरा भी होऊँगा, घोड़ेसे गिरने-की तो नौबत नहीं आई, किन्तु कभी मुझे चोट-फाट नहीं आई। एक दिन एकमासे टमटम हाँके आ रहा था, घोड़ा कुछ देखकर भड़का, और तुरन्त एक पहिया बीचके ऊँचे रास्तेसे डेढ़ हाथ नीचे जा पड़ा। पहिया नीचे जानेका मुझे ख्याल है किन्तु किस वक्त दिमागको उसकी खबर मिली, किस वक्त उसने हाथ-पैरोंको फाँद जानेकी इजाजत दी, यह मुझे नहीं मालूम। टमटम बिल्कुल उलट गया, उसका बम घोड़ेकी पीठपर चला गया, खैरियत यही हुई कि घोड़ा नहीं उलटा। घोड़ा सहित टमटमके उलटनेकी भी नौबतें आईं, किन्तु मैं उसी तरह फुटबालकी तरह उछल जाता। एक बारकी घटना मुझे याद है, जिसका स्मरण आनेसे अब भी रोमांच हो जाता है। परसासे जल्दीमें किसी गाँवको जाना था। टमटम और बग्घी द्वारा जानेमें देर लगेगी, और ज्यादा दिनका काम भी न था, इसलिए साईसको पैदल भेजकर मैं घोड़े पर साधारण गद्दी कस, सरहरा करनेवाली बिना काँटेकी लगाम लगा परसासे चल पड़ा। बाजारकी सड़क जहाँ एकमासे आनेवाली सड़कमें मिलती है, वहाँ चार-चार पाँच-पाँच वर्षके कितने ही बच्चे चौरस्तेपर खेल रहे थे। घोड़ा दौड़ाये हुए मैं आ रहा था, और जब नजदीक आ गया, तो लड़कोंको देखा। लगाम रोकी, किन्तु वह उसकी क्या सुने। घोड़ा जिस वक्त लड़कोंके खेलनेकी जगहपर टाप मारता गुजरा, उस वक्त मैं संज्ञाहीन-सा था, मेरी आँखें बलात् मुँद गई थीं। आगे रोकनेमें सफल हो घोड़ेको मोड़ा, मेरा चित्त खिल गया, जब देखा, कि सभी बच्चे भागकर सड़कके दोनों किनारोंपर खड़े हो गये हैं। युग-प्रतिभा उनकी काम कर गई। शायद कुछ अधिक उमरके होनेपर उनमेंसे एकाध जरूर भौचक हो वहाँ रह जाते।

इसी साल या इससे पहिले वाले सालमें जब मैं परसामें था, भारतीय पुरातत्त्व-विभागके दो फोटोग्राफर एम्० गांगोली तथा पिंडीदास पुरानी वस्तुओंका फोटो लेनेके लिए आकर एकमाके डाकबंगलेमें ठहरे। वह परसा भी आये। उस वक्त मैं पुरातत्त्व-सम्प्रदायके नामसे भी अपरिचित था, फिर उनके कामके महत्त्वको क्या समझता? पिंडीदासने मठमें आकर कुछ पूछ-ताछ की, और मैं ही ऐसा आदमी था, जिससे वह कुछ पूछ-ताछ करते थे। उस वक्त मन्दिरके उस सभामंडपको तोड़ दिया गया था—जिसमें कि कितनी ही सुन्दर नक्काशीके सामनी काठकी टोड़ियाँ लगी हुई

थी। उन्होंने बाकी खड़े मन्दिर-शिखर और समाधिके फ़ोटो लिये, मेरा भी पहिला फ़ोटो इसी वक्त लिया गया, पिंडीदासजीने उसकी एक कापी दी भी थी, किन्तु वह अयोध्या जाते वक्त मनकापुरमें वरदराजसे खो गई। उन्होंने एक फ़ोटो घोड़ेपर भी लिया था और पता दिया था इंडियन म्युजियम कलकत्ताका; किन्तु मैंने उसकेलिए चिट्ठी नही लिखी। दोनों सज्जनोंको इधर-उधर जानेकेलिए मैंने अपना टमटम दे दिया था, न देनेपर उन्हें पुराने ढंगके एकमाके एक्कोंपर चढ़कर जाना पड़ता, जिनपर खाकर सवारी करनेपर पेट स्वतः खाली हो जाता था।

बहरोली गांव ठीकेपर दिया जा चुका था, उसके बाद जानकीनगर (थाना बसन्तपुरके बिल्कुल नजदीक) ही मठका दूसरा बडा गाव था। इसे परसाके बाबुओंने 'जानकी'जीके राग-भोगकेलिए प्रदान किया था। उस समय इसका नाम बौंडैया था। पीछे कर्ज या मालगुजारीमें बाबू लोगोंकी जमींदारी नीलाम हो गई, नये खरीददारोंने और गांवोंके साथ बौंडैयाको दखल करना चाहा, किन्तु तबतक बौंडैया जानकीनगरमें परिणत हो गई थी। खोजकर हार गये, उस नामका गांव नहीं मिला—यही पुरानी कहावत है। जानकीनगरमें मठकी बाईस सौ रुपयेकी आमदनी थी, सरकारी मालगुजारी, दायमी-बन्दोबस्तके अनुसार सौ या सवा सौ देना पड़ता था, जिसे लार्ड कार्नवालिसके वक्त मुकर्रर किया गया था। गुरुजीके साथ मैं भी जानकीनगरमें जमींदारीकी देख-भाल करने गया था। बिहारका जमींदार छोटा मोटा राजा है—कमसे कम उस वक्त था, स्त्री-पुरुषके झगड़ेमें भी जुरमाना लेता था, मामूली मारपीटके झगड़े थाने तक जाने नही पाते थे, दोनों ओरसे कुछ ले-देकर जमींदार या उसके कारपर्दाज दबा देते थे। जमींदार न्याय करते हों, सो बात नही, उन्हें तो हर साल जुरमानेमें अधिकसे अधिक रुपये मिलने चाहिए थे। मैं भी उस वक्त जमींदारोंके इस अधिकारको दूसरी बहुत सामाजिक बातोंके साथ सनातन और जायज समझता था, यद्यपि मेरी कोशिश थी पूरी न्याय करने की। जानकीनगरमें किसी जबर्दस्त आदमीको दूसरे कमजोरके ऊपर अत्याचार करते मैंने पाया। गवाही-साखीसे कसूर साबित हुआ। मैंने जुरमाना किया। जमींदारके कारपर्दाज गांवके जबर्दस्त आदमीका ही पक्ष लेना पसन्द करते है, उन्होंने मुझसे जुरमाना छुड़वानेकेलिए कोशिश की। किन्तु इस बारेमें मेरे स्वभावको वह जानते थे; फिर उन्होंने गुरुजीसे सिफ़ारिश करनी शुरू की। उन्होंने जुरमाना माफ़ कर दिया। मुझे यह बहुत नागवार गुजरी। नियम और व्यवस्थाका पद-पदपर अवहेलना करना उनके स्वभावमें था—यह मैं जानता था; फिर भी मैंने अपनी अप्रसन्नता प्रकट की; और नाराज हो वहांसे सीधे परसा चला आया।

लीची शुरू हो गई थी, आमके आनेमें बहुत देर न थी, तो भी नही कह सकता मीठी-मीठी लीचियां मेरे मनको बहलानेमें समर्थ हुई थी। परसाका रहना मुझे

सिर्फ़ अपने समयको बरबाद करना मालूम होता था—उस समयको पढ़ने या दुनियाकी सैरमें लगा सकता था। वरदराज मठहीपर थे, और उनसे भविष्यके कार्यक्रमपर बात होती रहती थी। यागेशके बहुतसे गुण वरदराजमें थे। दोनों नये स्थानों, नये दृश्योंको देखना पसन्द करते थे, दोनों मुझसे घनिष्ठ अनुराग रखते थे, और साथ ही दोनों पढ़ने-लिखनेको ज्यादा महत्त्व नहीं देते थे; इस तीसरी बातमें यदि वे मेरे सहरुचि रखनेवाले होते, तो शायद जीवनकी दौड़में बहुत दूर तक हमारा साथ रहता।

जिस वक्त मैंने कर्नैलासे सम्बन्ध तोड़ा नहीं था और बनारसमें पढ़ रहा था, उसी समय पिताजी कनैलासे पूर्व जिगरसंडी गाँवकी एक जमींदारी खरीदना चाहते थे। एक बार उसके मालिक दस्तावेज लिखने भी गये थे, किन्तु किसी बातके कारण पटरी नहीं जमी। पीछे उन लोगोंने उस जमीनको एक दूसरे आदमीको लिख दिया। पिताजीने अपनी सबसे छोटी बहिनके ससुरके नामसे—जिनके नाम कि उस जगहकी जरा-सी जमीन पहिले साल लिखी जा चुकी थी—हकशफ़ा दायर किया था, अब हकशफ़ामें उनकी जीत हो गई। उन्हें दूसरे बैंदारको रुपया लौटाना था। मीयाद नजदीक और यहां नकद रुपये नदारद। कर्जपर दिये हुए रुपये उस वक्त लौट न सकते थे। मेरे चचा प्रताप पांडे कुछ दस्तावेजोंको लिये तत्काल कुछ रुपये कर्ज लेनेके खयालसे परसा आये। मैं समझ सकता था, कि असाधारण घबराहटमें ही वह इधर आनेपर बाध्य हुए, किन्तु मैं इस तरहके मामलेमें ऐसे भी हाथ नहीं डाल सकता था, और इस वक्त तो अभी-अभी झगड़कर जानकीनगरसे मैं चला आया था। दूसरोंके साथ रूखे बरतावके मेरे बहुत कम उदाहरण हैं, इस बार भी एक ऐसा ही उदाहरण मेरा अपने चचाके साथ हुआ, जिसकी स्मृति मुझे सदा अप्रिय मालूम होती है। मैंने कह दिया—'मैं कुछ नहीं जानता, आप महन्तजीके पास जायें।'

वर्षा शुरू हो गई थी। उस साल आमोंकी फ़सल अच्छी आई थी, अथवा दुनियाकेलिए अच्छी फसल आवे चाहे नहीं, मेरे जैसी स्थितिके लोगोंकेलिए आम दुर्लभ चीज नहीं थे। फसलके वक्त उस समयके फलोंको ही अपने भोजनका प्रधान भाग बनाना मेरी आदत है, चाहे दूसरी खाद्य-वस्तुओंसे वह कितने ही महँगे क्यों न हों; हाँ, बारहों मास मिलनेवाले फलोंके बारेमें मेरा यह पक्षपात नहीं। पके कटहलको पेट-पेटभर खाते देखकर मेरे साथी डरने लगते थे, किन्तु मैं बड़े चावसे खाता था। इस वक्त आमोंका खूब दौर-दौरा था। सवेरे, दोपहर और शामके भोजनमें काफी परिमाणमें उनका रहना बहुत जरूरी था। गुरुजीको डर था, कि मैं फिर किसी तरफ निकल जाऊँगा, इसलिए खिदमतगारके अतिरिक्त एक सिपाही और एक-दो साधु मुझपर पहरा देनेकेलिए नियुक्त किये गये थे। दरअसल रातको

सोते वक्त, बिना हथकड़ी-बेड़ी तथा कालकोठरीके मैं एक कैदीसे बेहतर हैसियत नही रखता था। मेरा दिमाग भागनेकी ताकमें था, अबके वरदराज भी मेरे सहयात्री बननेको तैयार थे। दोनोका साथ निकलना असम्भव मालूम हुआ, इसपर तय किया गया कि मैं निकलकर १०, १२ मील दूर महाराजगंजके एक मठमें ठहरूँ, वही वरदराज भी आ मिलें, फिर दोनों साथ यात्रा शुरू करें।

एक दिन मुझे मौका मिल गया। पानी बरस रहा था, और रात थी। खाली देह लिये महाराजगजके उस मठमें पहुँचा। दूसरे या तीसरे दिन वरदराज भी पहुँच गये। हम दोनों साथ परसामठके एक अच्छे शाखामठ बगौरामें गये, जो कि वहांसे तीन-चार मीलपर था। महन्तजी पहिलेसे भी परिचित थे। बड़ी आवभगत हुई। वे समझ गये हम भागकर आये है, लौटानेकी बहुत कोशिश की, किन्तु हमने कहा—वहां रहना वक्त बरबाद करना है, अयोध्यामें रहेंगे, तो कुछ पढ़ेंगे। महन्तजी खुद तो पढ़े-लिखे नही थे, लेकिन उसकी कद्र जानते थे, तभी तो अपने एक शिष्यको बनारसमें पढ़नेकेलिए भेज रखा था। उस वक्त बगौरामें पूड़ी और आम ऊपरसे दूधका भोग लगता था। परसाकी तरह बगौरामें कितने ही बड़े पुराने तथा धनी जमीदार परिवार हैं। इस मठकी चार-पाच हजार वार्षिक आयकी जमीदारीका अधिकाश भाग वहाके बाबू लोगोका ही दिया हुआ था। परसामें बाबू लोगोका मठकी संरक्षताको लेकर जबर्दस्त मुकदमा हो चुका था, बगौरामें अभी नही हुआ था; किन्तु उस वक्त किसको मालूम था, कि वह गर्भमें है और अचल 'सीता' (मन्दिरकी मूर्ति) केलिये चढ़ाई रेशमी साडी किसी चलती-फिरती सीताके बदनपर पहुँचकर गजब ढायेगी।

दो चार दिन बगौरा रहकर हम अयोध्याको रवाना हो गये।

१४

अयोध्यामें तीन मास

(१९१४ जुलाई-सितम्बर)

दुरौंदा से गाड़ीमें चढते वक्त हम दो डब्बोंमें बैठ गये थे। मैंने वरदराजको कह दिया था, कि गोरखपुरसे अगले स्टेशनपर उतर पडना। शायद हमलोगोंमेंसे एक बिना टिकटका था, नहीं तो वरदराज वहांका उतरना न भूलते, और न हम दोनोंको दो डब्बोंमें बैठनेकी जरुरत पड़ती। मैं जिस स्टेशनपर उतरा शायद वह डोमिनगढ़ था। ढूंढ़ा, लेकिन वहां वरदराज का पता नही। स्टेशनमास्टरसे परिचय हो गया। शामको उन्हींकी सहायतासे रवाना होकर मनिकापुरमें ट्रेन बदल लकड़मंडी पहुँचा। अयोध्या सामने दिखलाई पड़ रही थी। बिना पैसा-कौड़ी

जा रहा था, किन्तु अब बिना पैसा-कौड़ी भी काफ़ी दुनिया देख चुका था, इसलिए अयोध्याकी ओर पैर बढ़ाना घरकी ओर जाना-सा था। बरसात होनेके कारण इस वक्त पुल नहीं स्टीमर चल रहा था, और शायद गोलाघाटपर लगता था। स्वर्गद्वारपर विदेहीजीके स्थानका नाम मैं पहिले ही सुन चुका था, इसलिए वहीं जाकर उतरा। नीचे सीढ़ीकी बाईं ओरकी कोठरीमें रहनेकेलिए जगह मिली।

सावनका महीना अयोध्यामें बहुत चहल-पहलका होता था। आधी अयोध्या मन्दिरों और मठोंसे भरी हुई है, इस महीनेमें हर मन्दिरमें राम-सीता झूला झूलते। झूलेको खूब फूलों, लट्टुओं और रोशनीसे सजाया जाता। हर जगह थोड़ा-बहुत संगीतका प्रबन्ध रहता, अधिक समृद्ध मन्दिरोंमें नाच भी होती, और किन्हीं-किन्हीं मन्दिरोंके 'सीताराम' तो रंडियोंका नाच भी देखते। मुझे कुछ आश्चर्य और कुछ अभिमान हुआ, जब कि झूलेकी झांकी निहारते वक्त घूमते समय सुना कि पासके मन्दिरमें झूलनमें छपराकी विख्यात नटी तोखी नाच रही है। तोखीका नाम याद रह गया, क्योंकि १९२२ में तिलकस्वराजफ़ंडमें उसने काफ़ी रुपया देकर दिखलाया था, कि एक रंडी भी हृदय रख सकती है। युक्तप्रान्त और बिहारके दूर-दूरके कोनोंसे श्रद्धालु स्त्री-पुरुष झूलन देखते सावन बितानेकेलिए अयोध्या आते हैं। हम लोगोंको निश्चय ही सावनका आकर्षण खींचकर नहीं लाया था।

दूसरे या तीसरे दिन वरदराज भी मिल गये। उन्हें अपने जन्मस्थानका एक वृद्ध साधु मिल गया था। परमामठके एक महात्मा अयोध्याकी अन्तरंग धार्मिक-मंडलीमें बहुत विख्यात थे, उन्हींके द्वारा हमें एक-दूसरेका पता लग पाया।

पांच-सात दिन तो अयोध्याके भिन्न-भिन्न मठों, मन्दिरोंको देखने, रातको झूल-नोत्सवोंका आनन्द लेनेमें हमारे बीत गये। दर्शकोंमें यही चर्चा रहती थी—'अमुक स्थानकी फूलोंकी सजावट बड़ी सुन्दर थी', 'अमुक स्थानमें रोशनी अच्छी थी', 'अमुक स्थानमें हरी-पीली घासोंको कैसा सजाया था ?' '...मन्दिरमें कत्थक नाचने-में कमाल कर रहा था।' दर्शकोंकी चलन्तू मंडली आधीरात तक चलती-फिरती रहती। दूसरे मन्दिरोंमें तो तांबे, पीतल, अष्टधातुके राम-सीता झूलेपर झूलते किन्तु "रसिक" लोगोंके यहां देखने-सुननेवाले, चलने-फिरनेवाले, जीते-जागते, राम-सीता-झूलनका आनन्द ले रहे थे। रामलीलाकी तरह छोटे-छोटे सुन्दर लड़कोंको राम-सीता बनाकर वहां झूलेपर बैठाया जाता। रामजी 'द्वारके' वेशमें पट्टा काढ़े, किरीट-मुकुट बांधे, नाकमें मोती पहिने, धनुष-बाण लिये बैठे होते, उनके पास लहँगा-दुपट्टा ओढ़े शिरपर चन्द्रिका दिये जानकीजी होतीं। दोनोंके शिरमें चन्दन-खोर घनी रहती। गोलाघाटके महात्मा श्री रामवल्लभाशरणजी अपने श्री-करकमलसे राम-जानकीको झूला झुला रहे थे, कन्हैया लेते उनके मुंहमें पानके बीड़े दे रहे थे। वहां रोशनीके मारे रातका दिन हो रहा था। फूलों और अतरकी सुगन्धसे भारी हवा लदी हुई थी। यहां फ़ैजाबाद तथा दूसरे नगरों

सम्भ्रान्त परिवारोंके स्त्री-पुरुष बाल-बच्चों सहित बैठे झूलेकी झांकी तथा संगीतका आनन्द ले रहे थे। लक्ष्मण किला, हनुमतनिवास जैसे रसिक देवालयोंमें सावनकेलिए खूब तैयारी थी। अपनी सूक्ष्म रुचिका इन लोगोंको अभिमान था, और वह अभिमान बहुत कुछ दुरुस्त भी था।

परसाके शिष्य एक भजनानन्दी महात्माके पास जाने-आनेका मौका न मिला होता तो मुझे सखीमतवालोंके बारेमें विशेष जाननेका मौका नहीं मिलता। यद्यपि उस वक्त भी, और इधर तो ज्यादा मैंने कहते सुना कि सखीमतवाले दाढ़ी-मोंछ मुड़ाकर, लम्बा केश बढ़ाये बिलकुल स्त्री-वेषमें रहते हैं, किन्तु अपने परिचित व्यक्तियोंमें मुझे ऐसे चेहरे नहीं देखनेमें आये। हां, स्त्रैण भावना उनमें ज्यादा होती है। मेरे स्थानके उक्त महात्मा भी भीतरसे सखीभाव रखते थे, ऊपरसे तो लम्बी-दाढ़ी-मूंछ, लम्बा केश, अँचला और सिरपर एक सफ़ेद गमछा रहता; किन्तु उनके शिष्यका इसी वेषके साथ, ललाटपर राम-नामके छापके अतिरिक्त स्वर बिलकुल स्त्रियोंका था। बोलने और चलनेमें स्त्रियोंकी हूबहू नकल करते तो मैंने भी बहुतसे सखीमतानुयायी देखे। उनका कहना है—पुरुष तो एक भगवान् ही हो सकते हैं, दूसरा व्यक्ति पुरुष भाव रखकर भगवान्‌की भक्ति नहीं प्राप्त कर सकता; इसीलिए भगवान्‌की भक्तिकेलिए सखीभावकी पूर्ण साधना बहुत आवश्यक है। हर 'सखी' (सखीमतानुयायी) का एक स्त्रीलिंगी रहस्य नाम होता है—'लवंगलता', 'अनंगलता'। वह रामको अपना पति समझकर उनकी पूजा करती, उनको साथ लेकर कितनी ही सोती तक, और कितनोंको तो मासिक-आर्तवका भी अभिनय करते देखा जाता। रसिक या 'सखी' लोग दूसरोंकी भक्तिको अनाड़ियोंकीसी निम्नकोटिकी मानते। वह 'राम-जानकी' पूजा-अर्चामें आजकलके राजा-रानियोंके उपभोगकी सारी सामग्रियां यथाशक्ति उपस्थित करना चाहते। 'सखी' लोग वियोग नाट्य नहीं, सदा मिलनेके गानेको पसन्द करते। उनके कपड़े भी कुछ अधिक नफ़ीस, चेहरेपर स्निग्धता (चिकनापन) ज्यादा, वाणी स्त्रैण और मधुर होती। एक दिन श्रीरामवल्लभाशरणजीसे हम लोग बातचीत करने गये थे, वेदान्तपाठशालाके बारेमें उन्होंने राजकुमार रामसम्बन्धी निजनिर्मित पहिले तो कुछ कवित्तें सुनाईं, फिर जिस उद्देश्यको लेकर हम गये थे उसपर भी बातचीत की। उस वक्त उनका बारीक अँचला सूती था या रेशमी सो तो मैं नहीं कह सकता, किन्तु चादर सफ़ेद काशी-सिल्ककी थी। केसरिया चन्दनमें सीताराम तथा चन्द्रिका-मुद्रिका द्वारा उनका सारा ललाट दोनों आंखोंके बाहरी कोनों तक अंकित था। जिस स्वर और हावभावसे बोल रहे थे उसमें गम्भीरता जरूर थी, किन्तु उससे मालूम होता था, कोई दाढ़ीवाली महिला बोल रही है।

किसी समय जानकीघाट—सखीमतका उद्गम स्थान—अपने सख्य-भाव और

शिक्षा-दीक्षाकेलिए प्रसिद्ध था, फिर किशोरीके युगलानन्यशरणका सितारा चमका जो इस वक्त डूब चुका था। इस वक्त वहांके महन्त स्त्रीनाट्य नहीं पुरुषाभिनयको ही तरजीह देते थे। गोलाघाटके श्रीरामवल्लभाशरणकी प्रकट तथा पंडित वल्लभाशरणकी गुप्त सख्यभावनाकी ख्याति थी, किन्तु वस्तुतः सखीसमाजका केन्द्र हनुमत-निवास हो रहा था, जहांके महन्त गोमतीदास सख्यभक्तिमें बहुत पहुँचे हुए समझे जाते थे। उनकी शक्ति प्रभावकी वृद्धिको मुबारकपुर (छपरा) के श्रीभगवान्दास—जो गृहस्थावस्थामें परसाके पहिले वाले महन्त श्रीरघुवरदासके शिष्य थे—की उनके प्रति श्रद्धाने और बढ़ा दिया था। श्रीभगवान्दासजी अपने भक्तोंमें रूपकलाजीके नामसे अधिक प्रसिद्ध हैं, यह पहिले स्कूलोंके डिप्टी-इन्स्पेक्टर थे, पेनशन लेनेके बाद वह घरसे विरक्त हो गये, और अयोध्यामें रहने लगे। जिस वक्तकी बात मैं लिख रहा हूँ, उस वक्त वह हनुमत-निवासमें रहा करते थे। दाढ़ी-मूंछ मुड़ाये वह पूरी तौरसे स्त्रीरूपमें रामभक्ति कर रहे थे। उनका बिहारके एक श्रेणीके शिक्षितोंपर बहुत प्रभाव था, जिससे उनकेलिए तो हनुमत-निवास काबा बन गया था।

सखीमतके सभी कर्णधारोंके बारेमें तो नहीं कह सकता, किन्तु अधिकांश तो इस रामभक्तिकी आड़में अपने स्थानोंको अस्वाभाविक व्यभिचारका अड्डा बनाये हुए थे। मुझे आश्चर्य होता था, गृहस्थोंमें कितने ही इस रहस्यको जानते हुए भी क्यों उनकी ख्याति बढ़ानेमें सहायक होते हैं।

पाँच-सात दिनमें अयोध्या काफी देख लेनेके बाद अब पढ़ाईका सिलसिला भी जारी करना था, उसी वक्त पता लगा, गोलाघाटके पास 'दिव्य देश' (मद्रासी ढंगपर बने आचारी-देवालय) में एक वेदान्त पाठशाला खुली है, जिसमें एक योग्य मद्रासी विद्वान् पढ़ाते हैं। मैं भी जाकर वहां दाखिल हो गया। छात्रोंकी संख्या बारह-तेरह रही होगी, जिनमें तीन-चारको छोड़ बाकी सभी वैरागी थे, और यही अपढ़ विद्यार्थियोंमेंसे थे। शायद वेदार्थसंग्रहका पाठ चल रहा था। तिरुमिशीमें मैंने 'यतीन्द्रमतदीपिका' (रामानुजवेदान्तका प्रारम्भिक ग्रन्थ) पढ़ ली थी। शांकरवेदान्तका भी कुछ परिचय था, इसलिए उसके पढ़नेमें मेरी खूब रुचि रहती। ददुआ साहेब (अयोध्याके राजा) के महलके पीछे उन्हींके मकानमें कुछ महाराष्ट्र वैदिक रहते थे। विदेहीजीके स्थानमें रहनेवाले एक ब्राह्मण विद्यार्थीसे पता लगा, कि वहां एक पंडित सामवेद पढ़ाते हैं। मैंने वहां जाकर सामवेद भी 'पढ़ना' शुरू किया—पढ़नेसे मतलब यहां सस्वर पाठसे है। गुरुजी खुद भी पंचम स्वरका ही अनुसरण कर सकते थे, और इसलिए भी ब्रह्माके पास उस वक्त पहुँचे थे, जब वह मृदु और संगीतोपयोगी स्वरोंको बांट चुके थे। खैर, साम-गानमें कैसे पाठकी विकृति गायनके नियमसे की जाती है, इसका कुछ परिचय मिला। अध्यापक यदि

गायक भी होते, तो शायद और ज्यादा मजा रहता। वैदिक गुरु हमें बड़े प्रेमसे पढ़ाते, और अयोध्याके निवासमें आखिरी महीनेको छोड़ बराबर उनके यहां मैं पढ़ने जाया करता।

वेदान्तपाठशालामे पढ़ते ही वक्त साथियोंके अनुरोधसे मैं प्रमोदवनकी बड़ी कुटियामें आ गया। यहां उस वक्त सौसे अधिक साधु रहा करते, और यह अयोध्या-के अच्छे साधु-सेवी स्थानोंमें गिना जाता था। हमारे कई सहपाठी इसके आसपास ही रहा करते थे। यह वह जमाना था, जब कि धार्मिक जगत्‌में सार्वजनिक व्याख्यानोंकी चहल-पहल थी, आर्यसमाजियों, सनातनियों, ईसाइयों, मुसल्मानोंके परस्पर शास्त्रार्थ-मुबाहिसे हुआ करते थे। व्याख्याताओंकी बड़ी कद्र थी। यद्यपि अयोध्याके पुरानी चालके महात्मा मजमेंमें गला फाड़कर हाथ-पैर डुलाते हुए इस चीत्कारको बिलकुल धर्मबहिर्मुख नई चाल समझते थे; किन्तु नौजवान पीढ़ीको भाषणमचकी शक्तिका जरा-जरा भान होने लगा था। अभी हालमें ही भरतपुरके अधिकारी .जी, और महन्त लक्ष्मणाचार्यका बड़ी जगहमें भाषण हुआ था, जिसे हम भी सुनने गये थे। इसका असर यह पड़ा कि हम कई साधु-विद्यार्थियोंने मिलकर बड़ी कुटियामें एक छोटी सभाके रूपमें भाषणमंच तैयार किया। उस सभाका रूहेरवां मैं था। सप्ताहमें एक दिन हम लोग किसी विषयपर भाषण देते। यद्यपि मेरा वह पहिला ही प्रयास था, किन्तु वहां मैं 'अन्धोंमें काना राजा' समझा जाता था। स्वामी हंसस्वरूप, पंडित ज्वालाप्रसाद मिश्रके छपे हुए व्याख्यानोंको हम लोग अपनी भाषण-शिक्षाका अंग समझते थे। आर्यसमाजके प्रहारोंसे हिन्दुओंके प्रत्येक धार्मिक सम्प्रदाय तंग आये हुए थे। आर्यसमाजी मूर्तिपूजा, श्राद्ध, अनेकदेवतावाद, पुराणो-परिश्रद्धा आदि सिद्धान्तोंका बहुत जोरसे खंडन करते थे। यह खंडन अखबारों और पुस्तकोंहीमें नहीं छपता था, खुद अयोध्यामें भी फैजाबादके महाराय केदार-नाथ धूम मचाये हुए थे। जब तब उनका व्याख्यान हो जाया करता, यद्यपि मुझे उसे सुननेका कभी मौका नहीं मिला। आर्यसमाजी अपने इस खंडनात्मक प्रवृत्तिसे अप्रिय हो गये थे, किन्तु यह अप्रियता धार्मिक व्यवसायियों ही तक परिमित थी, दूसरे हिन्दू उनके इस्लामसे 'लड़'कर हिन्दूधर्मकी रक्षावाली नीतिसे प्रभावित होते जा रहे थे।

सभाका हमने क्या नाम रखा था? याद नहीं। खैर, बड़ी कुटियामें शामको सप्ताहमें एक बार हम लोग व्याख्यान दिया करते थे। भाषण सीखनेकी लालसा तो छूतकी बीमारीकी तरह फैल ही गई थी। देखा-देखी पंडित वल्लभाशरणके यहांके विद्यार्थियोंने भी अपने यहां सभा कायम की। मैं बीच-बीचमें इक्ष्वाकु-मंदिरमें पंडित गोविन्ददासके पास आया-जाया करता था। मेरे व्याख्यानोंकी ख्याति बड़ी कुटियासे बढ़कर यहांके विद्यार्थियों तक भी, मालूम होता है, पहुँच गई

थी। उन्होंने मुझे व्याख्यान देनेकेलिए—नहीं व्याख्यान देकर सिखलानेकेलिए—बहुत आग्रह किया। मुझे आत्मविश्वास बिलकुल नहीं था, सो तो नहीं कह सकता; किन्तु मैं अपनेको व्याख्याता नहीं समझता था। नोट लिखकर व्याख्यान देना तो मैं अब तक नहीं जानता, फिर उन आरम्भिक खिलवाड़ोंके बारेमें क्या कहना? खैर, मैं उनकी छोटी सभामें व्याख्यान देने गया। पंडित वल्लभाचरण भी पधारे थे। न जाने किस विषयपर व्याख्यान दिया। मैं कह क्या रहा हूँ, मुझे खुद इसका पता नहीं रहा। सामने बैठी जनता, विशेषकर पंडित वल्लभाचरणजीका रोब इतना गालिब था, कि मुझे सोच-साचकर कहनेकी वहाँ फुरसत ही नहीं थी। मालूम होता था, भूतावेशमें कुछ बोलता जा रहा हूँ—भूतावेश भी नहीं, क्योंकि मेरे व्याख्यान में शुरू हीसे स्वरोंके आरोहावरोहकी ज्यादा गुंजाइश नहीं होती। व्याख्यानकी समाप्तिपर मेरी बड़ी तारीफ़ हुई। पंडितजीने विद्यार्थियोंको कहा—इस तरह व्याख्यान देना सीखो, व्याख्यानका युग है। मुझे व्याख्यानकी तारीफकी उतनी प्रसन्नता नहीं हुई, जितनी पत रह जानेकी।

वेदान्तपाठशालामें इधर एक नया गुल खिलने लगा। श्री बलरामाचार्य (तिरुमिशीमें मिले पंडित भागवताचार्यके यह दीक्षा-गुरु थे) के शिष्य इन्दौरके एक सेठ इस पाठशालाको खोलनेमें द्रव्यकी सहायता दे रहे थे। जिस वक्त मैं तिरुमिशीमें था, उस वक्त उक्त सेठ वहाँ आये थे, और पाठशालाके सम्बन्धमें बातचीत चल रही थी। पाठशाला खोलनेका उद्देश्य था, उत्तरी आचारियोंको रामानुजवेदान्तसे परिचय प्राप्त करनेका अवसर देना। किन्तु, यहाँ पढ़नेकेलिए आचारी तो मुश्किलसे दो-चार आये—क्योंकि अयोध्यामें उनके स्थान ही बहुत कम हैं—और उधर वैरागी भर गये। वैरागी भी रामानुजके ही विशिष्टाद्वैत वेदान्तको मानते थे, इसलिए इस विषयमें आचारियोंके प्रति विशेष श्रद्धा रखते, अपने भीतर वेदान्तके जानकारोंके अभावके कारण वे आचारियोंकी प्रधानताको भी स्वीकार करते। यदि ये खुद वेदान्त पढ़ जायेंगे, तो हमारी प्रधानता छिन जायेगी, आदि ख्याल थे, जिनके कारण आचारियोंने दिव्य देशकी वेदान्तपाठशालाको अपने सम्प्रदायकेलिए घातक समझा। वह उसे बन्द करनेकी सोचने लगे। उसके अध्यापक इस मनोवृत्तिको महत्त्व नहीं देते थे, वह तो बल्कि समझ नहीं सकते थे,—विशिष्टाद्वैतके सिद्धान्तके बीजको ऐसे श्रद्धालु तरुण मस्तिष्कोंमें बोनेसे सम्प्रदायको कैसे हानि होगी? वह अपने प्रति हमारी श्रद्धा तथा पढ़नेमें तीव्र रुचिको भी देख रहे थे, और इस प्रकार चाहते नहीं थे, कि पाठशाला टूटे। किन्तु आखिर पराधीन थे, उनके पास क्या चारा था, कि सेठ और श्रीबलरामाचार्यको पत्रद्वारा लिख देते,—जाओ, तुम अपना रुपया अपने पास रखो, हम तो बिना इन छात्रोंको पढ़ायेंगे। हम लोगोंको भी इतनी जल्दीमें यह खबर लगी, कि हम दूसरा कोई

प्रबन्ध नहीं कर सकते थे। तो भी इस खबरके लगते ही हमारे दिलोंमें आग लग गई। हमने दूसरी वेदान्तपाठशाला खोलनेकेलिए एक अस्थायी समिति कायम की। पंडित गोविन्ददास उसके प्रधान मंत्री और मैं उपमंत्री बनाया गया। पंडित गोविन्द दासजी कुछ सुस्त और मितभाषी थे, इसलिए, बहुत कुछ काम मेरे ऊपर था। पंडित मथुरादास, तथा दूसरे कई साधु-विद्यार्थी बड़ी तत्परतासे धनसंग्रहकेलिए जुट गये। भूतपुरीवाले वेदान्तीने हमारे आग्रहको स्वीकार करते हुए कहा—'इस वक्त तो मुझे सपत्नीक घर जाना है, किन्तु वहांसे आप लोगोंकी वेदान्तपाठशालामें पढ़ानेकेलिए मैं अवश्य आऊँगा।' उनके रवाना होनेसे पहिले ही हमने बारह-तेरह सौ सालाना चन्दाका वचन ले लिया था। इस सिलसिलेमें मुझे अयोध्याके प्रायः सभी मठोंके महन्तोंसे मिलनेका मौका मिला था। बड़ी जगह और राजगोपालके दोनों महन्त महाशयोंने हमारे उत्साहको बहुत बढ़ाया था। पंडित वल्लभाशरणका सम्बन्ध रसिक-सम्प्रदायसे था; किन्तु वह भी हमारे पृष्ठपोषक थे।—दूसरे पक्के रसिक तो वेदान्त, और विशिष्टाद्वैतको फ़जूल पंडितोंकी 'दांत कटाकट' समझते थे।

हमने वेदान्तपाठशालाकेलिए फ़ैजाबादसे रसीद बही छपवाई, बैठनेकेलिए टाट बनवाया। छोटी कुटियाके महन्तजीने अपने फाटकपरके कोठेको वेदान्तपाठ-शालाकेलिए देना स्वीकार किया। एक दिन पंडित सरयूदासजी व्याकरणो-पाध्यायकी अध्यापकीमें हमने पाठशालाका उद्घाटन भी कर दिया।

जिस वक्त हम अयोध्याके कुछ शिक्षित तरुण वैरागी आचारियोंके अपमानपूर्ण बरतावसे आहत हो नई वेदान्तपाठशाला खोलनेका आयोजन कर रहे थे, कई जगह भाषण-सभायें चला रहे थे, उसी समय यूरोपमें महायुद्ध छिड़ गया था। उससे पहिले 'सरस्वती'का पाठक तो मैं अक्सर रहता रहा, किन्तु नहीं खयाल है, साप्ताहिक-पत्रोंको भी देखता था या नहीं। महायुद्धने अखबारी दुनियासे मेरा परिचय कराया। कलकत्ताका 'बंगवासी' साप्ताहिकोंमें बहुत जनप्रिय था, उसका एक चद्दरके बराबर, ओढ़ने-बिछाने भरकेलिए पर्याप्त विशाल कलेवर हर सप्ताह हमारी आंखोंके सामनेसे गुजरता। कहां है लीग, कहां ब्रूसेल्स—हमें तो बेल्जियम-का भी धुंधला-सा ज्ञान था। अखबारोंकेलिए उस वक्त नक्शे आवश्यक चीज नहीं समझे जाते थे। खबरोंसे यही मालूम होता था, अंग्रेजी, फ्रांसीसी, और रूसी सेनायें बराबर जीत रही हैं, किन्तु अंग्रेजोंके प्रति हमारी स्वाभाविक घृणा उन जीतोंमें भी हमें अंग्रेजोंकी हार देखनेकेलिए प्रेरित कर रहा था।

अयोध्या और फ़ैजाबादके बीच, किन्तु सड़कसे हटकर देवकाली नामक एक प्रसिद्ध देवी-स्थान है। अयोध्याको वैरागियोंने अपने हाथमें काबू करके उसे शास्त्रों-ने शून्य कर डाला है। जिन रामने, वाल्मीकिके कथनानुसार सीताहरणके शोकमें ही मांस और सुराको छोड़ा, उन्हें उनके अयोध्याके कलियुगी भगतोंने

हमेशाकेलिए मांस-सुरा-विरत कर दिया ! किन्तु देवकाली ऐसा स्थान था, जहां अब भी दोनों नवरात्रोंके समय बकरेकी बलि हुआ करती है न जाने कहांसे एक अवारा तरुण ब्रह्मचारी (वैरागी या वैष्णव नहीं) भूलता-भटकता वहां पहुँच गया, और उसने आश्विनके नवरात्रमें बलि बन्द करनेकेलिए भारी बाधा पहुँचानी शुरू की । गृहस्थ-विशेषकर स्त्रियां-साफ़ देख रही थीं, कि कालीमाईको पाठा चढ़ानेकी मिन्नतसे ही उनका लड़का या पति बचा है, नहीं तो वे कभीकी अपुत्रा या विधवा हो गई होतीं । वह अपनी मिन्नतके मुताबिक माईको पाठा चढ़ानेकेलिए बेकरार थीं, लेकिन यहां एक तरुण साधु वैसा करनेपर भीषण शाप देने तथा आत्महत्या कर लेनेकेलिए तैयार था । दोनों ओरसे धर्म-संकट था, क्या किया जाये, यह गृहस्थोंको सूझ नहीं पड़ रहा था । किन्तु देवकालीके पुजारी खूब समझ रहे थे । नवरात्रके दिन बीतते जा रहे थे, और वहां एक भी बकरा नहीं आ रहा था । बलिके बकरेका मुंड उनका होता था, मुंडका शोरबा (रस) कितना स्वादिष्ट होता है-उसकी स्मृति आते ही ब्रह्मचारीके ऊपर उनका खून खौलने लगता था । साथ ही बलिके साथवाली दक्षिणाकी भी उन्हें हानि उठानी पड़ रही थी । और यदि कालीके प्रतापको इस तरह ऐरे-गैरे-नत्थू-खैरे कम करने लगे, तो पंडे-पुजारी कितने दिनों तक अपनी खैरियत मनायेंगे । नवरात्रके आखिरी दिन (आश्विन शुक्ला नवमी-को) बलि जरूर करनी होगी-इसका उन्होंने निश्चय कर लिया था । इसकेलिए कालीमाईके दिखाये दारुण स्वप्नोंकी खबरोंको भी उन्होंने फैलाना शुरू किया था ।

ब्रह्मचारी नवमीके मुहिमसे घबरा गया । यदि उस दिन बलि पड़ी; तो मेरा सब किया कराया अकारथ चला जायेगा-यह सोचकर वह बड़ी चिन्तामें पड़ गया । उस वक्त उसे पता लगा, हम वैरागी तरुणोंका । वह हमारे पास आया और उसने पशु-बलि-विरोधी हमारे स्वाभाविक भावोंको और उत्तेजित किया । हमने भी समझा कि हमारेलिये डूब मरनेकी बात होगी, यदि 'पंचकोसी'के भीतर निरपराध बकरोंकी बलि जारी रही । हमने नवमीको आनेका वचन दिया ।

अयोध्यासे देवकालीकेलिए जिस वक्त, आठ बजे सवेरेके करीब, हम रवाना हो रहे थे, उस वक्त हमें यही खयाल था, कि पंडे भरमाकर कुछ गृहस्थोंको बलि देने-केलिए लायेंगे, उस वक्त हमें अपने भव्य वैष्णव स्वरूप वाणी-वाग्मिता प्रयोग करना होगा । ब्रह्मचारीके कहे अनुसार इतने होसे गृहस्थोंकी बलि करनेकी हिम्मत जाती रहेगी । निमन्त्रित तरुणोंमें पंडित गोविन्ददास-हममें सबसे अधिक संस्कृतज्ञ (काशीके व्याकरणाचार्यके नई गंड पास)-भी थे, किन्तु केंट-क्लीट होनेसे वह अभी रास्ते हीमें थे, जब कि देवकालीकांड समाप्त हो गया । हमारे साथियोंमें दो निरहुतिया साधु बहुत मोटे-ताजे थे, एक 'रुद्रजी' जो बिल्कुल पहलवान जैसे थे, और दूसरे 'हरिस्वामी' उनसे कुछ नरम । बड़ी छुरियामें रहनेवाले पंचनामी

परमहंस साधारण शरीरके स्वामी थे, वही बात पंडित मथुरादासजीकी भी थी, यदि वह इस मुहिममें सम्मिलित थे। मैं उम्रमें सबसे कम २१ सालका लम्बा किन्तु पतला-सा जवान था। नीचे पतली धोती साधुओंके नियमानुसार लुंगीकी तरह बँधी हुई थी। शायद पैरमें जूता भी था, बदनपर खूब सफेद धुला हुआ तनजेबका कुर्ता था, और गलेमें पडी थी एक रेशमी चादर। शिर नगा था। हाथमें पंडित गोविन्ददासजीके यहांसे चलने वक्त एक शीशमकी छडी उठा ली थी। देखनेमें निश्चय ही सबसे ज्यादा अमीराना ठाट मेरा मालूम देता था। सारी जमातका नेता न मैं अपनेको समझता था, न समझनेकी इच्छा रखता था; तो भी बोल-चालमें सबसे ज्यादा निधड़क मैं ही था, सबसे ज्यादा देश देखा हुआ मैं ही था, और पढ़नेमें बेशी नही तो किसीसे कम भी न था। हम लोग कितने युगोंके बाद अयोध्यासे देवकाली पहुँचे, इसका ठीक अन्दाजा नही—आगेकी घटनाओंसे अवश्य मुझे वह समय युगोंमें बीतता मालूम हुआ। चहारदीवारीमें एक बडा द्वार था, उसीके भीतर देवकालीका स्थान बतलाया गया। द्वारके बाहर दस कदमपर चारों ओरसे पक्के घाटवाला एक पोखरा था। द्वारके पास बहुतसे माली स्त्री-पुरुष फूल-बतासा बेच रहे थे। हम लोगोने दरवाजेके सामने घाटकी ऊपरी सीढ़ियोंका भाषणमंच बनाया। खडे होकर एक-एक करके लोगोंको समझाने लगे। कुछ तो देवीको जगत्-माता बतलाकर "बच्चे"की बलिको निषिद्ध साबित कर रहे थे, कोई प्राण-हिंसाको पाप और नरकका रास्ता बतला रहे थे। व्याख्यान बढ़ते हुए आखिर उस अवस्थामें भी पहुँच गया, जब कि उसने सीधा 'सराप' (शाप) का रूप धारण कर लिया—खासकर जब कि हमारे व्याख्यान देते रहनेपर भी एक बकरा तालाबके पानी तक ले जाकर धोया जाने लगा। बकरेको धोकर—शायद सिरपर—, फूल माला पहिना गुस्सेसे लाल-लाल आंखे किये एक पंडा बनावटी यजमान (हमें ऐसा ही बतलाया गया, कि लोगोंको बलिका जारी रहना दिखलानेकेलिए पंडोंने अपने पैसेसे बकरा खरीदकर अपने ही आदमी द्वारा बलि करानेका इन्तिजाम किया है) के हाथसे बकरेको लिवाये द्वारके भीतर घुसा। मेरे साथी अब आपेसे बाहर हो द्वारके भीतर घुसनेकेलिए आगे बढे। मैंने भीतर जानेसे मना किया, किन्तु वहा तो अहिंसा सिरपर भूत बनकर सवार हुई थी। छओं-सातों साथियोंको आगे बढ़ते देख मैं पीछे कैसे रह सकता था? हातेके भीतर एक तरफ देवकालीका साधारणसा पक्का मन्दिर, उसके सामने बलि-स्थान। सामने एक ऊँची कुर्सीपर महाराजा बनारसकी ओरसे बनवाया एक मन्दिर, जिसमें शायद तत्कालीन महा-राजका प्रोस्तीनपर उतरा चित्र भी था। हमारे साथियोंने उसी ऊँचे चबूतरेको भाषणमंचमें परिणत कर दिया, भाषण क्या था जले-कटे शापके रूपमें गालियां। सारा प्रयत्न व्यर्थ गया, और जब पंडेने बकरेके कन्धेपर चलानेकेलिए शस्त्र उठाना

चाहा, तब मैंने साथियोंको कहा—अब भाषण बन्द कीजिये, आंखोंसे बलि देखने कोई फायदा नहीं। चलें बाहर निकल चलें।

जिस वक्त बाहर जानेकेलिए हम फाटकके पास पहुँचे, उसी वक्त पंडोंने हाथ चलाना शुरू किया। कई साथी पिटे। हरिव्यासी बाबाका कलवाला छाता दोनों झपटोंमें हाथसे तो जाता ही रहा, साथ ही उसमें लगकर उनके एक हाथमें खून भी हो गया। पहलवान जैसे लगते इस्तफरी बाबासे पहिले पंडे भयभीतसे मालूम हुए किन्तु जब पीठ सिकुड़ाये वह निकलनेकी कोशिश करने लगे, तो मोटे शरीरसे छोटे हिम्मतका खयालकरके उनकी मोटी पीठपर भी दो-चार हाथ पड़े। एक पंडेने मेरी ओर इशारा करके अपने साथीको चिल्लाकर कहा—अरे यह तो साफ़ बचा निकल जा रहा है। वे मुझे मारनेको लपके। वह असाधारण आवेशकी अवस्था थी चारों ओर मेरे निहत्थे—मुझे छोड़ किसीके पास यदि कोई चीज थी तो छाता मा-सारी पिट रहे थे। कार्यकारणपर विचार कर पक्ष-विपक्षकी दलीलोंको देखते हुए निर्णय करनेका वहां अवसर कहां था। वहां जो कुछ निश्चय हो रहा था, वह हो रहा था सेकंडोंमें सहज बुद्धिके द्वारा। एकतरफा पिटकर भग जाना मुझे कुछ लज्जाजनक बात मालूम हुई; अभी तक गांधीजीके निष्क्रिय प्रतिरोधकी ध्वनि कानों तक नहीं पहुँची थी। पंडेने दौड़कर मेरी रेशमी चादर पकड़ी, मैं उसे छोड़ आगे बढ़ गया। उसने डंडा चलाया, उससे बचकर मैंने अपनी शीशमकी छड़ी चला दी। उसने उसे पकड़ लिया। आखिर शीशमकी छड़ी शौकके लिए थी, मारपीटके लिए थोड़े ही थी। खींचा-खांचीमें वह बीचमें ही टूट गई, लेकिन तब तक हम फाटकसे बाहर पहुँच गये थे, जहां लोगोंकी भारी भीड़ थी, और उसके सामने पंडोंको साधुओंपर हाथ चलानेकी हिम्मत नहीं हो सकती थी। मुझे अछूता निकलते देख, एक पंडेने (जिसपर शायद मेरी छड़ी पड़ चुकी थी) और कुछ न पा, बगलमें बैठी मालिनकी फूलडाली रखनेका टिन उठाकर चलाया, किन्तु वह भी मुझपर न लग मेरे साथीकी पीठसे टकरा झनझनाता हुआ गिर पड़ा।

मन्दिरसे बाहर, दरवाजेसे भी कुछ दूर पहुँच जानेपर पंडे भी लौट गये। मैंने देखा, मेरे साथी किंकर्तव्यविमूढ़ बन गये हैं। आगे क्या करना है, किसीको कुछ सूझ ही नहीं रहा है। मालूम हुआ, यहां पुलिस चौकी है। मैंने बतलाया, पुलिसमें यदि हम खबर नहीं देते हैं, तो पीटनेवाले उल्टा हमारे ऊपर मुकदमा भी कर देंगे, और हम हैरान होते फिरेंगे। मैं यह भी देख रहा था, कि यदि हर एकको अपने मनसे बयान देनेको कहा गया, तो बहुत-सी परस्पर-विरोधी बातें निकल आ सकती हैं, साथ ही आसपास खड़ी भीड़के बीच साथियोंका अपने छुटकारेके सम्बन्धमें कोई विचार हो नहीं सकता था। मैंने साथियोंसे कहा—'हम लोग चलें पुलिस-चौकीपर। मैं पहिले बयान लिखाऊँगा, बस उसीके अनुसार सब लोग बोलेंगे। दरवाजेके भीतर

हम काशिराजके मन्दिरमें दर्शनार्थ गये, व्याख्यान देकर बलि बन्द करने नही, इस बातका खूब स्मरण रखेंगे।'

पुलिस-चौकी तक पहुँचते-पहुँचते में उनका स्वनिर्वाचित नेता बन गया। चौकीपर और बातें सच्ची ही सच्ची कही, सिर्फ मन्दिरके भीतर भाषणमंच-निर्माणको हमने देवदर्शनमें परिणत कर दिया। पंडे भी वहा पहुँचे थे। वह हमारे उस एक झूठका प्रतिवाद करते थे, और साथ ही मारपीटसे इनकारी थे। चौकीसे हम लोग सिपाहीके साथ फ़ैजाबाद कोतवालीमे गये। कोतवाल साहेब मुसलमान थे, और शायद आजमगढ़ जिलेके। उन्होंने हमारा इजहार लिया। मैंने अपने पहिले इजहारको दुहराया, मेरे साथियोने भी उसीका समर्थन किया। पडोसे पूछा जाने लगा, तो वे हमीको मारपीट करनेवाला बतलाने लगे। उस समय अयोध्याका सब-इन्स्पेक्टर–एक लम्बा-चौडा रोबीला राजपूत–वहा किसी कामसे पहुँच गया था, उसने पंडोंको ही नही उनकी देवी तकको जद-बद कहना शुरू किया–'ये पढने-लिखनेवाले पाच-छै साधु तुम्हारे साथ लाठी चलाने गये थे? यदि ऐसी मनसा होती तो इनको लाठी चलानेवाले साधु अयोध्यामें नही मिलते? क्यों झूठ बकते हो? कोतवाल साहब इन सा....पर मुकदमा दीजिये। और वह देवी भी....क्या है, जो जगतमाता कही जानेपर अपने बच्चोंको खाती है?......"

मेरे साथियोमेंसे किसीने धीरेसे मेरे कानमें कहा–'जानते है, आर्यसमाजी है।' आर्यसमाजी, बडे हर्षसे कह रहे थे, और इस वक्त वह भूल गये थे, कि वह साथ ही मूर्तिपूजाकी भी अप्रत्यक्षरूपेण धज्जी उड़ा रहा है।

किसीको सख्त चोट तो आई नही थी, कि पुलिस मुकदमा करती या किसीको गिरफ्तार करती। मामला चलानेकी बात चली, तो लोगोंने बतलाया–फ़ैजाबादके आर्यसमाजी वकील इसमे पूरी मदद करेंगे। मै एक और साथीके साथ बलदेव बाबू (आचार्य नरेन्द्रदेवके पिता) के पास एक-दो बार गया। उनसे मुकदमेकी सारी बात कही, वह सहायता करनेकेलिए तत्पर थे। अन्तमे मैने देखा, कि मेरे साथी मामलेकी पैरवीसे जी चुराते है, और सारा बोझा मुझपर डालना चाहते है। उधर पंडे भी सुलह करनेकेलिए पैरवी कर रहे थे। ऐसी अवस्थामें मुकदमा चलानेका ख्याल छोड़ देना ही मैंने वाजिब समझा। हमारी चीजे मिल गई, पंडोने पश्चात्ताप किया, मामला यही खतम हो गया।

मैंने आर्यसमाजका नाम पहिले-पहिल १९०१ या १९०२ में रानीकीसरायमें अपने योगी मास्टरसे सुना था। इतना ही जानता था, कि वह देवी-देवताकी निन्दा करते हैं। बनारसमें दयानन्दस्कूल (वर्तमान डी० ए० वी० कालेज) का मैं कई महीनों तक विद्यार्थी था, किन्तु वहां बराबर जलमें कमलकी तरह रहा, कभी उनकी बातें न सुननी चाही, न सुनी। यहां अयोध्यामें भाषण सीखनेके सिलसिलेमें

सनातनधर्मी व्याख्याताओं—हंसस्वरूप, ज्वालाप्रसाद मिश्र आदि—के आर्यसमाजके पक्षके खंडनमें ही पुस्तकें पढ़ीं, और एक तरहसे उनके प्रति घृणा पैदा करनेवाली सामग्री होसे अधिक साबिका पड़ा। किन्तु कभी-कभी कोई चीज ऐसे स्थानमें मिल जाती है, जहां उसकी सबसे कम सम्भावना है। दूसरोंके खंडनोंको पढ़ते हुए मैंने उसमें कई बार स्वामी दयानन्दके 'सत्यार्थप्रकाश'का नाम सुना। मैं भी पहिले इसे 'मिथ्यार्थप्रकाश' ही कहता था। एक दिन पंडित मथुरादासके पास उसकी एक प्रति देखी। वह इसे खंडनकेलिए ही पढ़ना चाहते थे। पुस्तकका कीड़ा तो मैं था ही, लेकर उसे पढ़ने लगा। कौन-कौन 'समुल्लास' पढ़ डाले, यह याद नहीं। सारे ग्रंथको तो हर्गिज नहीं पढ़ पाया था, और पढ़ भी रहा था बहुत कुछ खंडन हीकी दृष्टिसे, किन्तु उसकी तर्कयुक्त बातें हठधर्मीसे मुकाबिला कर रही थीं। इधर देवकालीके मामलेमें अयोध्याके सब-इन्स्पेक्टर, तथा बा० बलदेवप्रसाद वकील आदि—जिन्हें आर्यसमाजी कहकर मुझे बतलाया गया था—के बरतावने आर्यसमाजियोंके प्रति मेरा भाव बदल दिया; और इस प्रकार सत्यार्थप्रकाशके अगले हिस्सोंको मैं सिर्फ़ खंडनकी दृष्टिसे पढ़नेवाला नहीं रह गया।

वरदराज मेरे साथ नहीं रहते थे, किन्तु हम बराबर मिलते रहते थे। परसा और वैरागी-सम्प्रदायसे विलगावके बीज मेरे हृदयमें काफी बोये जा चुके थे, जिसमें आर्यसमाजके सहलेपको छोड़ बाकीमें वरदराज भी मेरे सहभागी थे। मुझे अब अयोध्यामें रहनेमें अरुचि मालूम होने लगी—अपने सहपाठियों और सहचारियोंकी मनोवृत्तिसे मेरी मनोवृत्तिमें अन्तर आ गया था। आर्यसमाजके अतिरिक्त अखबारों द्वारा बाह्यजगतकी हवा भी मुझे लग रही थी। मैं अपने अन्तस्तलमें एक गलीकी गड़हियासे निकलकर विशाल जलाशयमें जानेकी मूकवेदनाको अनुभव कर रहा था, यद्यपि अब भी मुझे यह नहीं मालूम था, कि वह जलाशय किस दिशामें है, कैसा है?

बहुत दिनों बाद फूफा साहेबको बछवल एक पत्र लिखा, और उस पत्रमें इस मानसिक उथल-पुथलकी भी छाप जरूर रही होगी। उन्होंने पिताजीको हुकुम दे दिया—जाओ, लड़केको अयोध्यासे लिवा लाओ।

१९१० ई० में वह अयोध्यासे खाली हाथ लौटे थे, लेकिन अबकी नहीं।

तृतीय खंड

नव-प्रकाश (१९१५-२२ ई०)

१

'किं करोमि क्व गच्छामि'

कातिकके प्रथम पक्षमें दीवालीके आसपास, वरदराजसे विदाई ले मैं पिताजीके साथ कनैलाकी तरफ़ चला। वर्षा समाप्त हो चुकी थी, रबी बोई जा रही थी, धान अब भी खड़े थे, जब कि मैं कनैला पहुँचा। शायद हम लोग आजमगढ़ स्टेशन-पर उतरे थे। पिताजीको विश्वास हो गया था, कि अब वैराग्यका भूत मेरे शिरसे उतर गया, अब मैं बिलकुल प्रकृतिस्थ हो घरकी जिम्मेवारी लेनेकेलिए तैयार हूँ। उनको क्या मालूम था, कि यह शान्ति आगे आनेवाले भारी तूफानका पूर्वनिमित्त मात्र है। उनको शायद ठीक तौरसे मालूम नहीं था, कि जिस शादीको उन्होंने या समाजने स्थिर मजबूत बेड़ी समझकर मेरे पैरोंमें डाली थी, उसे कबका नहीं तिलाक देकर मैं अपनेको मुक्त कर चुका हूँ; और उसका ख़याल आनेपर मेरा दिल एक क्षणकेलिए भी कनैलामें रहनेकेलिए तैयार नहीं होता।

जिस वक्त मैं मद्रासके तीर्थोंकी यात्रा करनेमें लगा था, उसी वक्त नानाकी मृत्यु हो गई। मरते समय उनको बराबर मेरा ख़याल बना रहा। मुझपर उनका असाधारण स्नेह था। मेरेलिए वह क्या-क्या स्वप्न देखते रहे। अपने अनजाने हाथोंसे उन्होंने मेरे जीवनप्रवाहकेलिए एक कुल्या खोदी थी, अपने जान मेरे शानदार भविष्यके लिए; किन्तु आदमीका जीवनप्रवाह नदीकी धारासे भी अधिक दुर्दम्य है। नाना अपने स्वप्नमें सफल न हो सके। जिसे उन्होंने अपना सर्वस्व दिया, जिसके लिये सहोदर भाई और उसकी सन्तानसे झगड़ा किया, जन्मभूमिको छोड़ा, निन्दास्पद यामातृपुरका वास स्वीकार किया; उसके देखनेकेलिए भी बिलखते हुए उन्हें अपने जीवनका अन्त करना पड़ा। मेरे हृदयमें सचमुच उनकेलिए समवेदना थी, किन्तु यही समवेदना क्या दक्षिणमें उनकी मरणासन्नावस्थाकी चिट्ठी पाकर मेरे हृदयमें होती!

बछवलमें जानेपर कुछ विजयाभिमानके साथ फूफा साहेबने कहा—'क्व विशेषः', अर्थात् कहा अच्छा है वैराग्यमें या घरमें? मैंने कोई उत्तर नहीं दिया, और न मैंने

कोई दुर्भाव माना। मैं अब भी अपनेको पथसे दूर नहीं मानता था, हां, वह पथ किसी नई दिशाका संकेत कर रहा था, जो मुझे स्पष्ट नहीं दीख रही थी। इस बार साप्ताहिक पत्रमें लड़ाईकी खबरों को पढ़नेकेलिए प्रति सप्ताह मुझे बछवल जाना पड़ता। यद्यपि 'बंगवासी' के महाकलेवरमें दो-तीन कालमकी जो खबरें छपतीं, और सभी सरकारें अपने-अपने यहां जिस तरहसे खबरोंको युद्ध-सम्बन्धी प्रचारका जरिया बना रही थीं, उसमें मेरे जैसे नौसिखियेकेलिए कुछ समझना बहुत मुश्किल था; तो भी खबरोंके पढ़नेके बाद छोटे फूफा (यागेशके पिता) बड़े चावसे पूछा करते—कहो, बच्चा! लड़ाईकी क्या खबर है। वह खुद भी अखबारको पढ़ते थे। अखबारमें चाहे कुछ भी लिखा हो, किन्तु हम सबकी राय थी, जर्मनी जीत रहा है। यद्यपि हमें उसकी वास्तविकताका जरा भी ज्ञान न था।

जिस वक्त मैं बछवल नहीं जाता, उस वक्त यागेश कनैला चले आते। हम दोनोंको अनिवार्य 'चंडाल-चौकड़ी' समझ कनैला और बछवल दोनों जगह घरवाले बर्दाश्त करनेकेलिए मजबूर थे, यद्यपि दिलसे वे शंकित रहते थे। अबकी बार यागेशने 'संगीतरत्नप्रकाश'—आर्यसमाजी तुकबन्दियोंके संग्रह—को कहींसे पैदा किया। खाटपर लेटे हम बड़े मौजसे अपने संगीतपलायन स्वरमें उसके मूर्ति-पूजा-श्राद्ध विरोधी भजनोंको गाया करते। एक दिन ऐसे ही समय परागके एक चचा आ गये, वह गांवके उन व्यक्तियोंमें थे, जिनका गरीबीके कारण ब्याह नहीं हो सका, और जिनके लिए कुछ दिनोंमें ही तमादी लगनेवाली थी। उन्होंने कहा—'मैंने दोहरीबरहजमें आर्यसमाजियोंकी सभा देखी थी। वह यहां नहीं पहुंचे तो?'

'यहां क्या जरूरत है, काका?'

'अरे! विधवाविवाह चलता, कितने घरोंके चिराग बुझनेवाले हैं।'

और इस बातमें बहुत कुछ सचाई थी। कनैलाके बीस ब्राह्मण घरोंमेंसे तीसरी अगली सन्तानें बिल्कुल अविवाहित थीं, और व्यक्तिको लिया जावे, तो दो ही तीन ऐसे घर थे, जिनको ब्याहकी ओरसे निश्चिन्तता थी, बाकी सबके यहां सयाने-सयाने व्यक्ति अविवाहित पड़े थे। सबका ब्याह होनेपर ढेरकी ढेर सन्तानें होंगी, इस बातपर दिमाग लगानेकी मुझे उस वक्त जरूरत नहीं थी।

हलवाहेके रुपयेका इन्तजाम कहींसे करके, पिताजीने मिसरगांवकी जमींदारी अपने रिश्तेदारके नाम ले ली थी। वह स्वयं वहांकी तहसील वसूल करने जाते, और कभी-कभी मैं भी गांव देखने जाता था। एक दिन जानेपर मेरे एक परिचित राजपूत-परिवारमें ताजी मछली मारकर आई थी, उपरसे कहा गया—'पांड़ेजी आयें, बनायें न मछली।' (ब्राह्मण होनेसे मैं राजपूतके हाथकी कच्ची रसोई नहीं खा सकता था, और मछली कच्ची रसोई थी, इसमें सन्देहकी गुंजाइश न थी)। बनारसके नियम साथ कुछ दिनोंकी संगतसे अधिक थोड़ा ही हो सकता

है, मैंने बनाकर खाया। तेलमें तलकर हल्दी सरसोंमें बनी मछलियां न जानें उस समय इतनी स्वादिष्ट क्यों होती थी? जिगरसडीमें बहुत साल तक ब्रिटिश-गायना (दक्षिणी अमेरिका) में रहकर लौटा एक आदमी था। वह वहां अरकाटीके बहकावेमें आकर कुली बनकर गया था। बीसों साल रहनेके बाद भी वह वहांसे खाली हाथ लौटा था। वह एक तरहकी अंग्रेजी—जिसको व्याकरणसे कोई वास्ता न था—धड़ल्लेके साथ बोलता था। जब उसे गायनाके आरामका खयाल आता, तो लौटनेके लिए पछताता था।

इस बार परमहंस बाबाकी कुटियापर मैं गया कि नहीं—यह याद नहीं। वैराग्य और वेदान्तका जोर कम होकर उसकी गति किसी दूसरी ओर हो रही थी, जिज्ञासा और यात्रा-लिप्साका वेग पहिले ही जैसा था?

प्रयागका माघ-मेला नजदीक आया। यागेशसे सलाह हुई, वहां चलनेकी। घरवालोंको मेरे ऊपर अब उतना सन्देह नहीं था, इसलिए खास निगरानी नहीं थी। एक दिन बीस-बाईस रुपये मेरे हाथ लगे, और मैं रानीकीसराय स्टेशनसे प्रयागके लिए रवाना हो गया।

प्रयागमें मैं यागेशसे दो-चार दिन पहिले पहुँचा, पैसा था, मेलेमें ठहरनेकी जगहोंकी कमी न थी। आजकलके मेलेको उस दृष्टिसे कभी देखा नहीं, उस वक्त तो बहुत-सी जगहोंमें धार्मिक व्याख्यान होते दिखलाई पड़ते थे। पुराने ढंगके कथावाचक व्यास लोग जहां शामको अपनी कथा शुरू करते थे, वहां नये ढंगके व्याख्यान सनातनधर्म और आर्यसमाजके शामियानोंमें हो रहे थे। उसी वक्त मैंने पहिले-पहिल पंडित मदनमोहन मालवीयका व्याख्यान सुना, शायद किसी धार्मिक सभाका विशेष अधिवेशन था। कमायूंके पंडित दुर्गादत्त पन्त ऋषिकुलके दो ब्रह्मचारियोंके साथ पहुँचे हुए थे, जिनके सिरमें रुद्राक्षकी माला बँधी हुई थी। आर्यसमाजके व्याख्यानोंको मैं ज्यादा सुनता रहा, और उनकी खंडन-मंडनकी पुस्तकें भी लेकर पढ़ता रहा। यागेशके आ जानेपर उनके ससुरालके सम्बन्धी एक पुलिसके जमादारके पास हम लोग रातको रह जाते थे।

मेरा इरादा था, खाने-पीने लायक कुछ कमाकर पढ़ाईको जारी रखनेका। इसी खयालसे मैं एक दिन इंडियन प्रेस गया। 'सरस्वती' का इधर कई वर्षोसे निरन्तर पाठ कर रहा था, और दीवारके सहारे चश्माधारी गिरी मूछवाले जिस पुरुषसे बातचीत कर रहा था, मेरी समझमें वह पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी थे, यद्यपि यह बात गलत निकली, मैं पंडित रामजीलाल शर्मासे बातें कर रहा था। उन्होंने बड़ी नम्रतासे कहा—'यदि दो-तीन दिन पहिले आये होते, तो प्रूफ-रीडरीमें मैं रख लेता, लेकिन अब, अफसोस है, कोई काम नहीं।' इसी वक्त, एक दिन यागेशके बहनोई ब्रजभूषण पांडे (?) के यहां शाहगंजमें गया था, वहां हाईकोर्टमें

काम करनेवाले लकड़ीकी टाँगवाले अलीगढ़के एक बाबूसे भेंट हुई। कई आद
बैठे हुए थे। उन्होंने मेरी पढ़नेकी रुचि देखकर कहा—'क्यों नहीं आगरामें पं
भोजदत्तके विद्यालयमें चले जाते, वहाँ खाने और पढ़नेका प्रबन्ध है, व्याख्य
सिखाया जाता है।'

उनकी बात मेरे मनमें बैठ गई। प्रयागमें मकरसंक्रान्ति तो जरूर पूरी
होगी, और शायद अमावस्या तक और रहा हूँगा। मेरे पास इतने ही पैसे रह ग
जिसमें आगरेका टिकट खरीदकर आठ आने पैसे बचे, जब कि मैं इलाहाबाद
आगराकेलिए रवाना हुआ।

२

आर्य मुसाफिर विद्यालय आगरामें

उसदिन (जनवरी १९१५) सबेरेकी गाड़ीसे मैं आगरेमें उतरा था। स्टेशन पर उतरते ही पंडित भोजदत्तके आर्य मुसाफिर विद्यालयका पता न लग सका उसको ढूढ़ निकालनेसे पहिले मुह-हाथ धो लेना जरूरी समझा, इसलिए सीधे यमुना किनारे पहुँचा। मुह-हाथ धोया, शायद स्नान भी किया। किसी स्नानार्थी आर्य सज्जनने विद्यालयका पता नामनेर बता दिया। आठ आने पैसेमेंसे कुछ तो जलपानमें खर्च हो गया, बाकीको पाकेटमें रखे पैदल ही मैं नामनेरकी ओर चला। मुहल्ले और वहां मुसाफिर विद्यालयके मिलनेमें देर न हुई। सड़कसे थोड़ा हटकर एक मन्दिर था, मुसाफिर विद्यालयका मकान उसीकी आड़में पड़ता था। विद्यालयके लिए कोई खास तौरसे मकान ठीक नहीं किया गया था। एक पुराना मकान आर्यसमाजकेलिए खरीदा गया था, उसीमें विद्यालयका काम होता था। दरवाजेसे भीतर घुसते ही एक बड़ी दालान थी, यहीं संस्कृतकी पढ़ाई होती। ऊपर तरफ कुछ कोठरियां थीं, जिनमें विद्यार्थी रहते। कोठेपर उत्तरकी कोठरीमें अरबीकी पढ़ाई होती, और पश्चिमकी कोठरीमें कोई विद्यार्थी रहता। आठ-दस विद्यार्थियोंके रहनेकेलिए कोठरियां काफी नहीं थीं, इसलिए बाकी लड़के स्वामीके लिए मकानमें रहते थे, और यह कई जगह बदलता रहा।

विद्यालयमें जानेपर पहिले विद्यार्थियोंसे मुलाकात हुई। मास्टर साहब मौलवी महेशप्रसाद उस वक्त नहीं मिल सके। अधिकांश लड़के मेरी ही उमरके थे। उनसे नये लड़कोंकी भरतीके बारेमें पूछनेपर मालूम हुआ—भरती बंद हुए दो-तीन मास हो गये हैं, किन्तु जगह है, आप विद्यालयके प्रबन्धक डाक्टर लक्ष्मीदत्त (पंडित भोजदत्तके ज्येष्ठ पुत्र) से मिलें। दस बजेके करीब मैं पंडित भोजदत्तके

घरमें सीढ़ीसे चढकर उस कोठरीमें गया, जहा साप्ताहिक 'मुसाफ़िर आगरा' का दफ्तर था। छोटी-सी कोठरी, जिसमें दो मेजों और चार-पांच कुर्सियोंके बाद मुश्किलसे थोडी-सी जगह घरके भीतर घुसनेके लिए रह जाती। मेजोंपर कलम-दवात-कागजके अतिरिक्त बहुतसे हिन्दी-उर्दूके अखबार पड़े रहते, जिनमें साप्ताहिकोंकी और उर्दूवाले अखबारोकी संख्या अधिक होती।

मालूम नही डाक्टर लक्ष्मीदत्त उस वक्त मौजूद थे, या उनकी प्रतीक्षामे मुझे कुछ देर बैठना पड़ा। डाक्टर लक्ष्मीदत्तका चेहरा गोखलेसे ज्यादा मिलता। चश्मा लगा लेनेपर सिर्फ़ मराठी पगड़ीकी कमी रह जाती थी। वह फ़ेल्टकी गोल टोपी लगाया करते। नवागन्तुकके साथ बात करनेमे उनकी मुखमुद्रा गम्भीर हो जाती, यद्यपि परिचितको हँसने-हँसानेमें उन्हें बहुत मजा आता। मैने उनसे विद्यालयमे भरती कर लेनेकी दरख्वास्त की। उन्होने मेरी पढाईके बारेमें पूछा। उर्दू मिडल, काफ़ी संस्कृत और जरा-जरा अंग्रेजी भी, भर्तीकेलिए काफ़ी योग्यता थी। पढकर तुम अपना समय आर्यसमाजके प्रचारमें लगाओगे?—अवश्य, यदि आप मुझे उसके योग्य बना देंगे। 'अच्छा, तो आप जाइये—आप भर्ती हो गये।'

नवागन्तुक सहपाठीको देखकर तरुण विद्यार्थियोंको बहुत कौतूहल होता है। कोई आंख बचाकर हँसी भी उडाना चाहते हैं, कोई नई जगहमें दिल लगनेमें सहायता देना चाहते है। कोई चाहते है नवागन्तुकके बारेमे विशेष जानना, और कोई अपने हीको सबसे आगे दिखलाना चाहते है।

मुसाफिर विद्यालयके विद्यार्थी अब तक मिले मेरे सहपाठियोंकी तरहके नही थे। इन सबके हृदयमें एक खास भाव लहरें मार रहा था। वे बड़ेसे बड़े खतरेका सामना करके वैदिक धर्म—जिसे वह कभी-कभी देश-स्वातंत्र्यसे अभिन्न समझते थे—का प्रचार करना चाहते थे। दयानन्द और लेखराम—जिसकी स्मृतिमें यह विद्यालय स्थापित हुआ था—की कुरबानियां, सचमुच ही, उनके हृदयोंमें प्रेरणाका काम देती थीं। इस तरहकी भावनामे ओत-प्रोत विद्यार्थी अभी तक मुझे साथ पड़नेकेलिए नही मिले थे।

उस पहिली मुलाकातमें किसके साथ किस तरह बातचीत हुई, यह तो याद नहीं। ज्यादा बोलने वालोंमें शायद अभिलाषचन्द्र और भगवतीप्रसाद थे। माणिकचन्द सहपाठियोंमें सबसे कम उम्र होनेमे कम बोलता था। मुंशी मुरारीलाल बनारस जिलेके रहनेवाले होनेसे, मेरे जन्मस्थानके सबमें नजदीकके थे, इसलिए उनकी ओर विशेष ध्यान जाना जरूरी था। दुर्गाप्रसाद और मास्टर बसंडाराम थोड़े ही महीनों बाद विद्यालय छोड़कर चले गये, इसलिए उनके साथके वार्तालापका कोई असर बाकी नही रहा। हममे ऊपरवाली कक्षाके दो विद्यार्थी थे, जिसमें रामगोपालके साथ तो मेरी घनिष्ठता उसी दिनसे स्थापित हो गई।

मुसाफिर विद्यालयमें दो सालका कोर्स था। कमसे कम उर्दू मिडल पास लड़के लिये जाते थे। उन्हें संस्कृत, अरबी भाषाओंके साथ ईसाई, मुसलमान, हिन्दुओंके प्रधान-प्रधान सम्प्रदायोंके दुर्बल रीति-रवाजों, सिद्धान्तों, और आर्य-समाजके मुख्य सिद्धान्तोंकी शिक्षा दी जाती। रोज शामको बाकायदा बहस मुबाहिसा (शास्त्रार्थ) कराया जाता, तथा भाषण देनेकी विधि बतलाई जाती। संस्कृतकी जितनी पढ़ाई मुसाफिर विद्यालयमें होती थी, उससे कहीं ज्यादा मैं उससे पढ़ चुका था, इसलिए और साथियोंसे पीछे पहुँचनेपर भी मुझे सिर्फ अरबी ही पढ़ना था।

जनवरी तक लड़ाई शुरू हुए ४ महीनेसे ऊपर हो गये थे, किन्तु उस वक्त की घमासान लड़ाई, और आज (१९४०) की सिग्फ्रीड तथा मेगिनो दुर्गपंक्तियोंके भीतर छिपकर चुपचाप बैठे रहनेमें बहुत अन्तर था। पहिलेसे सरकारकी ओरसे विशेष ध्यान न देनेके कारण, चीजोंका भाव बहुत बढ़ गया था, और अन्नका तो अकाल-सा मालूम होता था। हमारे यहां इसका असर गेहूँके आटेमें पर्याप्त आलू डालकर रोटीकी सूरतमें प्रकट हुआ, यद्यपि जाड़ोंके बाद फिर शुद्ध आटेकी रोटी बनने लगी।

गर्मियोंके आते-आते मैं भी अरबीमें अपने और साथियोंके साथ था, तब तक मसन्दाराम और दुर्गाप्रसाद हमें छोड़कर चले गये, अभिलाषकी स्थिति डांवाडोल रहती। उसे अरबी धातुओं और शब्दोंके रूप याद करनेकी जगह घड़ियोंके बनाने, मशीनोंके सूचीपत्रोंको निहारने तथा इधरसे उधर जानेमें ज्यादा मजा आता था। अब हमारी श्रेणीमें भगवती, माणिक, मुंशी मुरारीलाल और मैं चार ही नियमित विद्यार्थी रह गये थे। ऊपरकी श्रेणीमें बाबूराम और रामगोपाल स्थायी थे। भाई साहेब—महेशप्रसाद—के सहपाठी पंडित धर्मवीर धर्मप्रचारके लिए बाहर जाया करते, और उनकी इस्लामपर जबर्दस्त नुक्ताचीनियोंकी ख्याति सुनकर हमें बड़ी प्रसन्नता होती। मुरलीलाल हमारे विद्यालयके भजनोपदेशक थे, और उनके प्रभावशाली भजन—खास बीन-बीनकी जयार्गविरावें—अभी दर्शित क्षेत्रमें ही ख्याति पा रहे थे। मस्जिदके पश्चिम सब्जमंडी तैयारी कर रहे थे, और रोज आकर संस्कृत पढ़ा जाया करते थे। वह सनातनधर्मी थे, और समझ रहे थे, कुछ वर्षोंके बाद कर-में हम धर्मको बेच रहे हैं। अरबी फ़ारसी महेशप्रसाद पढ़ाते थे, जिन्हें हम सभी भाई साहेब कहते थे। मुसाफिर विद्यालयकी विद्यार्थीमंडलीमें तथा मेरे जीवनमें उनका खास स्थान है, इसलिए उनपर खास तौरसे लिखूंगा। इनके अतिरिक्त डाक्टर लक्ष्मीदत्त और उनके छोटे भाई पंडित भगवद्दत्त बी॰ए॰ अपने पिता पंडित गोविन्दराम द्वारा स्थापित इस विद्यालयकी उन्नतिके लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहते थे। सायमको दोनों भाई नामनेरके दांतों—जिनमें बीमारोंके सामने साहेब तथा ...

हँसमुख रहनेवाले पंडित प्यारेलाल तिवारी जरूर रहते—के साथ टहलते निकलते, और सूर्यास्त होते-होते विद्यालयमें चले आते। विद्यालयके बड़े आंगनमें बेंच और कुर्सियां पड़ी रहती। वहा उनकी और विद्यार्थियोंकी जमात बैठ जाती, और रातको नौ-दस बज जाते किन्तु हमें मालूम न होता। हमें, कभी उसी वक्त विषय दिया जाता, और वादी-प्रतिवादी बनकर शास्त्रार्थ करना पड़ता, तथा कभी एक-दो दिन पहिले से भी विषय दे दिया जाता। हमारे भाषणकी त्रुटियोंपर डाक्टर साहेबकी आलोचना होती, जो बडे कामकी चीज थी। भाषणमें भी शिक्षा इसी तरह विषयको पहिले, या परीक्षार्थ सद्यः देकर होती थी। भाषणमें जब तक अभिलाष रहे, तब तक वह अच्छे रहे, शास्त्रार्थमें थोडे ही दिनों बाद लोग मेरा लोहा मानने लगे, इसमें संस्कृतकी मेरी अभिज्ञता विशेष कारण न थी। शास्त्रार्थमें मैं सारी शक्तिको अपने ऊपर किये गये आक्षेपोके उत्तर देनेमें खर्च नही करता था, बल्कि काफ़ी समय प्रतिद्वन्दीपर आक्षेपोंकी झड़ी लगानेमें खर्च करता था। धीरे-धीरे आक्षेपोंकी संख्या बढती जाती, प्रतिद्वन्द्वी सबका जवाब नही दे पाता, मैं उत्तर न पाये आक्षेपोंको दुहराता जाता, और दो-तीन वारी बीतते-बीतते प्रतिद्वन्द्वी अपने ऊपर किये गये आक्षेपोंके उत्तर देनेमें ही उलझ जाता, उसे मेरे ऊपर आक्षेप करनेकी फुरसत ही नहीं रह जाती। मेरा काम इतमीनानसे सब तरफ़से सुरक्षित हो आक्रमण करते जाना, तथा श्रोतृमंडलीपर अपने शस्त्रक्षेपके कौशलकी धाक जमाना रहता। मेरे बाकी तीन स्थायी साथियोंमें मुरारीलाल व्याख्यान देनेमें अच्छे थे, भगवती व्याख्यानकी कमीको अपने तीखे आक्रमणोसे पूरा करता। माणिक बच्चा था, उसपर पढ़नेकी ओर ज्यादा ध्यान देनेका आग्रह था। ऊपरवाली श्रेणीमें रामगोपाल भाईमें वक्तृत्व-शक्ति अच्छी थी। वह बोलनेमें स्वरके उतार-चढावको ठीकसे अदा कर सकते थे। लिखे और रटे उद्धरणोंको वह बड़े धड़ल्लेसे इस्तेमाल कर सकते थे। सारे विद्यालयमें वक्तृत्वकलाकी दृष्टिसे उनका कोई सानी नही था। बाबूरामजी भी अच्छा बोल लेते थे।

भाई महेशप्रसाद इलाहाबाद जिलेमें कायस्थान कस्बेके रहनेवाले थे। मेट्रिक पास करनेके बाद सब-इन्स्पेक्टरीके लिए उम्मीदवार हुए। करीब-करीब ठीक हो गया था, और वह घोड़ेकी सवारी भी सीखने लगे थे, इसी समय इलाहाबादमें पढनेकी अवस्थामें मनपर पड़े संस्कार उनपर असर डालने लगे। उस वक़्त इलाहाबादमें एक उग्र राष्ट्रीयतावादी पत्र 'हिन्दुस्तान' उर्दूमें निकला करता था। उसके कितने ही सम्पादक जेलमें चले गये थे, किन्तु 'हिन्दुस्तान' निर्भीकतापूर्वक ब्रिटिश शासनके अत्याचारोंका—हां ज्यादातर अत्याचारोको ही, अपनी राष्ट्रीय कमजोरियोकी ओर उग्र राष्ट्रीयदलको भांति उमे ध्यान दिलानेकी जरूरत न थी—भंडाफोड़ करता था। 'हिन्दुस्तान' के जेल जानेवाले सम्पादकोंमें महात्मा नन्द-

गोपाल भी थे, जिनका भाई साहेबपर काफ़ी असर पड़ा था। शायद सूफ़ी अम्
प्रसादको वह देख न पाये थे, किन्तु उनके साहसपूर्णकार्य—विशेषकर एंग्लो-इंडि
वन महीनों पुलिसको चकमा दे घूमते रहना—उनकी प्रशंसाकी चीजें थीं। ये
भंगके बाद स्वतन्त्रताके लिए देशने जितनी आहुतियां दी थीं, उनका इतिहास उ
जबानी याद था। पहिले-पहिल ये रोमांचक, आत्मबलिके जीते-जागते उदाहर
मुझे भाई साहेबके मुंहसे ही सुननेको मिले। भाई साहेब वक्ता न थे, उनकी कल
भी साधारणतलसे ऊँचे नहीं उठ पाई, किन्तु वह हमारे लिए सफल शिक्षक ही नहीं
बल्कि कुछ और भी थे। धीरे-धीरे किन्तु स्थिरताके साथ जारी रहने अपने संलापों
जिनमें बीच-बीचमें प्रश्नोत्तर करनेकी हमें पूर्ण स्वतन्त्रता थी—द्वारा वह हमा
हृदयोंमें एक जबर्दस्त आग जला रहे थे। यह आग कितनी राजनीतिक पराधीनता
खिलाफ़ थी, और कितनी धार्मिक, यह हमें स्पष्ट न मालूम था; क्योंकि उन सम
'स्वदेश' और 'स्वधर्म' को हम अभिन्न समझते थे। 'आखिर' अकबराबादी (ठाकु
लक्ष्मीदत्त) की कविताओं, तथा सुखलाल अपने गानोंमें—

'वतनके नामपर यारो तुम्हें मरना नहीं आता' की जगह
'धरमके नामपर यारो तुम्हें मरना नहीं आता' यह देते थे।

हमारे लिए सौभाग्यकी बात थी, कि मुसाफ़िर विद्यालयमें हम पाठ्यपुस्तकों के बोझसे मरे नहीं जा रहे थे। संस्कृतमें जीवारामकी संस्कृत-शिक्षाकी प्रथम द्वितीय आदि पुस्तकें और शायद हितोपदेश भी था। अरबीमें 'सरफ़', नह्' की एक-एक पुस्तक तथा कुरानशरीफ़ था। पढ़ाईके बादका समय हमारा अपना था, किन्तु उसे हम बहुत उपयोगी और बहुत मनोरंजक ढंगसे बिताते थे। हम बाहरी पुस्तकें खूब पढ़ते, और खूब गप भी मारते थे। लेकिन यह हमारे भविष्य जीवन-निर्माणकेलिए बहुत उपयोगी साबित हुए। मुझे याद हैं वे दिन और खास करके वे रातें, जब चारपाईपर लेटे या बैठे भाई साहेब शहीदोंकी कथा सुनाते, 'हिन्दुस्तान' के भूखे शिक्षित सम्पादकोंकी तपस्याका वर्णन करते। सादगीकी भाई साहेब साक्षात् मूर्ति थे। वह मोटे कपड़े (खद्दरका अभी युग नहीं आया था, किन्तु हाथके बुने कपड़ोंपर भाई साहेबका जरूर जोर था)—कुर्ता-धोती पहिनते, टोपीकी जरूरत न थी। जूता देहाती। खानेमें सादगी रखनेके लिए, और, आर्थिक अवस्था मजबूर किये हुई थी। भाई साहेबको खानेके अतिरिक्त दस या पन्द्रह रुपये मासिक मिलते थे, जिसमें कुछ मासिक दे यह, एक मौलवी साहेबसे अरबीकी आगेकी पढ़ाई जारी रखे हुए थे।

अयोध्यामें भाषण और अखबारका आरम्भ हुआ था। महायुद्धकी खबरोंने जर्मनी आस्ट्रिया, जापान, रूस आदिके लोग अस्तित्वको मनवाया। और यहां तककी अवस्थामें मैं डिग चुका था, किन्तु अभी भी मैं था पुराने जमानेमें। मेरी धार्मिक

प्रवृत्ति किधरको है, इसका परिचय मुझे नहीं था। यहां आगरामें भाई साहेबके सम्पर्कमें आनेपर मालूम हुआ, जैसे आदमी अँधेरी कोठरीसे निकालकर सूरजकी रोशनीमें रख दिया जावे, जैसे दम घुटती काली कोठरीसे निकाल शीतल मन्द सुगन्ध-वायु परिचालित बागमें ला रखा जाये। अब मुझे मालूम होने लगा, दुनियामें ऐसे भी काम हैं, जिनकेलिए जीवनकी आवश्यकता है; ऐसे भी आदर्श हैं, जिनकेलिए मृत्यु मधुरतम वस्तु है। अंग्रेज किस तरह भारतका शोषण करते हैं, इस सम्बन्धमें उर्दू-हिन्दीमें जो भी उपलभ्य पुस्तकें थी, उन्हें भी मैंने ध्यानसे पढ़ा—इन पुस्तकोंमें कुछ जब्तशुदा भी थी। मुझे याद है, भाई परमानन्दके जब्तशुदा 'भारतका इतिहास' को बड़े परिश्रमके बाद जब हम हासिल कर पाये, तो कितनी खुशीके साथ उसे पढ़ रहे थे। अंग्रेजीके ज्ञानसे एकदम कोरा तो नहीं था, किन्तु अभी उसकी पुस्तकोंके पढ़नेका अभ्यास नहीं था।

खाना खानेके बाद दोपहरको मैं रोज 'मुसाफ़िर' के आफ़िसमें चला जाता, और दो-तीन घंटे रहकर अखबारोंको पढता। 'मुसाफ़िर' के परिवर्त्तनमें कई दर्जन अखबार वहां आया करते। 'लीडर' शायद डाक्टर साहेब खासतौरसे मँगाया करते। मुझे उसका भावार्थ भी अच्छी तरह समझमें नहीं आता था, क्योंकि समाचारपत्रोंकी भाषामें भी कुछ विशेषता रहती है, तो भी आगराके एक सवा बरसके निवासमें शायद ही किसी दिन 'लीडर' पर मैंने एकाध घंटा न दिया हो, और आखिरमें मुझे खबरोंके समझनेमें दिक्कत नहीं रह गई। इन अखबारोंमें धार्मिक अखबारोंकी ही संख्या ज्यादा थी। 'आर्यगजट' और 'प्रकाश', 'हिन्दुस्तान' और 'देश' लाहौरके अखबारोंका मैं निरन्तर पाठक था। 'सुदर्शन' जीने इसी वक्त अपना पत्र निकाला था। महात्मा मुंशीरामका 'सद्धर्मप्रचारक', फर्रुखाबादसे निकलनेवाला 'सत्यवादी' (?) आर्यसमाजके हिन्दी साप्ताहिक थे। इनके अतिरिक्त हमारे शहरसे निकलनेवाला तथा प्रान्तीय आर्यप्रतिनिधिसभाका मुखपत्र 'आर्यमित्र' उस वक्त सर्वानन्दके सम्पादकत्वमें निकल रहा था। हाल हीमें मैंने 'मेघदूत' के पद्यबद्ध अनुवादकी एक पुस्तक देखी थी, जिसमें अनुवादकका बड़ी दाढ़ी-मूछके साथ फोटो छपा था। मैं अपने साथियोंके साथ एक दिन शहर (हींगकी मंडी) के आर्यसमाजमें पंडित आर्यमुनि या स्वामी अच्युतानन्दका व्याख्यान सुनने गया था, वहां दो-तीन बरसकी बच्ची लिए एक मूंछ-दाढ़ी-सफ़ाचट सज्जन आकर बैठ गये। मेरे साथियोंमेंसे किसीने कानमें कहा—यही 'आर्यमित्र' सम्पादक सर्वानन्दजी है, लेकिन इनका असली नाम है पंडित लक्ष्मीधर वाजपेयी। मुझे मेघदूत की तसवीर याद आई। मेरे एक साथीने बतलाया—मिडल तक ही पढ़कर इन्होंने इतनी योग्यता प्राप्त कर ली है, कि ये हिन्दीके बड़े-बड़े लेखकोंका कान काटते हैं। मैंने सोचा—मैं भी मिडल ही पास हूँ। अखबारोंमें हमारी नजर तीन चीजोंपर

रहती—आर्यसामाजिक जगतकी क्या नई खबर है, कहीं शास्त्रार्थ और मुबाहिसा तो नहीं हो रहा, किसी बड़े समाजका जल्सा तो नहीं हुआ, और उसमें कौन-कौन प्रसिद्ध व्यक्ति आये—स्वामी सोमदेव, स्वामी मुनीश्वरानन्द, स्वामी अनुभवानन्द, स्वामी सर्वदानन्द, स्वामी सत्यानन्द, महात्मा मुंशीराम, महात्मा हंसराज, प्रोफेसर रामदेव, प्रोफेसर दीवानचन्द, पंडित तुलसीराम, पंडित रामचन्द्र देहलवी, चौधरी रूपचन्द—आदि हमारी उस दुनियाकी विख्यात मूर्तियां थीं। फिर देखते कहीं किसी आर्यसमाजी व्याख्यान या मुबाहिसाको लेकर हिन्दुओं या मुसल्मानोंमें सिर फुटौवल हुई कि नहीं। खंडन-मंडनके लेख—विशेषकर इस्लामके विरुद्ध—बहुत चावसे पढ़े जाते, और १९१५ ई० के अन्त होनेसे पहिले ही 'मुसाफिर आगरा' ने केदारनाथ विद्यार्थीके भी लेख छापने शुरू किये। अपने लेखको पहिले-पहिल छपा देखकर तरुण लेखकको कितनी प्रसन्नता होती है, उसे अनुभवी ही समझ सकते हैं। मेरा उर्दूवाला लेख पहिले छपा या हिन्दीवाला, इसे नहीं कह सकता; किन्तु मेरठके हिन्दी मासिक 'भास्कर' के दो अंकोंमें अपने छपे लेखोंसे मुझे ज्यादा खुशी हुई। यही हिन्दीका मेरा प्रथम लेख है। इसमें अयोध्यामें साधु लोगोंके पास गृहस्थ लोग कैसे मन्त्र लेने आते हैं, इसे विदेहीजीके स्थानमें देखे—दृश्यको लेकर मैंने वर्णित किया था।

संस्कृतकी पढ़ाईसे छुट्टी पानेके कारण मेरे पास कुछ और भी फ़ाजिल समय था, जिसे मैं बाहरी पुस्तकोंके पढ़नेमें लगाता था। 'मुसाफ़िर' आफिसकी रद्दियों और कूड़ेमें बहुत-सी समालोचनार्थ आई आर्यसमाजी पुस्तकें पड़ी थीं। मैंने लगकर कूड़ा-कचड़ा साफ किया, पुस्तकोंको जमा किया, और एक-एकको पढ़ डाला। इन पुस्तकोंमें पंडित आर्यमुनि, पंडित राजाराम शास्त्री, पंडित तुलसीरामके किये दर्शन, उपनिषद् और दूसरे संस्कृत ग्रंथोंके मूलसहित अनुवाद थे। मैं अब इन ग्रंथोंमें रस लेने लायक हो गया था। उर्दूकी 'कुल्लियात-आर्यमुसाफ़िर' हमारेलिए बड़ी प्रिय चीज थी, क्योंकि यह उन्हीं शहीदे-धर्म पंडित लेखराम आर्यमुसाफिरकी कृतियोंका संग्रह था, जिनकी स्मृतिमें हमारा आर्यमुसाफिर विद्यालय स्थापित हुआ था। स्वामी दर्शनानन्द, पंडित लेखराम, महाशय धर्मपाल (जो अब फिर मुसल्मान हो चुके थे) की उर्दू पुस्तकोंको मैंने बड़े शौकसे पारायण किया था। इस्लामकी समालोचनामें लिखी गई पादरियोंकी भी बहुत-सी पुस्तकें मैंने देखीं। मेरे साथी मुर्गी-मुर्गाई परम्पराको दुहराते हुए जब मौलवी सनाउल्ला अमृतसरी, पादरी ग्वालासिंह और स्वामी दर्शनानन्दकी शास्त्रार्थमें अप्रतिम प्रतिभाओंका वर्णन करते, तो मुझे ईर्ष्या होती—क्या मैं भी ऐसा हो सकता हूँ। मौलवी सनाउल्लाके 'अहले-हदीस' का तो मैं हर सप्ताह पाठ करता था। 'पैगाम-सुलह', 'अखबार', 'नूर' जैसे कादि-यानी अखबारोंसे भी मुझे नवीन इस्लामकी जानकारीका अच्छा मौका लगता था।

हम लोग वैदिकधर्म–आर्यसमाजके सिद्धान्तों–ऋषि दयानन्दके पैगामको–सारी दुनियामें पहुँचानेकेलिए मिशनरी तैयार किये जा रहे थे। हमें उपदेशों अखबारों और पुस्तकों द्वारा बतलाया जाता था, कि दुनियाका सबसे पुराना धर्म–सारे धर्मोंका आदि स्रोत–आज भी अपने सिद्धान्तोंमें कितना मजबूत है। उसमें एक ईश्वर छोड़ किसी दूसरेकी पूजा नहीं है। बहुदेववाद वेद-विरुद्ध है, श्राद्ध ब्राह्मणपोपोंके पेट पालनेकी चाल है। अवतार अजन्मा ईश्वरका नहीं होता। पुनर्जन्म और कर्मका सिद्धान्त हमारे धर्मको सारे धर्मोंसे श्रेष्ठ सिद्ध करता है। वर्ण-व्यवस्था जन्मसे नहीं, रुचिके अनुसार व्यवसाय चुननेकी स्वतन्त्रताका दूसरा नाम है। तीर्थ, मूर्ति-पूजा आदि सभी पोपलीलायें हैं। बात-बातमें हमारे सामने ईसाई मिशनरियोंके धर्मप्रचारकेलिए किये गये स्वार्थत्याग और साहसकी मिसाल पेश की जाती थी, और उससे भी ज्यादा, जापान-चीन-तिब्बत-मध्यएसियाके दुरूह रास्तोंसे शताब्दियों पूर्व बौद्धभिक्षुओंकी यात्राओंका उदाहरण पेश किया जाता था। हम अपनेको दयानन्दके भिक्षु और अपने विद्यालयको एक छोटी-सी नालन्दा–यद्यपि बहुत त्रुटिपूर्ण–समझते थे।

शिक्षा सिर्फ़ मौखिक नहीं थी, उसे व्यवहारमें रूप देनेका भी हमारा प्रयत्न होता था। मुसाफ़िर विद्यालयके हम सभी विद्यार्थी सप्ताहके अधिकांश दिनोंमें शहरमें, या सुल्तानपुरा बाजारमें सड़कपर व्याख्यान देने जाते थे। यह परम्परा मेरे पहिले कायम हुई थी, पहिली बारीके विद्यार्थी थे भाई साहेब और धर्मवीर जी, रामगोपालजी दूसरी बारीमें, और अब हमारी जमातका नम्बर तीसरा था। मालूम होता है, इसे ईसाइयोंसे सीखा गया था। इन व्याख्यानोंके श्रोता दस-पाँच मिनटसे अधिक एक जगह न खड़े रह सकनेवाले अपनी खरीद-फरोख्तकेलिए आये लोग हुआ करते थे, इसलिए हम लोगोंका व्याख्यान संक्षिप्त होता था। इन व्याख्यानोंके अतिरिक्त अछूतोद्धारमें हमें खासतौरसे काम करना पड़ता था। पंडित भोजदत्तजी अखिल भारतीय शुद्धि सभाके प्रधानमन्त्री और संस्थापक थे। इसका काम तो था, मुसल्मानों और ईसाइयोंको वैदिक धर्मकी दावत देना, किन्तु इसमें उसे बहुत कम सफलता मिलती थी। कभी ही कोई भूला-भटका मुसलमान या ईसाई जाति-पाँतिकी संकीर्णतासे दबे हिन्दू समाजमें आना चाहता था। हाँ, शुद्धि-शुदोंकी संख्या दिखलानेकेलिए अछूतोंके शुद्धिसंस्कार होते थे। कुछ पढ़-लिख गये, तथा बेहतर आर्थिक अवस्थावाले अछूत परिवार जरूर चाहते थे कि समाजमें उनके लांछित अपमानित स्थानमें कुछ परिवर्तन हो। इसी इच्छासे वह अपनी 'शुद्धि' कराते थे। इसकेलिए एक दिन मुकर्रर होता। उस दिन घरके व्यक्ति, संस्कारकी गम्भीरताको साबित करनेके लिए उपवास रखते, शामको हम लोग पहुँचकर हवनकुंड खोदते। चौक-चौक पूरते, संस्कारविधिमें आये मन्त्रोंसे हवन

रहती—आर्यसामाजिक जगतकी क्या नई खबर है, कहीं शास्त्रार्थ और मुबाहिसा तो नहीं हो रहा, किसी बड़े समाजका जलसा तो नहीं हुआ, और उसमें कौन-कौन प्रसिद्ध व्यक्ति आये—स्वामी सोमदेव, स्वामी मुनीश्वरानन्द, स्वामी अनुभवानन्द, स्वामी सर्वदानन्द, स्वामी सत्यानन्द, महात्मा मुंशीराम, महात्मा हंसराज, प्रोफ़ेसर रामदेव, प्रोफ़ेसर दीवानचन्द, पंडित तुलसीराम, पंडित रामचन्द्र देहलवी, चौधरी खूबचन्द—आदि हमारी उस दुनियाकी विख्यात मूर्तियां थीं। फिर देखते कहीं किसी आर्यसमाजी व्याख्यान या मुबाहिसाको लेकर हिन्दुओं या मुसलमानोंसे सिर फुटौवल हुई कि नहीं। खडन-मडनके लेख—विशेषकर इस्लामके विरुद्ध—बहुत चावसे पढ़े जाते, और १९१५ ई० के अन्त होनेसे पहिले ही 'मुसाफ़िर आगरा' ने केदारनाथ विद्यार्थीके भी लेख छापने शुरू किये। अपने लेखको पहिले-पहिल छपा देखकर तरुण लेखकको कितनी प्रसन्नता होती है, उसे अनुभवी ही बतला सकते हैं। मेरा उर्दूवाला लेख पहिले छपा या हिन्दीवाला, इसे नहीं कह सकता; किन्तु मेरठके हिन्दी मासिक 'भास्कर' के दो अंकोंमें अपने छपे लेखोंसे मुझे ज्यादा खुशी हुई। वही हिन्दीका मेरा प्रथम लेख है। इसमें अयोध्यामें साधु लोगोंके पास गृहस्थ लोग कैसे मन्त्र लेने आते हैं, इसे विदेहीजीके स्थानमें देखे-दृश्यको लेकर मैंने वर्णित किया था।

संस्कृतकी पढ़ाईसे छुट्टी पानेके कारण मेरे पास कुछ और भी फ़ाजिल समय था, जिसे मैं बाहरी पुस्तकोंके पढ़नेमें लगाता था। 'मुसाफ़िर' आफ़िसकी रद्दियों और कूड़ेमें बहुत-सी समालोचनार्थ आई आर्यसमाजी पुस्तकें पड़ी थीं। मैंने लगकर कूड़ा-कचड़ा साफ़ किया, पुस्तकोंको जमा किया, और एक-एकको पढ़ डाला। इन पुस्तकोंमें पंडित आर्यमुनि, पंडित राजाराम शास्त्री, पंडित तुलसीरामके किये दर्शन, उपनिषद् और दूसरे संस्कृत ग्रंथोंके मूलसहित अनुवाद थे। मैं अब इन ग्रंथोंमें रस लेने लायक हो गया था। उर्दूकी 'कुल्लियात-आर्यमुसाफिर' हमारेलिए बड़ी प्रिय चीज थी, क्योंकि यह उन्हीं शहीदे-धर्म पंडित लेखराम आर्यमुसाफिरकी कृतियोंका संग्रह था, जिनकी स्मृतिमें हमारा आर्यमुसाफ़िर विद्यालय स्थापित हुआ था। स्वामी दर्शनानन्द, पंडित भोजदत्त, महाशय धर्मपाल (जो अब फिर मुसल्मान हो चुके थे) की उर्दू पुस्तकोंको मैंने बहुत शौकसे पारायण किया था। इस्लामकी समालोचनामें लिखी गई पादरियोंकी भी बहुत-सी पुस्तकें मैंने देखीं। मेरे साथी मुनी-सुनाई परम्पराको दुहराते हुए जब मौलवी सनाउल्ला अमृतसरी, पादरी ज्वालासिंह और स्वामी दर्शनानन्दकी शास्त्रार्थमें अप्रतिम प्रतिभाओंका वर्णन करते, तो मुझे ईर्ष्या होती—क्या मैं भी वैसा हो सकता हूं। मौलवी सनाउल्लाके 'अह्ले-हदीस' का तो मैं हर सप्ताह पाठ करता था। 'पैगाम-सुलह', 'अलअन्द', 'नूर' और कादियानी अखबारोंसे भी मुझे नवीन इस्लामकी जानकारीका अच्छा मौका लगता था।

हम लोग वैदिकधर्म-आर्यसमाजके सिद्धान्तों-ऋषि दयानन्दके पैगामको-सारी दुनियामें पहुँचानेकेलिए मिशनरी तैयार किये जा रहे थे। हमें उपदेशों अखबारो और पुस्तकों द्वारा बतलाया जाता था, कि दुनियाका सबसे पुराना धर्म-सारे धर्मोका आदि स्रोत-आज भी अपने सिद्धान्तोंमें कितना मजबूत है। उसमें एक ईश्वर छोड़ किसी दूसरेकी पूजा नही है। बहुदेववाद वेद-विरुद्ध है, श्राद्ध ब्राह्मणपोपोंके पेट पालनेकी चाल है। अवतार अजन्मा ईश्वरका नहीं होता। पुनर्जन्म और कर्मका सिद्धान्त हमारे धर्मको सारे धर्मोसे श्रेष्ठ सिद्ध करता है। वर्ण-व्यवस्था जन्मसे नहीं, रुचिके अनुसार व्यवसाय चुननेकी स्वतन्त्रताका दूसरा नाम है। तीर्थ, मूर्ति-पूजा आदि सभी पोपलीलायें हैं। बात-बातमें हमारे सामने ईसाई मिशनरियोंके धर्मप्रचारकेलिए किये गये स्वार्थत्याग और साहसकी मिसाल पेश की जाती थी, और उससे भी ज्यादा, जापान-चीन-तिब्बत-मध्यएसियाके दुरूह रास्तोंसे शताब्दियों पूर्व बौद्धभिक्षुओंकी यात्राओंका उदाहरण पेश किया जाता था। हम अपनेको दयानन्दके भिक्षु और अपने विद्यालयको एक छोटी-सी नालन्दा-यद्यपि बहुत त्रुटिपूर्ण-समझते थे।

शिक्षा सिर्फ़ मौखिक नही थी, उसे व्यवहारमें रूप देनेका भी हमारा प्रयत्न होता था। मुसाफ़िर विद्यालयके हम सभी विद्यार्थी सप्ताहके अधिकांश दिनोंमें शहरमें, या सुल्तानपुरा बाजारमें सड़कपर व्याख्यान देने जाते थे। यह परम्परा मेरे पहिले कायम हुई थी, पहिली बारीके विद्यार्थी थे भाई साहेब और धर्मवीर जी, रामगोपालजी दूसरी बारीमें, और अब हमारी जमातका नम्बर तीसरा था। मालूम होता है, इसे ईसाइयोंसे सीखा गया था। इन व्याख्यानोंके श्रोता दस-पांच मिनटसे अधिक एक जगह न खड़े रह सकनेवाले अपनी खरीद-फ़रोख्तकेलिए आये लोग हुआ करते थे, इसलिए हम लोगोका व्याख्यान संक्षिप्त होता था। इन व्याख्यानोंके अतिरिक्त अछूतोद्धारमें हमें खासतौरसे काम करना पड़ता था। पंडित भोजदत्तजी अखिल भारतीय शुद्धि सभाके प्रधानमन्त्री और संस्थापक थे। इसका काम तो था, मुसलमानों और ईसाइयोंको वैदिक धर्मकी दावत देना, किन्तु इसमें उसे बहुत कम सफलता मिलती थी। कभी ही कोई भूला-भटका मुसलमान या ईसाई जाति-पांतकी संकीर्णतासे दबे हिन्दू समाजमें आना चाहता था। हां, शुद्धि-शुदोंकी संख्या दिखलानेकेलिए अछूतोंके शुद्धिसंस्कार होते थे। कुछ पढ़-लिख गये, तथा बेहतर आर्थिक अवस्थावाले अछूत परिवार जरूर चाहते थे कि समाजमें उनके लांछित अपमानित स्थानमें कुछ परिवर्तन हो। इसी इच्छासे वह अपनी 'शुद्धि' कराते थे। इसकेलिए एक दिन मुकर्रर होता। उस दिन घरके व्यक्ति, संस्कारकी गम्भीरताको साबित करनेके लिए उपवास रखते, शामको हम लोग पहुँचकर हवनकुंड खोदते। चौक-चौक पूरते, संस्कारविधिमें आये मन्त्रोंसे हवन

करते; घरके व्यक्ति उसमें यजमानके तौरपर बैठकर अपने हाथोंसे आहुति देते। फिर उनके हाथके बने हलवे-पूड़ीका प्रसाद बांटा जाता। हम पुरोहित लोग वहीं भोजन करते। हमारे इन शुद्ध होनेवाले भाइयोंमें अधिकतर आगराके आसपासके चमार होते, जो शकल-सूरतमें पास-पड़ोसके दूसरे लोगोंसे भिन्न नहीं मालूम होते थे।

वैष्णवधर्म—वैरागी सम्प्रदाय—से मैं उदासीन हो गया था। धर्मका आकर्षण नहीं बल्कि घूमने पढ़नेका आकर्षण, तथा घरसे मुक्तिका खयाल मुझे वहां ले गया था। वहां मेरे विचार बंध्या समान थे, किन्तु यहां आर्यसमाजमें अपनी बुद्धिको ज्यादा स्वच्छन्द, ज्यादा अनुकूल परिस्थितियोंमें पा रहा था। जाति-पांतका खंडन आर्यसमाजी एक हद तक ही करना चाहते थे, किन्तु मैं उसको असाध्य बीमारी समझता था। युक्तप्रान्तके आर्यसमाजियोंमें वर्णव्यवस्थाको लेकर उस वक्त दो दल हो गये थे, एक दल—ब्राह्मणपार्टी—वर्णव्यवस्थाको गुण-कर्म-स्वभावके अनुसार बतलाते भी स्वभावपर बहुत जोर देकर 'पनालेको यहीं' रखना चाहता था, इस दलके मुखियोंमें पंडित मुरारीलाल (सिकन्दराबादी), पंडित तुलसीराम और ज्वालापुर महाविद्यालयका पंडितदल शामिल था। स्वामी सर्वानन्दको पुरानी मर्यादाका अतिक्रमण कर, ब्राह्मणोंको नीचे दबाते हुए अछूतोंको आगे बढ़ाते देख, कविराज पंडित नाथूरामशंकरने 'चमरनके तारनको तारनके कारण प्रगटे मन्त सर्वदानन्द' लिख मारा था। मैं अपने छोटे दायरेमें इस विचारधाराका सख्त मुखालिफ़ था। मेरे सहपाठियोंमें सबसे अधिक घनिष्ट मित्र भगवतीप्रसाद कुछ दिनों तक गुरुकुल सिकंदराबादमें रहे थे, और पंडित मुरारीलाल शर्माके विचारोंसे प्रभावित हुए थे। वे अक्सर वर्णव्यवस्थाके बारेमें मुझसे झगड़ पड़ते। मैं सारे आर्य (समाजी) मात्रकी रोटी-बेटीके पक्षमें था, और स्वामी सर्वदानन्दकी खरी-खरी बातोंको बहुत पसन्द करता था।

एकमासमें एक बार गुरुजीके साथ एक दिन मैं छपरा जा रहा था। हमारे ही सेकंड क्लासके डिब्बेमें छपराके बैरिस्टर मिस्टर मुस्तफा बैठे हुए थे। बातचीतसे परिचय हुआ। मिस्टर मुस्तफाने गुरुजीसे कहा—'महन्तजी, अपने शिष्यको विलायत भेजिये।' किसलिए, सो मैंने नहीं सुना या याद नहीं। महन्तजीने हँस दिया। परसाका वैष्णव वैरागी क्रिस्तानोंके मुल्कमें जायेगा—इसपर वह सोच भी नहीं सकते थे। किन्तु वह बात मेरे लिए भी वैसी ही न थी। उससे भी पहिले बनारसमें जिस वक्त "सरस्वती" में मैं यात्राके अमेरिकायात्रा-सम्बन्धी लेखोंको पढ़ता, तो मेरा हृदय वहां साक्षी मात्र नहीं रहता था। सेंट्रल हिन्दू कालेजमें, शायद कुमार देवेन्द्रको स्वरके साथ गाते सुना था—'न्यूयार्कमें पहुँचकर हमको भी तार देना', तो उससे मेरे मनपर अजीब-सा प्रभाव पड़ा था। और अब भी हम

विदेशयात्राके ही स्वप्न देखा करते थे, मेरा स्वप्न अमेरिका युरोपका नहीं था, मैं एसियाके ही किसी भागको पसन्द करता था, पहिले अरब, मिश्र, ईरान और पीछे चीन-जापानको। किसलिए !—वैदिक धर्मके प्रचारकेलिए। किन्तु, जिस तरह धर्मवीरजी अरबमें धर्मप्रचारार्थ जानेकेलिए उतावले होकर बम्बईकी किसी मसजिदमें कई दिन काट आये थे, मैं उतनी जल्दीका पक्षपाती न था, उसके लिए मैं काफी तैयारीकी जरूरत समझता था। वैसे सभी चारों सहपाठी हमारे स्वप्नोंके सहभागी थे, किन्तु रामगोपालके साथ उनपर बहस करनेमें बहुत लुत्फ़ आता था। मैं स्वतन्त्र था, मुझे कहीं आने-जानेमें कोई बन्धन नहीं था, किन्तु रामगोपालकी उड़ानोंमें बाधक थी उनकी स्त्री। मैं सलाह देता—उसे पढ़ाकर अपने पैरोंपर खड़ा कर दो, कहीं अध्यापिका हो जायेगी। हमारी भविष्यकी कार्य-योजनाओंमें एक मिशनरी विद्यालय भी था, जिसमें पुराने नालन्दा और उस वक्तके मुसाफ़िर विद्यालयका संमिश्रण होगा। वहां हम पढ़े-लिखे नौजवानोंको छै-सात वर्षकी विशेष शिक्षा देंगे। जो जिन देशोंमें जायेगा, वह उस देशकी भाषा, संस्कृति और धर्मके बारेमें विशेष तौरसे पढ़ेगा।

पंडित भोजदत्तजी आगरामें ही थे, किन्तु, असाध्य बीमारी—शायद यक्ष्मा—से बीमार थे। उनके दर्शन बहुत कम हुआ करते थे।

मेरी बुआकी लड़कीका ब्याह करना था। फूफा साहेबने पत्र लिखा—'फ़ीरोजाबादके पोस्ट-मास्टर (आजमगढ़ जिलेके रहनेवाले) के लड़केको देख आना, और ब्याहकी बात कर आना।' मैं फ़ीरोजाबाद गया, और ब्याहके ठीक-ठाक करनेमें मदद दी। उसी समय कनैलासे पत्र आया—शायद यागेशका, कि पिताजी अर्ध-विक्षिप्तसे हो गये हैं, शायद तुम्हारे भाग जानेके कारण; इसलिए एक बार मिल जाओ। पन्द्रह-बीस दिनकी छुट्टी लेकर मैं कनैला आया। पिताजी बहुत दुबले हो गये थे, मालूम होता था बहुत दिनोंकी बीमारीसे उठे हैं। उन्होंने मुझे देखकर बड़ी प्रसन्नता, प्रकट की। दिमागकी गर्मी शान्त करनेकेलिए कनपटीके पास फ़स्द खोलकर खून निकालनेकेलिए आदमी आया हुआ था। उन्होंने कहा—"क्या करोगे फ़स्द खुलवाकर मैं अब अच्छा हो जाऊँगा।" दीवालीके दिनमें आजमगढ़ आर्यसमाजमें था, और कार्तिक पूर्णिमाके दिन करहाके मेलेमें मुझे लेक्चर झाड़ते देख मेला देखनेकेलिए आये कनैलाके स्त्री-पुरुषोंको बहुत आश्चर्य हुआ। इसी वक्त मुहम्मदाबादमें बाबू बैजनाथप्रसाद वकीलके यहां ठहरा। वह अभी-अभी इलाहाबादसे वकालत पास कर आये हुए थे। उनके पास 'कर्मयोगी' की पूरी फाइल थी। राजनीति पर बातचीत करनेके अतिरिक्त उस फ़ाइलके कितने ही भागोंको मैंने पढ़ा। तीन-चार सप्ताह बाद पिताजीने बड़ी खुशीके साथ मुझे आगरा लौट जानेकी इजाजत दी।

१९१५ ई० के जुलाई-अगस्त तक पढ़ने-लिखने, बोलने-चालनेमें मेरी काफी प्रगति हो चुकी थी। अब मुझे आगरासे बाहर, फ़तेहगढ़, जसवन्तनगर, फीरोजाबाद जैसे स्थानोंमें भी व्याख्यान और संस्कार करानेके लिए भेजा जाता था। व्याख्यान देते वक्त अपरिचित अगणित चेहरोंका रोब गालिब होना अब भी कम नहीं हुआ था, तो भी श्रोताओंकी टिप्पणी या चेष्टा अनुत्साहवर्धक न होनेसे मुझे आत्मग्लानि नहीं होती थी। इसी बीच शायद सितम्बर (१९१५) में जबलपुरसे डाक्टर लक्ष्मीदत्त और पंडित धर्मवीरको मुसलमानोंके साथ शास्त्रार्थ करनेका निमन्त्रण आया। मैं भी शास्त्रार्थियोंमें गिना जाने लगा था, और संस्कृतके प्रमाणोंको जुटानेमें तो उनकी काफी सहायता कर सकता था, इसलिए डाक्टर लक्ष्मीदत्तने मुझे भी चलनेकेलिए कहा। हम लोग पहिले इलाहाबाद गये। उस वक्त वहां युक्तप्रान्तके राजनीतिक नेताओंकी एक बड़ी कान्फ्रेंस हो रही थी। युक्त-प्रान्तमें उस वक्त लेफ्टेंट-गवर्नर शासन करता था, देशभक्तोंकी—जिसमें पंडित मोतीलाल नेहरू, तेजबहादुर सप्रू, आदि सभी शामिल थे—मांग थी, गवर्नरकी। शायद अंग्रेजी सरकारने इस मांगको ठुकरा दिया था, इसीपर यह विराट् कान्फ्रेंस कांग्रेसकी ओरसे सारे प्रान्तभरके लोगोंकी बुलाई गई थी। हम लोग आगरासे किसी सभाके प्रतिनिधि न थे। सभा-स्थल हीमें हमें एक-एक प्रतिनिधि टिकट मिल गया। कान्फ्रेंस शायद म्योहालमें हुई थी। अंग्रेजीमें धुआंधार तक़रीर हुई, जिसका समझना ऐसे भी हमारे लिए मुश्किल था, ऊपरसे गर्मीका पूछो मत, बर्फ डाले पानीके गिलासोंके गिलास गलेके नीचे उँडेले जाते थे, और प्यास बुझना जानती न थी।

जबलपुरमें हम लोगोंको हितकारिणी हाई स्कूलके मकानमें ठहराया गया—शायद उस वक्त कोई छुट्टी थी, जिससे स्कूल बन्द था। गर्मी यहां भी खूब थी, किन्तु बँगलेकी छत कुछ ऊँची थी, और लेमनेड बर्फ़का बराबर इन्तजाम रहता था। मुसलमानोंकी तरफ़से मौलाना सनाउल्लाह शास्त्रार्थ करनेवाले थे। उनकी मददके लिए मौलाना अबुतुराब, मौलाना कासिम बनारसी तथा दूसरे सज्जन भी आये थे। आर्यसमाजकी तरफसे डाक्टर लक्ष्मीदत्त और पंडित धर्मवीर बोलनेवाले थे। पंडित रामचन्द्र देहलवीके कुछ व्याख्यान वहांके टाउनहालमें हुए थे, उसीपर यह शास्त्रार्थ रखा गया था। मेरेलिए यह पहिला मौका था किसी आर्यसमाजी-मुसलिम शास्त्रार्थ देखनेका। एक ही प्लेटफार्मपर मध्यस्थ—जो शायद जबलपुरके किसी कालेजके मिशनरी प्रिंसिपल थे—की दोनों तरफ दो मेजोंपर दोनों पक्षके पंडित-मौलवी पुस्तकोंका ढेर लेकर बैठे हुए थे। चारों तरफ़ खुली जगहमें विराट् हिन्दू-मुसलिम जनता शास्त्रार्थ सुननेके लिए बैठी थी। रातके अँधेरेको दूर करनेकेलिए लालटेनोंका काफ़ी इन्तजाम था। वक्ताओंको बारी-बारीसे बोलना पड़ता था।

समय पूरा होते ही मध्यस्थ घंटी बजा देते। शास्त्रार्थका प्रभाव सभी जनतापर एक-सा कैसे पड़ता, जब कि उनको सहानुभूतियां पहिले हीसे बँटी हुई थीं। तो भी अपने धर्मको विज्ञानानुमोदित बनानेके लिए आर्यसमाज बहुतसे पुराने मिथ्या विश्वासोंको छोड़े हुए था; स्वामी दयानन्दने उन्ही सिद्धान्तोंको मान्य रहने दिया था, जिन्हे वह अपने सामयिकोंके कथनानुसार विज्ञानसम्मत समझते थे। एक तरफ़ अपनी पुरानी खुराफातोके अधिकांशकी होली जलाकर एक आदमी आया हो, और दूसरी ओर तेरह सौ वर्षोंकी अधिकांश लचर बातोंको काफ़िर होनेके डरसे न छोड़नेके लिए मजबूर व्यक्ति हो, दोनोमें कौन अच्छी तरह लोहा ले सकेगा, यह स्पष्ट ही है।

शास्त्रार्थ शायद दो दिन हुआ था। उसी समय हम तांगेसे भेड़ाघाटके मार्बल राक (संगमरमर चट्टान) को देखने गये थे। हम लोगोको निमन्त्रण देकर अपने घर खानेकेलिए ले जानेवालोमे एक बैरिस्टर कोई गुप्ता साहेब थे। वह विलायतमें तरुण भारतीयोके ऊपर खुफिया पुलिसकी कितनी कड़ी निगाह रहती है, इसके बारेमें कह रहे थे--हम उनसे बचनेकेलिए बहुधा मैदानकी घासमें बैठ जाते थे। जबलपुरमें एक दिन सस्कृतमें मुझे व्याख्यान देना था, किन्तु किसी कारणसे व्याख्यान नही हो सका। उस समयके शास्त्रार्थसे मुकाबिला करनेसे मालूम होता था, कि अबसे उस समयके लोग ज्यादा विचार-सहिष्णु थे।

युद्धकी भीषणता और भी बढ़ गई थी। नामनेर आगरा-छावनीके भीतर समझा जाता है। हम लोग दोपहर बाद पढ़नेकेलिए कभी-कभी एक बागमें जाया करते थे, वहा देखते थे आये हुए झुडके झुड रंगरूटोंको। खुफ़िया पुलिस और भेदियोंका तो चारों ओर जाल बिछा हुआ था। हमारे विद्यालयके सामनेवाले मन्दिरमें एक पगला रहता था, कितने लोग कह रहे थे--वह पागल नही भेदिया है। कुंअर सुखलालके गानोंमें कुछ राष्ट्रीयताकी गर्माहट बढ रही थी, जिसके लिए पुलिस सजग रहने लगी थी। एक बार हम लोगोके सामने प्रस्ताव आया था, मेसोपोतामियामें दुभाषिया बनकर पलटनके साथ जानेका। लेकिन न जाने क्यों बात वही तक रह गई, हममें दो-एक तो जरूर ही सैरके शौकमें जानेके लिए तैयार हो जाते। अब अभिलाष विद्यालयके विद्यार्थी नही रह गये थे, तो भी बीच-बीचमें आया करते थे, और बड़ी खतरनाक सूरतमें। उनकी घड़ी, फोटोग्राफ़ीके छोटे-छोटे औजारोंकेलिए चलनेका बड़ा शौक था। थोड़ेसे ही खर्चमें वह बड़े फिटफाटसे रहा करते थे। वह हमारे विद्यालयके परले दर्जेके चलते-पुर्जे--बुरे अर्थमें नहीं अच्छे अर्थोमें--तरुण थे। अपने साथियोंपर पूरा विश्वास रखते और खुद भी उनके पूरे विश्वासपात्र थे। बंगविच्छेदके बाद जो बम्ब-सम्प्रदाय चला, वह भीषण दमनके बाद भी घटनेकी जगह बढता ही जा रहा था। दिल्लीमें बाद-

सराय लार्ड-हार्डिंगके ऊपर बम्ब चला था, उसकी गूंज अब भी हवामें थी। हम बड़ी गम्भीरता और सहानुभूतिके साथ दिल्ली षड्यन्त्रके मुकदमेके बारेमें पढ़ा-सुना करते। मेरे आगरामें रहते ही वक्त अवधबिहारी, मास्टर अमीरचन्द और बाल-मुकुन्दको फांसी हुई थी। उनकी फांसी हमें अपने किसी अत्यन्त आत्मीयकी हत्यासे बढ़कर मालूम होती थी, साथ ही हमें उसका बहुत अभिमान भी था। पिछले सालभरके साहित्य और सत्संगने हमारे गुप्त हृदयको जागृत कर दिया था, राज-नीतिके साथ धर्मकी खिचड़ी बनाते हुए भी देशकी आजादीकेलिए हम बेकरार थे। अभिलाषने एक बार कहींसे भड़कनेवाले कुछ मसाले लाकर, एक कागजमें रस्सीसे बांधकर विद्यालयके आंगनमें पटका, हलका-सा धमाका हुआ, शायद आंगनसे बाहर आवाज नहीं गई। कुछ देर तक गन्धककी गन्ध उड़ती रही। बतलाया—यही बम्बका मसाला है, किन्तु असली बम्ब बनानेमें और बहुत-सी चीजें आवश्यक होती हैं। अभिलाष—साहसी और व्यवहारपटु, अभिलाष—मेरी नजरोंमें बहुत ऊँचा स्थान रखता था, यद्यपि उसके पढ़ाई छोड़ बैठनेको मैं पसन्द नहीं करता था। आतंकवादियोंसे मेरी बड़ी सहानुभूति थी। उनकी देशकी आजादीके बारेमें अधीरताकी मैं प्रशंसा करता था, और यदि जरूरत पड़ती तो उनके कामकेलिए मुझे प्राणोत्सर्ग करनेमें भी हिचकिचाहट न होती, लेकिन बस एक दिन दो मिनटके कागजकी पोटलीके धड़ाकेसे बढ़कर मुझे कभी आतंकवादके समीप ज्यादा जानेका मौका न लगा। मैं आतंकवादी क्यों न बना ! —इसमें शायद संयोग ही कारण हो सकता है, आसपास कोई मुझे उधर खींचनेवाला व्यक्ति नहीं था। अथवा मेरेमें ही दृढ़ जिज्ञासाकी कमी थी, और मैं उनके अड्डोंको ढूंढ़ने नहीं निकला। शायद अभिलाषका कोई सम्बन्ध रहा हो, किन्तु उसने मुझे किसी और साथीसे मिलानेकी बात नहीं की। भाई साहेब राजनीतिक स्वतन्त्रताका जबर्दस्त पाठ पढ़ा रहे थे, लाल-बाल-पालके परम भक्त थे, और देशकेलिए मरनेवालोंकी प्रशंसा करते नहीं थकते थे; किन्तु, वह भी किसी कर्मठ आतंकवादीके सम्पर्कमें नहीं आये थे। तो भी, मुसाफिर विद्यालयके नंगे सिर नंगे पैरवाले अर्धशिक्षित हम तरुण विद्यार्थी भी पुलिसकी निगाहसे बचे न थे।

१९१५ के अन्तके साथ मेरी पढ़ाईका अन्न भी खाना दीख पड़ा। मेरे साथियोंमेंसे कोई, नमाज और कोई मौजूद नागरी अक्षरोंमें करके आगरेके एक प्रेसको दे रहा था। एक बार उस प्रेसने मुझे कुरानको हिन्दीमें कर देनेके लिए कहा। सिहनत और पारिश्रमिकसे परिचित तो था नहीं, मैंने यहीं रखकर सिपारेमें नागरी अक्षरोंमें अरबी आयतें और हिन्दीमें उनके अर्थको लिखकर देना स्वीकार कर लिया। पहिले सिपारेको दे आनेके बाद मालूम हुआ, प्रेसवाला (शायद मशीन प्रेस) लूट रहा है। दूसरे सिपारेको ले जाते वक्त मैंने पारिश्रमिकको बढ़ानेकेलिए

कहा। कुछ तय नहीं होने पाया, और मैंने उसके बाद अनुवादके कामको छोड़ दिया। कुछ वर्षों बाद कानपुरमें किसी हटियामें अपने अनुवादित दोनों सिपारोंको बिना मेरे नामके छपकर बिकते देखा, तो मैंने प्रेसवालेको चिट्ठी लिखी। वह चिकनी-चुपड़ी बातें करने लगा, और उसने कुछ रुपये भेज दिये। मैं खुद तरद्दुदमें नहीं पड़ना चाहता था, न उसे तरद्दुदमें डालना चाहता था।

आगराके उस निवासमें हमारा दिन सिर्फ़ रूखे आदर्शवाद हीमें नहीं कट रहा था। समवयस्क सहृदय साथियोंका साथ एक लालसाकी चीज है। मुंशी मुरारीलालजी हममें सबसे ज्यादा गुरु-गम्भीर पुरुष थे। उन्होंने स्वामी रामतीर्थ-की वेदान्त-सम्बन्धी एक-दो उर्दू पुस्तकें पढी थीं, और प्रयागमें रहते वक्त स्वामी रामके दर्शन और सत्संगका जिन्हें मौका मिला था, ऐसे बहुतसे आदमियोंसे स्वामी-रामके व्यक्तित्वको जाननेका उन्हें मौका मिला था; इससे उनपर वेदान्त और रामतीर्थका गहरा असर था। एक समय था, जब मैं वैष्णव रहते हुए भी शंकरा-चार्यके वेदान्तका जबर्दस्त भक्त था, किन्तु अब मैं पक्का आर्यसमाजी था; सिर्फ़ ऊपर-ऊपरकी बातों हीमें नहीं दर्शनमें भी आर्यसमाजी द्वैतवादके सामने वेदान्तके अद्वैतवादको बिल्कुल कमजोर समझता था। भाई मुरारीलालको, मैं समझता था, कि वह अभी आदिम अवस्थामें हैं। और जब कभी मजलिसमें कुछ सुस्ती छाई होती, तो रामतीर्थके बारेमें छेड़ देता। मुरारी भाई प्रहार हलका रहनेपर तो समा-धान करनेकी कोशिश करते, और यदि कहीं प्रहार सख्त हुआ, और मैंने कह दिया—'क्या वेदान्त और क्या ब्रह्म? जो आदमी पानीमें डूब मरनेकेलिए तैयार हो जाये, वह पागल ही हो सकता है।' फिर तो यह उनके बर्दाश्तसे बाहरकी बात हो जाती, लेकिन उसकेलिए वह झगड़ते नहीं थे, उनका 'मौनं' केवलमुत्तरं' होता। भाई मुरारीलालके पास एक मोटे डोरियेका अचकन था, जिसे जाड़ोंमें वह कभी-कभी पहनते थे; काले रंगकी एक कश्तीनुमा टोपी भी थी। हम लोग मुसाफ़िर विद्यालयवाले नंगे शिर रहा करते, लेकिन मुरारी भाई जब अचकन पहनते तो टोपी भी लगा लेते। हम उनसे बहुत कहते—'भाई, साहेब, सबकी तरह आपको नंगा रहना चाहिए।' बोलते—'वहूँक, इस अचकनपर तो यह टोपी लाजिमी है।' 'टोपी लाजिमी है' इसे जब हमने आवाज कसनेका जरिया बना लिया, तब अचकन ही उतर गया।

हमारे यहां एक बूढ़ी मिश्रानी रोटी बनाया करती। बूढ़ों और जवानोंकी अलग-अलग दुनिया होती है। हममेंसे कई मनचले कभी-कभी मिश्रानीको हैरान भी कर डालते। एक दिन मिश्रानी अन्दाजा करके हम सबके खाने भरकेलिए आटा लाई। हमने निश्चय किया, आज मिश्रानीको छकाना है। बस, पाल्थी मारके खाने बैठ गये। मिश्रानी फूले हुए फुलके फेंकती जाती, और हम खाते जाते।

आटा खतम हो जानेपर भी हम लोग डटे हुए थे। लाचार सेरभर फिर आटा आया। आटा आनेमें देर, गूंधनेमें कुछ और देर, तब तक हमारी भूख कुछ और ताजी हो गई। उस सेरभर आटेको भी खतम किया। फिर नौकर आटा लाने गया, हमने अपनी भूख ताजा की। मिश्रानीने कहा—'खाओ, कितना खाओगे।' हमने कहा—'खिलाओ, कितना खिलाओगी।' दोनों ओरसे होड़ लगी थी। चौथी बार आटा मँगानेके बाद मिश्रानी निराश हो गई, और उसने हार मान ली। हम लोग उन फुलकोंको खाकर उठ खड़े हुए।

मुसाफ़िर विद्यालयके संस्थापक पंडित भोजदत्त शर्मा थे। पंडित लेखराम शर्माके बाद मुसलमानोंसे लोहा लेनेमें यह भारी महारथी समझे जाते थे। उनकी जबानमें जबर्दस्त ताकत थी, यद्यपि कलममें उतनी नहीं। पहिले कुछ दिनों तक वह आर्यप्रतिनिधि सभा पंजाबके उपदेशक भी रहे। उन्होंने पंडित लेखरामके कामको जारी रखनेकेलिए मुसाफ़िर विद्यालय और 'मुसाफ़िर आगरा' साप्ताहिक पत्र निकाला था। विद्यालयका काम चन्देसे चलता था जिसका जमा होना, उस लड़ाईके जमानेमें उतना आसान काम न था, खासकर जब कि पंडित भोजदत्तजी रोगशय्यापर पड़े थे। उनके दोनों लड़के डाक्टर लक्ष्मीदत्त और पंडित तारादत्त वकील विद्यालयका काम देखते थे, किन्तु उन्हें अपनी गृहस्थी भी चलानी थी, इसलिए अपने पेशेमें भी समय लगाना जरूरी था। डाक्टर लक्ष्मीदत्तकी डिस्पेन्सरी शहरमें थी। पंडित तारादत्त नये वकील थे, इसलिए उनको कामभरस कम न थी। आर्थिक सहायताके लिए डाक्टर लक्ष्मीदत्तको ही ज्यादा काम करना पड़ता था। ये रुपये कुछ तो पंडित धर्मवीर और कुंवर सुखलालके जरिये आर्यसमाजके उत्सवों या सभाओंसे आते, और कुछ पैसे चिट्ठी-पत्री लिखनेपर मददगार लोग भेज दिया करते। आर्यसमाज उस वक्त युक्तप्रान्तमें निम्न मध्यम श्रेणीके शिक्षित लोगों हीमें फैला हुआ था, इसलिए वह बड़ी धनराशि दानमें नहीं दे सकते थे। आगरामें रहते ही बक्त छुट्टियोंमें पंडित बलदेव चौबे (अब स्वामी सत्यानन्द सरस्वती) वृन्दावन आदि घूमते हुए यहां आये थे। उस वक्त वह प्रयागमें मेडिकलके विद्यार्थी थे। साधारण बातचीत हुई, एक जिलेके होनेसे आकर्षण तो जरूर कुछ बढ़ जाता है, किन्तु उस समय कहां पता था, कि हमारा यह प्रथम परिचय एक आजीवन मैत्रीका रूप धारण करेगा। हम लोग उस साल (१९१५ ई०) के दिसम्बरमें गुरुकुल वृन्दावनका वार्षिकोत्सव देखने गये थे। पीछे कांग्रेसके अधिवेशन और उनके विराट् कैम्पोंको देखनेपर तो यह स्मृति फीकी पड़ गई, किन्तु उस वक्तका वह छोटा-सा शिक्षित संपन्न मेला दूसरे उजड्ड असंस्कृत धार्मिक मेलोंसे बहुत अच्छा मालूम हुआ। वहां हमें आर्यसमाजके चोटीके उपदेशकों-प्रोफेसर रामदेव आदिके व्याख्यान सुननेका मौका मिला। बार-बार पानी या दूसरी

घूंटोसे गला साफ़ करते, नोटबुकके पत्तोंको उलटते, फेनिल मुखसे आरोहावरोह क्रमसे निकलती उनकी आवाज, और वेदकी सचाइयोंके सामने विज्ञान और पश्चिमी जगतके सिर नवानेकी गर्जना पर जनताकी तुमुल ध्वनि—यह बातें मुझे अब भी स्मरण आती हैं। मुझे १९१५ ई० के गुरुकुल वृन्दावनकी इमारतोंका स्मरण बहुत क्षीण है। गुरुकुलके पास ही कुछ जंगल-सा था। इमारतें थोड़ी किन्तु साफ थीं। पीले कपड़े, मोजके साथ लकड़ीके चप्पलोंमें वहांके ब्रह्मचारीकी ऋषियुग याद दिलाते थे। ईर्ष्या होती थी, कि मुझे ऐसी संस्थामें पढ़नेका मौका क्यों नही मिला।

वृन्दावनमें हम प्रेममहाविद्यालयको भी देखने गये थे। उनके संस्थापकका नाम और वर्णन युद्धसे पहिले शायद 'सरस्वती' में मैं पढ चुका था। इधर लड़ाईके समय जिस तरह सर्वस्वत्यागपूर्वक वह इगलैंडके शत्रुओंसे मिलकर भारतको स्वतन्त्रताकी प्राप्तिका प्रयत्न कर रहे थे, इसकी भी खबरें हमें जब-तब मिलती थी। उस वक्त उनकी जायदाद हाल हीमें जब्त हो चुकी थी। हम लोग सराहना करते थे, उनकी दूरदर्शिताकी—जायदादका बहुत-सा भाग उन्होने प्रेममहाविद्यालयको दे दिया था। वृन्दावनके एकाध मन्दिरोमें भी गये। श्रीरंगके मन्दिरको देखकर तमिलप्रान्तके वैसे हजारों मन्दिर याद आने लगे। मथुरासे हम लोग गुजरे थे जरूर, किन्तु वहा ठहरे न थे। इसी यात्रामें रेलमें साहित्याचार्य पंडित ब्रह्मदत्त शास्त्रीसे भेंट हुई थी, अभी वह एम० ए० नही हुए थे, न आर्यसमाजमें आये थे। कुछ समय बाद जब पंडित अखिलानन्द आर्यसमाजसे अलग हो उसे और उसके संस्थापकको गालियां देने तथा अपने संस्कृत काव्यपाटवके अभिमानमें आर्यसमाजियोको शास्त्रार्थकेलिए चैलेंज देने लगे, उस समय उनसे मुकाबिला करनेकेलिए पडित ब्रह्मदत्त प्रकट हुए। उन्होने संस्कृत भाषाके गद्य-पद्य किसीमें अखिलानन्दको शास्त्रार्थ करनेका चैलेंज दिया।

आगरामें रहते ही वक्त कोमागातामारूके बहादुर सिक्खों और उनके नेता बाबा गुरदत्तसिंहके ऊपर बजबजमें हुआ गोलीकांड घटित हुआ था। कोमागातामारूके सिक्खोंने साहसके साथ अंग्रेजोंका सामना किया था, इसे हम अपने अभिमानकी चीज समझते थे। उसके बाद एकके बाद एक पंजाबमें स्वतन्त्रताकेलिए किये गये प्रयासोंकी बातें, लाहौर षड्यन्त्रकी अदालती कार्रवाइयां—जिनकी कोई-कोई बातें अखबारों और दूसरे जरियोंसे मिलती रहती थीं—से मालूम होती रहती थी। राष्ट्रीय स्वातन्त्र्यका जोश अपने जैसे लाखों भारतीय नौजवानोंकी भाति मेरे हृदयमें भी भरा हुआ था। भाई परमानन्दकी जब्त 'इतिहास' पुस्तकको हम पढ़ चुके थे, जब कि लाहौर षड्यन्त्रकेसमें उन्हें फांसी की सजा हुई। मेरी मानसिक अवस्था उस वक्त ऐसी थी कि यदि उनके या उनके दूसरे साथियोंको

छुड़ानेकेलिए सशस्त्र चेष्टाकेलिए प्राण देनेवाले स्वेच्छासेवकोंकी जरूरत पड़ती, तो मैं उनमें पहिले नाम लिखाता।

राष्ट्रीय स्वतन्त्रताकेलिए मुझमें इतनी बेकरारी थी, किन्तु उस वक्त राष्ट्रीयताके बारेमें मेरी क्या धारणा थी? राष्ट्रीयता और धर्मको मैं उस वक्त अलग नहीं समझता था। धर्मसे मेरा मतलब आर्यसमाज और स्वामी दयानन्दके मान्य वैदिक धर्मसे था। बाकी धर्मों—ईसाई, इस्लाम, यहूदी, बौद्ध ही नहीं हिन्दूधर्मके अनेक सम्प्रदायोंको भी मैं झूठे धर्म तथा वेद और विज्ञानके प्रकाशमें शीघ्र ही लुप्त हो जानेवाले धर्म समझता था। तर्क और दलील द्वारा प्रतिद्वन्द्वीको अपने रास्तेपर लानेका मैं पक्षपाती था। किसी तरहका बलप्रयोग मैं मजहबोंकी कमजोरी समझता था। इसीलिए, जब कभी मुझे किसी ईसाई या मुसलमान धर्मप्रचारक मिलनेका मौका मिलता, तो मैं उनसे बहुत प्रेमसे मिलता। बात करते वक्त हमेशा दिमागको ठंडा रखनेका प्रयत्न करता। आगरामें भाई महेशप्रसादजीके पर्चितोंमें वहांके बपटिस्ट मिशन स्कूलके हेडमास्टर श्री सामुयेल थे। उनके पिता ब्राह्मणसे ईसाई हो गये थे। उनकी मा अब भी शायद अपने बच्चेको सामला कहा करती थीं। भाई साहेबके साथ कभी-कभी मैं भी सामुयेल साहेबके पास जाता। उनकी बूढ़ी मा भाई साहेबसे जगन्नाथ-दर्शन करा लानेकी लालसा प्रकट करतीं। शुद्धिकी बातें उनके कानों तक भी पहुँची थीं; किन्तु अपनी उस आन्तरिक इच्छामें एकलौते पुत्रकी सहानुभूति तथा बहूका विरोध देखकर वह खामोश थीं। उनका खयाल था, बहू न बाधा डालती तो हम फिर ब्राह्मण हो जाते। सामुयेल साहेब अपनी मांकी श्रद्धाका सम्मान करते, और उनसे बहुत प्रेम करते थे। उस वक्त मेरे दिमागमें यह नहीं समाता था, कि एक परिवारमें भी मा-बेटे ईसाई और हिन्दू दो धर्म रख सकते हैं। आर्यसमाजको मैं सार्वभौम धर्म समझता था और विश्वास रखता था, कि अपनी सचाइयोंके कारण यह भी विज्ञानकी तरह एक दिन सारे संसारके समझदार और साधारण व्यक्तियोंका धर्म हो जायेगा। जाति-पात, छूत-छातको उसमें बाधक देख, मैं उनके साथ जरा भी दया दिखलानेके लिए तैयार न था। मालूम नहीं, उस वक्त किसी मुसलमानके साथ मुझे खानेका मौका मिला या नहीं, किन्तु आगरे हीमें बनारसके एक सर्वधर्म सहभोजकी बात अखबारोंमें पढ़ी। इस भोजमें पंडित केशवदेव शास्त्री जैसे आर्यसमाजी नेता भी शरीक हुए थे। आर्यसमाजके कई समाचारपत्र इसके खिलाफ लिख रहे थे, लेकिन मैं उसका बड़ा समर्थक था। भगवती भाई दूसरी विचारधाराके पोषक थे, और उनका कहना था, कि बिना शुद्धिके किसी गैर-आर्यके हाथका खाना अच्छा नहीं। मैं कहता—यदि यही बात है, तो किसी हिन्दू-ब्राह्मण, क्षत्रिय—के हाथका भी तब तक खाना नहीं खाना चाहिए, जब तक यह शुद्ध न हो ले।

छुड़ानेकेलिए, सशस्त्र चेष्टाकेलिए प्राण देनेवाले स्वेच्छासेवकोंकी जरूरत पड़ती, तो मैं उनमें पहिले नाम लिखाता।

राष्ट्रीय स्वतन्त्रताकेलिए मुझमें इतनी बेकरारी थी, किन्तु उस वक्त राष्ट्रीयताके बारेमें मेरी क्या धारणा थी? राष्ट्रीयता और धर्मको मैं उस वक्त अलग नहीं समझता था। धर्मसे मेरा मतलब आर्यसमाज और स्वामी दयानन्दके भाव

लुप्त हो जानेवाले धर्म समझता था। तर्क और दलील द्वारा प्रतिद्वन्द्वीको अपने रास्तेपर लानेका मैं पक्षपाती था। किसी तरहका बलप्रयोग मैं मजहबोंकी कमजोरी समझता था। इसीलिए, जब कभी मुझे किसी ईसाई या मुसलमान धर्मप्रचारकसे मिलनेका मौका मिलता, तो मैं उनसे बहुत प्रेमसे मिलता। बात करते वक्त हमेशा दिमागको ठंडा रखनेका प्रयत्न करता। आगरामें भाई महेशप्रसादजीके परिचितोंमें वहांके बपटिस्ट मिशन स्कूलके हेडमास्टर श्री सामुयेल थे। उनके पिता ब्राह्मणसे ईसाई हो गये थे। उनकी मां अब भी शायद अपने बच्चेको श्यामलाल कहा करती थी। भाई साहेबके साथ कभी-कभी मैं भी सामुयेल साहेबके पास जाता। उनकी बूढ़ी मा भाई साहेबसे जगन्नाथ-दर्शन करा लानेकी लालसा प्रकट करतीं। शुद्धिकी बातें उनके कानों तक भी पहुँची थीं; किन्तु अपनी उस आन्तरिक इच्छामें एकलौते पुत्रकी सहानुभूति तथा बहूका विरोध देखकर वह खीझती थी। उनका ख्याल था, बहू न बाधा डालती तो हम फिर ब्राह्मण हो जाते। सामुयेल साहेब अपनी माकी श्रद्धाका सम्मान करते, और उनसे बहुत प्रेम करते थे। उस वक्त मेरे दिमागमें यह नहीं समाता था, कि एक परिवारमें भी मां-बेटे ईसाई और हिन्दू दो धर्म रख सकते हैं। आर्यसमाजको मैं सार्वभौम धर्म समझता था, और विश्वास रखता था, कि अपनी सचाइयोंके कारण यह भी विज्ञानकी तरह एक दिन सारे संसारके समझदार और साधारण व्यक्तियोंका धर्म हो जावेगा। जाति-पांत, छूत-छातको उसमें बाधक देख, मैं उनके साथ जरा भी दया दिखलानेके लिए तैयार न था। मालूम नहीं, उस वक्त किसी मुसलमानके साथ मुझे खानेका मौका मिला या नहीं, किन्तु आगरे हीमें बनारसके एक सर्वधर्म सहभोजकी बात अखबारोंमें पढ़ी। इस भोजमें पंडित देवदेव शास्त्री जैसे आर्यसमाजी नेता भी शरीक हुए थे। आर्यसमाजके कई समाचारपत्र इसके खिलाफ लिख रहे थे, लेकिन मैं उसका बड़ा समर्थक था। भगवती भाई पुरानी विचारधाराके पोषक थे, और उनका कहना था, कि बिना शुद्धिके किसी गैर-आर्यके हाथका खाना अच्छा नहीं। मैं कहता—यदि यही बात है, तो किसी हिन्दू-ब्राह्मण, क्षत्रिय—के हाथका भी तब तक खाना नहीं खाना चाहिए, जब तक वह शुद्ध न हो ले।

भी, किन्तु दोनों जगहोंमें मेरे देखनेके लिए कोई खास आकर्षण न था। दोपहरके पहिले कोटावाले स्टेशनपर उतरा। कोटा वहांसे कुछ मीलपर था। रास्ता पगडंडीका था, और लोगोंसे पूछ-पूछकर जाना था। नहरोंके पानीसे सींचे गेहूँके खेतोंमें बड़ी-बड़ी वाले लगी हुई थी। चारों ओर हरियाली, और कहीं-कहीं पक गई मटरके पीले पौधोंका फर्श बिछा मालूम होता था। अन्न सर्वोपरि धन है, अन्नको देखकर जितना चित्त प्रसन्न और सन्तुष्ट होता है, उतना और किसी चीजसे नहीं, इसका ज्ञान फागुनमें पकी तथा पकनेको तैयार फसलको देखकर ही होता है। और होला? —क्या दुनियामें इससे मधुर कोई खाद्य हो सकता है? मटर, गेहूँ, जौ या चनेके हरे दानों समेत डठलोंको सूखी पत्तियोंसे भून डालिये, फिर मिल जाये तो एक साथ पिसे नमक और हरी मिर्चके साथ, अथवा अकेले ही गर्मगर्म हाथसे मसलकर खाना शुरू कीजिये—यह नियामत है! वहिश्तका मन्ना और देवताओंका अमृत भी इसका मुकाबिला नहीं कर सकते।

रास्ता खेतोंमेंसे था, शायद जहां चल रहा था, वहां मुसाफ़िरोंने जबर्दस्ती खेतके भीतरसे रास्ता बना लिया था। एक बार बन गये रास्ते—चाहे वह किसीकी वैयक्तिक सम्पत्तिपर ही क्यों न बना हो—पर जाना हर एक पान्थकेलिए विहित है। लम्बे गेहूँके पौधोंकी आड़से यकबयक एक युवती आ सामने खड़ी हो गई। उसने कडखती हुई आवाजमें पूछा—

'किथे जायेगा?'

स्त्रीकी आवाज इतनी कड़ी हो सकती है, इसका मुझे कभी अनुमान भी न हुआ था। मालूम होता है, शब्द नहीं एक साथ दस-दस लाठियां कानोंके पर्देपर पीटी जा रही हैं। पहिले सोचा, शायद मैं उसके खेतके भीतरसे जा रहा हूँ, इसलिए नाराज हो रही है। लेकिन इसमें मेरा क्या दोष? रास्ता पहिलेसे बना हुआ है। रोकना था, तो कांटेसे रूँध क्यों नहीं दिया? और अब फ़सलके कटनेके वक्त रास्ता रोकनेसे ही कौनसे नये पौधे बालें लिये फूट निकलेंगे?

'कोटा जा रहा हूँ।'—कहकर बड़ी नर्मीसे मैंने उस तरुणीको उत्तर दे दिया। उसका चेहरा उसके शब्दोंकी तरह कर्कश न था। अठारह वर्षकी अवस्थामें तो जानकारोंके कथनानुसार 'गर्दभी ह्यप्सरायते', किन्तु वहां तो सौन्दर्यकी काफ़ी मात्रा थी। लहँगा, ऊपर ओढ़नी, बदनमें चोली थी। ओढ़नी शिरपरसे होते पीठपर पड़ी थी—चोलीसे गोल-गोल स्तन फूट निकलना चाहते थे। उसके चेहरेपर नजर रखे, उसके वाक्य तथा स्वरकी प्रतिध्वनिको अब भी सुनते तथा विचार करते *मैंने कोटेका रास्ता पूछा। उस तरुणीकी आकृति, उसके चेहरेके इंगितको प्रकट करनेकेलिए, बल्कि अनुभव करनेकेलिए मुझे हालकी 'गाथा-सप्तशती' का ध्यान आने लगा। प्राकृत तो उतना नहीं जानता था, किन्तु संस्कृत-छायाके साथ मैंने

३

लाहौरकेलिए

(१९१६ ई०)

आगरामें ही तय कर लिया था, आगे संस्कृत पढ़नेका, और लाहौरमें। मेरी स्वाभाविक प्रवृत्ति अपने अस्तित्वको भुलाने देना नही चाहती थी, इसलिए सीधे लाहौर जानेकी जगह कुछ घूमते-घामते जाना था। भगवती भाईसे उनके गाव कोटाका नाम सुना था। भाषा-तत्त्वसे अभी मेरा कोई परिचय न था तो भी मै लालायित रहता था ऐसी जगहोंको देखने तथा वहांके लोगोंसे बात करनेकेलिए, जहा की साधारण जनता हिन्दी बोलती है। हम लोग पढ़कर हिन्दी बोलते थे, और उसमें वह सजीवता, वह लचक न थी, जो कि जन्मसे हिन्दी बोलनेवालोंकी भाषामें होती है। मुरादाबादके सारस्वत, खत्री व्यक्तियों और परिवारोंकी भाषामें मुझे खास विशेषता मालूम होती थी, लेकिन मुरादाबादकी साधारण नगर और ग्रामकी जनता हिन्दी नही बोलती, कोटा ऐसा गाव था, जहांके लोग वस्तुतः उस हिन्दीको बोलते थे, जिसके परिष्कृत रूपको हम किताबोंमें पढ़ते, तथा अपने व्यवहार में लाते हैं। मुरादाबादके पाठकजीकी प्रारम्भिक संगतिसे मैने अपनी भाषाकी त्रुटियोंको परखा था, उच्चारणमें सेकंडके हजारहवें हिस्से तथा उच्चारण स्थानके सूत भरके अन्तरसे भाषाकी स्वाभाविकता, कृत्रिमता, तथा वक्ताके वासस्थानका पता लग जाता है, यह मुझे कलकत्ताके पहिले दूसरे प्रवाससे ही मालूम हो गया था। अपने प्रयत्नोंसे भाषाके उच्चारणमें कितनी सफलता मैने प्राप्त की यह मुझे नहीं मालूम—आखिर अपने चेहरेकी तरह अपने स्वरको भी कोई देख नहीं सकता, जिस वक्त मन उच्चारणके प्रयत्नमें व्यस्त रहता है, उस वक्त श्रोतासे उसका सम्बन्ध नहीं रहता। दर्पणकी तरह कोई अपने उच्चारणका ठीक प्रतिबिम्ब (प्रतिध्वनि) सामने रख सके, तब शायद अशुद्धिपनको समझा जा सके। शब्दोंके प्रयोगमें भी मैं ध्यान रखता था, क्योंकि भिन्न-भिन्न जगहोंमें घूमनेसे मुझे मालूम था, एक जगहका कोई बहुप्रचलित शब्द भी दूसरी जगह अज्ञात हो सकता है। हमारे मुरारी भाई अक्सर ऐसी गलतियां कर बैठते थे, भगवती भट्ट इसके लिए उनपर हमला कर बैठता, फिर इस ग्राम्य दोषको हटानेकेलिए मैं संस्कृतके प्रतिशब्द ढूंढ निकालनेकी कोशिश करता। जो शब्द शुद्ध या अपभ्रंशरूपमें संस्कृतमें मौजूद हों, उसके प्रयोगपर कौन आक्षेप करनेकी हिम्मत कर सकता है?

भाषा सुननेसे भी ज्यादा कोटा जानेकी इच्छा भगवती भाईके घरको देखने, तथा फागुनके होलीके खानेके लिए थी। मुझे रास्तेमें पड़ता था, और बुलन्दशहर

३

लाहौरकेलिए

(१९१६ ई०)

आगरामें ही तय कर लिया था, आगे संस्कृत पढ़नेका, और लाहौरमें। मेरी स्वाभाविक प्रवृत्ति अपने अस्तित्वको भुलाने देना नहीं चाहती थी, इसलिए सीधे लाहौर जानेकी जगह कुछ घूमते-घामते जाना था। भगवती भाईसे उनके गांव कोटाका नाम सुना था। भाषा-तत्त्वमें अभी मेरा कोई परिचय न था तो भी मैं लालायित रहता था ऐसी जगहोंको देखने तथा वहांके लोगोंसे बात करनेकेलिए, जहां की साधारण जनता हिन्दी बोलती है। हम लोग पढ़कर हिन्दी बोलते थे, और उसमें वह सजीवता, वह लचक न थी, जो कि जन्मसे हिन्दी बोलनेवालोंकी भाषामें होती है। मुरादाबादके सारस्वत, खत्री व्यक्तियों और परिवारोंकी भाषामें मुझे खास विशेषता मालूम होती थी, लेकिन मुरादाबादकी साधारण नगर और ग्रामकी जनता हिन्दी नहीं बोलती, कोटा ऐसा गांव था, जहांके लोग वस्तुतः उस हिन्दीको बोलते थे, जिसके परिष्कृत रूपको हम किताबोंमें पढ़ते, तथा अपने व्यवहार में लाते हैं। मुरादाबादके पाठकजीकी प्रारम्भिक संगतिसे मैंने अपनी भाषाकी त्रुटियोंको परखा था, उच्चारणमें सेकंडके हजारहवें हिस्से तथा उच्चारण स्थानके सूत भरके अन्तरसे भाषाकी स्वाभाविकता, कृत्रिमता, तथा वक्ताके वासस्थानका पता लग जाता है, यह मुझे कलकत्ताके पहिले दूसरे प्रयासों हीमें मालूम हो गया था। अपने प्रयत्नोंसे भाषाके उच्चारणमें कितनी सफलता मैंने प्राप्त की यह मुझे नहीं मालूम—आखिर अपने चेहरेकी तरह अपने स्वरको भी कोई देख नहीं सकता. जिस वक्त मन उच्चारणके प्रयत्नमें व्यस्त रहता है, उस वक्त श्रोताओंसे उसका सम्बन्ध नहीं रहता। दर्पणकी तरह कोई अपने उच्चारणका ठीक प्रतिबिम्ब (प्रतिध्वनि) सामने रख सके, तब शायद असलियतको समझा जा सके। शब्दोंके प्रयोगमें भी मैं ध्यान रखता था, क्योंकि भिन्न-भिन्न जगहोंमें घूमनेसे मुझे मालूम था, एक जगहका कोई बहुप्रचलित शब्द भी दूसरी जगह अज्ञात हो सकता है। हमारे मुरारी भाई अगर ऐसी गलतियां कर बैठते थे, भगवती झट इसके लिए करारा हमला कर बैठता, फिर इस ग्राम्य दोषको हटानेकेलिए मैं संस्कृतके प्रतिशब्द ढूंढ़ निकालनेकी कोशिश करता। जो शब्द शुद्ध या अपभ्रंशरूपमें संस्कृतमें मौजूद हों, उनके प्रयोगपर कौन आक्षेप करनेकी हिम्मत कर सकता है?

भाषा सुननेसे भी ज्यादा कोटा जानेकी इच्छा भगवती भाईके घरको देखने, तथा फागुनके होलीके मनानेके लिए थी। खुर्जा रास्तेमें पड़ा था, और बुलन्दशहर

भी, किन्तु दोनों जगहोंमें मेरे देखनेके लिए कोई खास आकर्षण न था। दोपहरके पहिले कोटावाले स्टेशनपर उतरा। कोटा वहांसे कुछ मीलपर था। रास्ता पगडंडीका था, और लोगोंसे पूछ-पूछकर जाना था। नहरोंके पानीसे सींचे गेहूँके खेतोंमें बड़ी-बड़ी बालें लगी हुई थी। चारों ओर हरियाली, और कहीं-कहीं पक गई मटरके पीले पौधोंका फर्श बिछा मालूम होता था। अन्न सर्वोपरि धन है, अन्नको देखकर जितना चित्त प्रसन्न और सन्तुष्ट होता है, उतना और किसी चीजसे नहीं, इसका ज्ञान फागुनमें पकी तथा पकनेको तैयार फसलको देखकर ही होता है। और होला ? —क्या दुनियामें इससे मधुर कोई खाद्य हो सकता है ? मटर, गेहूँ, जौ या चनेके हरे दानों समेत डंठलोंको सूखी पत्तियोंसे भून डालिये, फिर मिल जाये तो एक साथ पिसे नमक और हरी मिर्चके साथ, अथवा अकेले ही गर्मगर्म हाथसे मसलकर खाना शुरु कीजिये—यह नियामत है। बहिश्तका मजा और देवताओंका अमृत भी इसका मुकाबिला नहीं कर सकते।

रास्ता खेतोंमेंसे था, शायद जहां चल रहा था, वहां मुसाफ़िरोंने जबर्दस्ती खेतके भीतरसे रास्ता बना लिया था। एक बार बन गये रास्ते—चाहे वह किसीकी वैयक्तिक सम्पत्तिपर ही क्यों न बना हो—पर जाना हर एक पान्थकेलिए विहित है। लम्बे गेहूँके पौधोंकी आड़से यकबयक एक युवती आ सामने खड़ी हो गई। उसने कड़खती हुई आवाजमें पूछा—

'किधे जायेगा ?'

स्त्रीकी आवाज इतनी कड़ी हो सकती है, इसका मुझे कभी अनुमान भी न हुआ था। मालूम होता है, शब्द नहीं एक साथ दस-दस लाठियां कानोंके पर्देपर पीटी जा रही हैं। पहिले सोचा, शायद मैं उसके खेतके भीतरसे जा रहा हूँ, इसलिए नाराज हो रही है। लेकिन इसमें मेरा क्या दोष ? रास्ता पहिलेसे बना हुआ है। रोकना था, तो कांटेसे रूँध क्यों नहीं दिया ? और अब फ़सलके कटनेके वक्त रास्ता रोकनेसे ही कौनसे नये पौधे बालें लिये फूट निकलेंगे ?

'कोटा जा रहा हूँ।'—कहकर बड़ी नर्मीसे मैंने उस तरुणीको उत्तर दे दिया। उसका चेहरा उसके शब्दोंकी तरह कर्कश न था। अठारह वर्षकी अवस्थामें तो जानकारोंके कथनानुसार 'गर्दभी ह्यप्सरायते', किन्तु वहां तो सौन्दर्यकी काफ़ी मात्रा थी। लहँगा, ऊपर ओढ़नी, बदनमें चोली थी। ओढ़नी सिरपरसे होते पीठपर पड़ी थी—चोलीसे गोल-गोल स्तन फूट निकलना चाहते थे। उसके चेहरेपर नजर रखे, उसके वाक्य तथा स्वरकी प्रतिध्वनिको अब भी सुनते तथा विचार करते मैंने कोटेका रास्ता पूछा। उस तरुणीकी आकृति, उसके चेहरेके इंगितको प्रकट करनेकेलिए, बल्कि अनुभव करनेकेलिए मुझे हालकी 'गाथा-सप्तशती' का ध्यान आने लगा। प्राकृत तो उतना नहीं जानता था, किन्तु संस्कृत-छायाके साथ मैंने

उसे पड़ा था। मुझे विश्वास था, कि वहां शायद इस मौकेकी कोई गाथा जरूर होगी, किन्तु इस सचाईको सिद्ध करनेका कभी मौका नहीं मिला। स्वस्थ्यपूर्ण यौवनका साकार स्वरूप वह अहीरयुवती, सालोंके बीतनेपर भी अधिक आकर्षक बनती गई। यह स्थान कोटासे बहुत दूर न था।

भगवती भाई कोटामें नहीं थे, मालूम नहीं माणिक उस वक्त कहां थे। भगवतीके पिता भी मेरे पिताकी भांति दो भाई थे। मेरी तरह भगवतीकी मां भी पहिले मर चुकी थीं, और मेरी तरह उनकी भी एक चाची थी, जिनका बर्ताव भतीजोंके साथ अच्छा होता था। भगवती उम्रमें शायद मुझसे थोड़े बड़े थे—बड़े न भी हों, किन्तु मैं उनको बड़ा भाई बनाए हुए था, आखिर हर एक आदमी नफ़ेका ही काम करता है, भाभी पानेमें नफ़ा है, या अनुजवधू, जिसपर भूलसे नजर पड़ जाना भी पाप है; और कहीं गलतीसे भी बदन छू गया, तो यमराज भी अपने यहां शरण न देंगे। भगवती भाई होते तो शायद भाभी साहिबाके दर्शन किसी तरह हो भी जाते —शायद ही कहता हूँ; क्योंकि चौबीस बरस पहिले क्या, आज भी तरुण दम्पति बुजुर्गोंके सामने कितना स्वातन्त्र्य रखते हैं, यह हमें मालूम है। हां, भाभीके हाथकी रोटियां खाईं, बड़ी मीठी थी। एक दिन मक्केकी रोटी बनी थी, मुझे गुमान भी नहीं हो सकता था, कि मक्केका आटा इतना बारीक और उसकी रोटी इतनी मीठी हो सकती है। भाभीकी वे रोटियां अब भी याद हैं, किन्तु पीछे यह जानकर अफ़सोस हुआ, कि घूंघटकी ओटसे चकलेपर चलनेवाले वे हाथ अब इस दुनियामें नहीं रहे।

होलीके दिन थे, रातको फाग गानेकी बहार थी। आर्यसमाजकी बीमारी गांवोंमें पहुँच रही थी, और संयम-नियमके नामपर जनताके मनोरंजनके हर तरीकेपर कुठाराघात किया जा रहा था—फाग अश्लील है, इसे नहीं गाना चाहिए; नाचना असभ्यों और रंडियोंका काम है, उसके पास तक नहीं फटकना चाहिए। किसी समय गांवोंकी अधिकांश जातियां—स्त्री-पुरुष दोनों—ऐसे मौकोंपर गाते-नाचते थे, किन्तु वे बातें अब विस्मृतिके गर्भमें विलीन होती जा रही थी। तो भी कोटासे फागुनकी यह सारी बहार लुप्त नहीं हुई थी, मैंने क्या देखा इसकी स्मृति नहीं।

कोटामें आकर होले खूब खाये। भगवती भाईके बालसंघातियोंके साथ खेतोंमें ही अधिक समय व्यतीत करता। मुझे नहीं खयाल, कि क्या मैंने अपनी उपदेशकीका जौहर दिखलानेकी वहां जरा भी कोशिश की। होलीके एक या दो दिन बाद मैंने कोटा छोड़ा। पैदल सिकन्दराबाद गया, एक रात गुरुकुलमें ठहरा। शर्माजी (पंडित मुरारीलाल) या शायद देहान्त हो चुका था।

सिकन्दराबादसे सीधे दिल्ली गया। किला, कुतुब तथा कुछ दूसरे दर्शनीय स्थानोंको देखा, और रेलसे सीधे गुड़गांवाको रवाना हुआ। वृन्दावन गुरुकुलके वार्षिकोत्सवमें सोहनाके एक सज्जन मिले थे, उन्होंने अपने यहांके गर्म पानीके चश्मों

तथा पहाड़ोंका वर्णन किया था, बस उसीके देखनेकेलिए लाहौरके रेलपथको छोड़कर इधर-उधर बहक रहा था। गुड़गांवासे सोहनाको पक्की सड़क गई है। सोहना पहुँचनेपर अब भी खेतोंमें हरे गेहूँ खड़े थे। जाड़ा था, गर्म चश्मेमें नहानेका मजा था। मालूम नही, वृन्दावनमें मिले सज्जनसे मुलाकात हुई या नहीं, किन्तु ज्यादातर ठहरा एक ब्राह्मण पहलवानके यहां; जिनकी एक छोटी-सी दूकान थी। वह दिल्ली-षड्यन्त्र केसके अभियुक्त गणेशीलाल 'खस्ता'के मामा थे, इसलिए मुझे ज्यादा सन्निकट मालूम होते थे। उनके खानोंमें गाजरका अँचार और उसका रस मुझे अब भी स्मरण आता है। सोहना अच्छा कस्वा है। इसके आसपासके इलाकेमें मेव लोग बसते हैं, जो प्रायः सबके सब मुसलमान हैं। कस्बेके पासके पहाड़पर बादशाही वक्तका एक उजाड़ किला है, जिसके अनगढ़ पत्थरोंके बुर्ज और दीवारें अब भी खड़ी थी। पहाड़ छोटे-छोटे है, और उनपर जहां-तहां बस्तियां हैं। एक दिन किसीके साथ मैं एक मेव मौलवीके यहां गया, आसपासमें एक अच्छे ईश्वरभक्त के तौरपर उनकी बहुत ख्याति थी। बल्कि वह उतने मौलवी न थे, जितने कि एक 'भजनानन्दी सूफ़ी।' हिन्दू भी उनका बड़ा आदर करते थे, और वह हिन्दुओंके पीने-खानेकेलिए अलग बरतन रखे हुए थे। इस्लाम और कुरानको पढ़कर मैं अभी नया-नया पहलवान बना था, और बहसका कोई मौका निकाल लेनेकी ख्वाहिश रखता था, किन्तु उक्त वृद्ध इसकेलिए तैयार न थे। उन्होंने शायद इसकेलिए किसी दूसरे मौलवीका नाम बतलाया। मुझे बड़े सम्मानसे बैठाया, कितनी ही देर तक बातें करते रहे। बहस करनेकी साध तो मेरी नही पूरी हुई, किन्तु मैं अपने मेजबानकी भद्रतासे बहुत प्रभावित हुआ। लौटते वक्त शामको हम एक कूएँपर पहुँचे, जिसके पास एक धर्मशाला थी। सैकड़ों हाथकी गहराईमें पानीको नहीं देखा होता, तो मुझे विश्वास न होता कि एक कूएँके बनवानेमें हजारों रुपये लग सकते है।

सोहनासे फिर मैं पैदल ही गुड़गांवाको लौटा। रास्तेपर किसी शिक्षित-सज्जनका एक अच्छा खासा बँगला या मकान था। उनसे बातचीत हो गई, उन्होंने आग्रह किया खाकर जानेका। आखिर दोपहरका खाना कहीं खाना ही था। वहीं पहिले-पहिल पंजाबी खाना खाया। खीर, फुलके, कोलियों (कटोरियों)में प्याजके साथ घीमें तुड़की तरकारियां (भाजियां), और शायद दहीकी लस्सी भी। सज्जन पंजाबी न थे। गुड़गांवा आदि अम्बाला कमिश्नरीके जिले भाषाके ख्यालसे युक्त-प्रान्तके साथ संबंध रखते हैं, किन्तु पंजाबप्रान्तमें रहनेसे शिक्षितोंकी वेषभूषा तथा खानपानपर पंजाबका असर पड़ा है।

दिल्ली होता थानेसर आया। रामगोपाल भाई यहीं उपप्रतिनिधि-सभाकी तरफ़से आर्यसमाजका प्रचार करते थे। उनसे भेंट करना, थानेसर-कुरुक्षेत्रको

देखना, यहां आनेका खास मतलब था। कुरुक्षेत्र गुरुकुलमें भी हो आया, उस वक्त पंडित विष्णुदत्त उसके मुख्याधिष्ठाता थे। यद्यपि मुसाफ़िर विद्यालयके कर्णधारों-का कांगड़ी गुरुकुलसे झगड़ा हो गया था, और उनकी सहानुभूति महाविद्यालय ज्वालापुरके अनुकूल तथा गुरुकुलकांगड़ीके विरुद्ध थी; वहां गुरुकुलको बुद्धू पैदा करनेकी फ़ैक्टरी बतलाया जाता था; तो भी मेरी उसके साथ सहानुभूति थी। आखिर वेद और विज्ञानकी पूर्ण शिक्षाका कोई स्थान तो होना चाहिए?

रामगोपाल भाईके साथ शाहाबाद भी गया। लाला रामप्रसादका व्याख्यान आगरामें सुन चुका था। महात्मा हंसराजकी कुर्बानीका जिस तरह चित्रण उन्होंने अपने उस व्याख्यानमें किया था, उसका मुझपर भारी प्रभाव पड़ा था। आजकल लालाजी घरपर ही थे। रामगोपालजीके साथ मैं भी उनके पास गया, किन्तु मेरे बारेमें उन्हें एक साधारण अर्द्धशिक्षित तरुणके सिवाय और क्या ख्याल हुआ होगा।

शाहाबादसे रामगोपाल भाईको थानेसर लौट जाना था, और मुझे जाना था लाहौर। मेरे रुपये खतम हो चुके थे, और लाहौर तकका टिकट कटाकर दो-चार रुपये दे देना, रामगोपाल भाईकेलिए खुशीकी बात थी—हम लोगोंकी घनिष्ठता साधारण मित्रों जैसी नहीं थी। थानेसर आनेमें उन्होंने मेरी सम्मति ली थी। वह नौकरी करके परिवार चलाने यहां नहीं आये थे, बल्कि पत्नीको कुछ पढ़ा-लिखाकर मुक्त हो वैदिक मिशनरीके गम्भीर कर्तव्यको पालन करनेकी अगली तैयारीकेलिए आये थे।

आगरासे रवाना होते वक्त, 'मुसाफिर'के मैनेजर कुँअर बहादुरसिंहसे मैंने लाहौरके उनके दो परिचितोंके नाम पत्र लिखवा लिये थे। कुँअर बहादुरसिंह भी सैलानी तबियतके आदमी थे। सिन्धमें कितने ही समय तक रहे, फिर 'मुसाफ़िर'में चले आये। पिछले ही साल तुलसीरामके व्याख्यानोंसे उत्तेजित हो उनके जिले जालौन के कोंच कस्बेमें मुसलमानोंने उनपर हमला कर दिया था, जिसमें उनको बहुत चोट आई थी। उन्होंने एक चिट्ठी 'आर्यगजट'के सम्पादक महाशय खुशहालचन्द 'खुर्सन्द'केलिए दी थी, और दूसरी हालमें ही बुंदेलखंडकी एक राजपूत विधवासे शादी करनेवाले एक तरुण-पंजाबीके लिए, जो किसी दफ्तरमें शार्टहैंड-टाइपर और टाइपिस्ट थे। स्टेशनसे उतरकर पहिले अनारकली आर्यसमाजमें गया, शायद उसी दिन 'खुर्सन्द' साहेबसे मुलाकात हो गई, किन्तु पहिले चन्द दिनों मैं टाइपिस्ट महाशय-के यहां मोरीदरवाजेके भीतरके एक अँधेरे घरमें रहा। वहांकी एक घटना याद है। घरकी मालकिन बुंदेलखंडी महिलाको पंजाबमें आये अभी पांच-छै ही महीने हुए थे; किन्तु इतने हीमें, मालूम होता था, वह अपनी भाषाके कितने ही शब्दोंके प्रयोग-को छोड़ चुकी थीं। उन्होंने कहा—'दो पैसेकी पकौड़ी लैते आयें, बनाऊँ की।'

मैं वाक्यके अन्तिम अंशको सुननेकी प्रतीक्षा करने लगा। उन्होंने फिर कहा—

'हां, जाइए न, दो पैसेकी पकौड़ी लाइए दरवाजेके बाहरसे, बताऊँकी।'

कहीं बेवकूफ न समझा जाने लगूं, इसलिए मैंने और इन्तिजार करना पसन्द नहीं किया, और 'अच्छा' कह मैं वहांसे चला गया। सोचा श्रीमतीकी फ़र्माइश पकौड़ीकी है, 'बताऊँकी' ऐसे ही दो बार मुंहसे निकल आया, वाक्य तो उतने हीसे पूरा हो जाता है। मैंने प्याजकी पकौड़ियां खरीदी, और लाकर उनके सामने रखा। उन्होंने आश्चर्यके साथ कहा—'यह क्या ? मैंने तो बताऊँकी पकौड़ियां मँगाई थी।'

"बताऊँ क्या बला है ?'

'अरे बैंगन, बैंगन।'

मनमें कहा—'देशी बुढ़िया मराठी बोल' इसीको कहते हैं। लेकिन उनकी अपेक्षा मैं अपनेपर ज्यादा गुस्सा हुआ। सन्देह था, तो संकोच छोड़कर पूछ क्यों नहीं लिया। मैंने अफसोस जाहिर करते हुए कहा—

'माफ कीजिए, बताऊँका मतलब मुझे समझमें नहीं आया।'

'नहीं कोई बात नहीं, मुझसे ही गलती हुई।'

४

आर्यसमाजके गढ़ लाहौरमें

(१९१६)

महाशय खुशहालचन्द 'खुर्सन्द' का उस वक्तका तरुण-चेहरा मुझे याद है। वह सचमुच 'खुर्सन्द' (प्रसन्न) थे। कभी मुहर्रमी सूरत तो उनकी मैंने देखी नहीं। हँसीकी मृदुरेखा तो चौबीसों घंटे मानो उनके ओठोंपर नाचती रहती थी। 'नमस्ते जी महाराज' कहनेका उनका ढंग, तथा 'खुर्सन्द तो है ?' कहकर खैरियत पूछना एक बिलकुल खुलेदिल दोस्तकी अपनी निराली अदाका सबूत देते थे। उस वक्त 'आर्यगजट' का आफ़िस आर्यसमाज-मन्दिरके हालकी बाईं कोठरीमें था, वहां 'खुर्सन्द'जी रहते थे। मैं भी जब तक वैदिक-आश्रममें भरती नहीं हो गया, तब तक आर्यसमाजमें ही ऊपरवाले कोठेपर रहता था। 'खुर्सन्द'जी ही लाहौरमें मेरे प्रथम परिचित व्यक्ति बने। मैं बेयार-व-मददगार उस बड़े शहरमें आया था। इसमें शक नहीं, ऐसी यात्रायें मैं कई सालोंसे कर रहा था, इसलिए मेरे पास हिम्मत काफी थी; किन्तु, 'खुर्सन्द'जीने जिस तरह शुरू हीसे सहायता और प्रोत्साहन दिया, उससे लाहौर परदेश नहीं रह गया। 'पैसा अखबार' के सामनेवाली पातीमें एक छोटा-सा वैष्णव-होटल था, जिसमें वह खाने जाया करते थे। वह मुझे जरा भी संकोचका अवसर दिये, दबोचकर वहीं खाना खिलाने ले गये। अपने घीके डब्बेकी चाभी दुहरी करके एक मेरे हवाले की—'हम लोग साथ न आ सकें, तो यह

डब्बा है, घी निकालकर खाना खा जाया कीजिये।' स्मरण रखना चाहिए, उस वक्तके 'खुर्सन्द' आजके 'रोजाना मिलाप'के स्वामी और सम्पादक नहीं थे, बल्कि उन्हें प्रादेशिक-प्रतिनिधि-सभाके 'आर्यगजट'से निर्वाह मात्रकेलिए कुछ रुपये मिला करते थे।

सप्ताहके भीतर ही मैं डी० ए० वी० कालेजके संस्कृत-विभागमें भर्ती हो गया। विशारद श्रेणीमें नाम लिखा गया। पंडित भक्तराम वेदतीर्थ, पंडित नृसिंहदेव शास्त्री हमारे अध्यापक थे। आर्यसमाज भवनमें मैं ज्यादा दिनों तक नहीं रह सका, और थोड़ी ही देर बाद एक छात्रवृत्तिके साथ कालेजके छात्रावास 'वैदिक-आश्रम'में दाखिल कर लिया गया। उसके पास ही पास डी० ए० वी० कालेजके होस्टलमें रसोइयोंको पढ़ानेका काम मिल गया। दोपहरको एक घंटा जाना पड़ता, और दस या बारह रुपये मिल जाते, जो खानेके ऊपरके खर्चेकेलिए जरूरतसे ज्यादा थे।

आगरा छोड़ते वक्त यह नहीं मालूम था, कि बल्देव चौबे भी वैराग्यके फंदेमें फँस लाहौर पहुँच गये हैं। हां, किन्तु उनका वैराग्य सिर्फ इसी बातका था, कि आत्मिक उन्नति-तत्त्वज्ञान-केलिए संस्कृत पढ़नेकी जरूरत है, अंग्रेजी बिल्कुल बनियापनकी विद्या है। वह अनारकलीमें वंशीधरके मन्दिरमें रहते, किसी छेत्रमें खाना खाते और लघुकौमुदी पढ़ते थे। मैंने आते ही उनके निर्णयपर चोट पहुँचानी शुरू की— 'संस्कृत पढ़िये, अच्छा है, किन्तु मेट्रिकमें नाम भी लिखा लीजिये।' नये वर्षसे वह डी० ए० वी० हाई स्कूलके दसवें दर्जेमें दाखिल हो गये। वंशीधरके मन्दिरमें बल्देवजीके साथ एक दूसरे तरुण मिस्टर कनकदंडी वेंकट सोमयाजुलु भी रहते थे, हम लोग उन्हें मिस्टर कहा करते। वे भी हमारे लाहौरके घनिष्ट मित्रोंमें थे। उन दोनों मित्रोंके कारण अक्सर मैं वंशीधरके मन्दिरमें जाया करता। उस वक्त मन्दिरके मालिकोंने उसे बिल्कुल व्यवसायका जरिया नहीं बनाया था। वंशीधर महाराजा रणजीतसिंहके पुरोहित-वंशी थे। मन्दिरके साथ सड़कपर कुछ दूकानें थीं, जिनका अच्छा किराया आता था। भीतरके दो-तीन कमरे, कोठरियां और बरांडे संस्कृत पाठशाला तथा विद्यार्थियोंकेलिए थे। बल्देव और सोमयाजुलु एक बरांडेमें रहते, सामान रखनेकेलिए शायद दीवारमें दो आल्मारियां थीं। गर्मीके दिनोंमें साफ़ चिकने संगमर्मरके फ़र्शपर बैठने-लेटनेमें अच्छा लगता था। यहीं हम लोगोंकी घंटों अपने भविष्य, देशके भविष्य और आर्यसमाजके बारेमें बातें हुआ करतीं। इन बातोंमें एक चौथे दीवाने मोहनलालजी शामिल हो जाया करते थे। इन्हीं बातोंके सिलसिलेमें तय हुआ कि, बल्देवजी बहिन महादेवीको लाकर कानपुरमें किसी शिक्षण-संस्थामें दाखिल कर दें। यहीं पहिले-पहिल पंडित सन्तरामसे मुलाकात हुई, जिससे आगे चिरस्थायी

मित्रताका रूप धारण किया। पीछे भाई महेशप्रसादजी और रामगोपालजीके आ जानेपर तो वंशीधरका मन्दिर हम सभोंका सम्मिलन-मन्दिर हो गया।

मुसाफ़िर विद्यालयमें प्रवेश, भाई महेशप्रसादकी संगति और महायुद्धने मिलकर मेरे सामने एक विशाल जगत् रख दिया था। आगरामें रहते ही वक्त कानपुरमे श्री गणेशशंकर विद्यार्थीने 'प्रताप' निकाला था, अथवा कमसे कम मेरा उससे परिचय उसी वक्त हुआ। उसके बाद तो अक्सर में उसे पढ़ा करता था। यहां लाहौरसे उर्दूके कई दैनिकपत्र 'देश', 'बुलेटिन', 'पैस' अखबार' आदि तथा 'ट्रिब्यून' अंग्रेजी निकलते थे। मै अब अखबारोंका आदी हो गया था। अच्छी तरह न समझने पर भी 'लीडर' पर जो सालभर आगरेमें भिड़ा रहा, उसका फल अब मिलने लगा था, और अंग्रेजी पत्रोंसे भी मुझे समाचारोंके जाननेका सुभीता था। अखबारोंको इत्मीनानसे पढ़नेकेलिए प्रायः रोज ही मै 'गुरुदत्तभवन' पहुँचता। हिन्दी-उर्दूकी राजनीतिक पुस्तकें शायद पढ चुका था, इसीलिए इस समय उनके पढ़नेमें समय नही जाता था, किन्तु साथ ही अब डी० ए० वी० कॉलेज और कॉलेज-आर्यसमाजके मनस्वी विद्वानों पंडित भगवद्दत्त और पंडित रामगोपाल शास्त्रीके सम्पर्कमें आनेका मौका मिला। खासकर, पंडित भगवद्दत्तकी लगन और अन्वेषण-प्रेमने मेरे हृदयमें उसकी ओर एक प्रेरणा पैदा की, यद्यपि अन्वेषणके तरीके आदिके सम्बन्धमें उनसे सीखनेका मुझे मौका नही मिला। पंडित ऋषिराम और प्रोफेसर रामदेव एम० ए०, उस समय बी०ए० के विद्यार्थी थे, और वैदिकसाहित्य तथा आर्यसमाजके कामोंमें खास दिलचस्पी रखते थे।

आचारियोंके अति-सकीर्ण तथा वैरागियोंके अपेक्षाकृत उदार तो भी संकीर्ण वायु-मंडलसे निकलकर आर्यसमाजमें आनेपर मुझे मानसिक विचार-स्वातंत्र्यका मूल्य मालूम होने लगा। मुसाफिर विद्यालयमें 'करोड़ों-वर्षों' से स्थापित आचार, धर्म-सम्बन्धी परम्परापर भी हम खुली तौरसे नुकताचीनी कर सकते थे। 'यस्तर्कणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः' के महामंत्रको सुनकर मेरा रोआं-रोआं आर्यसमाज तथा स्वामी दयानन्दके प्रति कृतज्ञ था। अब भी सीधे वेदके पढ़ने और उसपर विचार करनेका मौका नहीं मिला था, तो भी जो कुछ जानता या सुन चुका था, उसपर मुझे विश्वास था—आर्यसमाजके सिद्धान्त ध्रुवसत्य है। मैं निस्सन्दिग्ध रूपसे जानता था, कि मुझे अपना जीवन आर्यसमाजके प्रचारमें समर्पित करना है। एक दिन मैंने स्वामी दयानन्दके प्रति अपने उद्गारको प्रकट करते हुए कह दिया था—'मैं दयानन्दके एक-एक वाक्यको वेदवाक्य मानता हूँ।' पंडित भगवद्दत्तने सहमत होते भी कहा—'इतनी जल्दी नही कीजिए। पहले पढ़कर देखिए तो।'

हमारे संस्कृत-विभागके विद्यार्थियोंमें पंडित ईशानन्द और पंडित तुलसीराम भी थे। तुलसीरामके अध्यवसायको में बहुत सराहनीय समझता था। किसी

वक्त मजदूरी करने वह पंजाबसे पूर्वी अफ्रीकाके केन्या प्रदेशमें पहुँच थे। शायद मिस्त्रीका काम करते थे। वहीं आर्यसमाजके सम्पर्कमें आये। पढ़नेकी इच्छा बलवती हुई। काम छोड़कर लाहौर पहुँचे, और नींवसे शुरू करके आज शास्त्रि-श्रेणीके अच्छे विद्यार्थियोंमें थे। ईशानन्दके पिता गुरुकुल विरालसीके प्रधान स्तम्भ थे। ईशानन्दजी पहिले वहीं पढ़े। काशीके व्याकरणाचार्यके एक खंड भी वह पास थे, और अब शास्त्री परीक्षा देनेवाले थे। मेरी अपनी विशारद श्रेणीमें रामप्रताप, देवदत्त-द्वय, यशपाल तथा पंडित भक्तरामके छोटे लड़के थे। रामप्रताप पढ़नेमें भी अच्छे, तथा उन मजाकपसन्द लड़कोंमें थे, जो अपनी हँसीको ओठोंको सीवनमें छिपा सकते थे। उनके मजाकका निशाना करारा लगता था, किन्तु पुरदर्द चोट नहीं पहुँचाता था। पंडित भक्तरामजी बूढ़े आदमी थे। आंखोंसे उन्हें बहुत कम सूझता था, और पढ़नेकेलिए पुस्तकको आंखके बिलकुल पास ले जाना पड़ता था। संस्कृतके पंडित, उसपर बूढ़े, बातके फेरमें जल्दी पड़ जानेवाले वैसे ही होते हैं, किन्तु यहां जिस दिन हम लोगोंका पढ़नेका मन नहीं होता, तो रामप्रताप कोई बात चला देते, पंडितजी बहक जाते और दूसरी बातोंमें लग जाते। हमारा घंटा बस उसमें खतम हो जाता। कभी-कभी पंडितजीको हम लोगोंकी चालाकी मालूम हो जाती, फिर उनकी टिप्पणी शब्दोंमें नहीं बल्कि पतली छँटी मूँछोंके ऊपरी खिंचाव और उससे भी ज्यादा गालोंपर छलकती हँसीके रूपमें प्रकट होती थी। यशपाल उन विद्यार्थियोंमें थे, जो भूल-भटककर विद्याकुंजमें चले आते हैं। उनमें प्रतिभाका अभाव नहीं था, किन्तु उनका मन पढ़नेमें बिलकुल नहीं लगता था। वह एक रँगीली तबियतके ऐसे तरुण थे, जिनकी धारणा होती है, जीवनको बस हँसी-खुशीमें बिता देना चाहिए। ऐसे आदमियोंको अपनी एक तरफा धारणापर जबर्दस्त थपेड़ा लगनेका डर रहता है, और उस अवस्थामें वे अपनी किश्तीका बैलंस ठीक नहीं कर पाते। यशपालको एक बार कोई ऐसी ठेस लगी, कि उसने अफीम खा ली थी, खैर, जान बच गई। कोई अनिष्ट होनेपर हम लोगोंको साधारण आघात नहीं लगता। यशपाल अपने सहपाठियोंमें हर-दिल-अजीज तरुण था, वह हमारे मजलिसकी जीनत था। उसके भाई श्रीरामदासजी होशियारपुर, डी० ए० वी० हाई स्कूलके हेडमास्टर थे, और उनकी बड़ी इच्छा थी, कि यशपाल अच्छा संस्कृत पढ़ जाये। यशपाल महीने भरकेलिए मिले खर्चको हफ्तेसे ज्यादा तक चलानेको पाप समझता था।

देवदत्त दो थे—गोरे, छोटे। गोरे देवदत्त पतले छरहरे बदनके थे, उनका रंग यदि पश्चिमी यूरोपियनकी तरह नहीं तो पूर्वी यूरोपियन जैसा था। वह महात्मा हुंसराजके जन्मस्थान (बेजवाड़ा) के निवासी थे। पुरानी स्मृतियोंमें यह दोष है, कि पहिलेकी पड़ी मुहरपर नई मुहर पड़ जाने या फोटो फिल्मके दुहरा एक्स-

पोजरकी तरह उनका अंकन अस्पष्ट हो जाता है, जब उनपर कोई नया ठप्पा लगता है। देवदत्तसे कई वर्षो पीछे भी मुझे मिलनेका मौका मिला, जब कि वह शास्त्री करके बी०ए० में पढ़ रहे थे, इसलिए उन आरम्भिक दिनोंकी बातोंकी स्मृति क्षीण हो गई। वह ऐसे तरुणोंमें थे, जो किसी मजलिसमें प्रधान पात्रोंका पार्ट तो नहीं अदा करते, किन्तु जिनके बिना मजलिस सफल भी नहीं हो सकती। छोटे देवदत्तके कानोंमें सोनेका कुंडल था। हमारी श्रेणीमें वह और रामप्रताप कुडल-धारी थे। उनका 'न ऊधोसे लेना न माधोको देना था', तो भी सहपाठियोंकी मजलिससे बहिष्कृत होने लायक नही थे। शिवलालजी भी हमारे एक सहपाठी तथा गुड़-गांवा (हरियाना) जिलेके रहनेवाले थे। वैसे हमारे सहपाठियोंमें मेरे सिवा और भी ठेठ गावके पैदायशी विद्यार्थी रहे होंगे, किन्तु हम सभी शहरी हो गये थे; शिव-लाल ही ऐसे व्यक्ति थे, जिसमें कच्चे नौतोड़ खेतोंकी गन्ध आती थी। वह दालको दाल्ल, कालाको काल्ला बोला करते।

अभी सस्कृत-विभागकी पढाई डी० ए० वी० कॉलेज-हालके ऊपरी कोठेपर हुआ करती थी। हम लोग वैदिक-आश्रम जाते वक्त या तो देवसमाजकी तरफ़से जाते, या सेक्रेटरियटके भीतरसे। वैदिक-आश्रमके फाटकसे कुछ कदमपर ही अनारकलीकी कब्र थी। उसके इकहरे ईंट चूनेके गुम्बदको हम रोज देखते थे, और शायद यह भी सुना था, कि यही अपने समयकी एक अद्वितीय सुन्दरीका बलात् जीवनसे वंचित शरीर सो रहा है, उसका कसूर यही था, कि अकबरका युवराज सलीम अपनी आंखोसे उसे निकाल नही सकता था। तो भी अनारकलीकी समाधि-ने हमारे तरुण हृदयोमें कोई आकर्षण नही पैदा किया। कारण सिर्फ रसज्ञताक्से अनभिज्ञ होना ही नही हो सकता, बल्कि उस समाधिका सरकारी दफ्तरके एक अगके रूपमें परिणत होना भी हो सकता है। इसी समाधिके पीछे दोपहरको सेक्रेटरियटके कितने ही छोटे-छोटे नौकर नमाज पढ़ने आया करते थे।

शार्टकटसे चलनेपर हम देवसमाजके दूर तक फैले घरोसे होकर गुजरते थे। शामके वक्त उधरसे जानेपर कितनी ही बार देवगुरु भगवान् (श्री सत्यानन्द अग्नि-होत्री) को हम तांगेपर टहलनेकेलिए जाते देखते, कभी-कभी उनके साथ उनकी पत्नी भी होती, दोनोंकी उम्रोमें काफ़ी अन्तर था। देवसमाज-सम्बन्धी दो-चार पुस्तकें भी मैंने पढ़ी थी, उनके साप्ताहिक 'जीवनतत्' को कभी-कभी देखनेका भी मौका मिला था; किन्तु देवसमाज और देवगुरु मेरेलिए मुअम्मा ही बने रहे। सुनता था, देवसमाज ईश्वरको नही मानता, इल्हामको नहीं मानता, विज्ञानको मानता है, विकासवादको मानता है, योगको नहीं मानता, ध्यानको नही मानता, देवगुरुको विकासकी सर्वोच्च विभूति मानता है; आचार-सम्बन्धी भूलोंकेलिए अपराध स्वीकार करनेपर जोर देता है—इत्यादि। ये सब बातें मुझे परस्पर-

थानाभवन कस्वा हमारे रास्तेमें पड़ा था, पंडित भोजदत्त यहीं पैदा हुए थे। ईशानन्दजीके पिताका नाम याद नहीं। और ठाकुरोंसे उनकी एक विशेषता यह थी, कि उनकी आंखें बिल्कुल मगोलों-जैसी थी, वैसी ही जैसी कि ईशानन्दकी थी। लम्बे-चौड़े कद्दावर जवान थे। वह ऊँचे तबकेके खेतिहर-जमींदार थे। काफी खेती होती थी, गायों-भैंसोंका दूध इफरात था, बड़ी जातिकी घोड़ी घरमें पोसी हुई थी, जिसके ऊपर रिसालेका नम्बर लगा हुआ था, और वह अच्छे डील-डौलके बछड़े पैदा करती थी। उनके पास एक अच्छा आमोंका बाग था—शायद अनार-नासपातीका भी—किन्तु उस वक्त मुझे आमोंसे वास्ता था। आमोंकी फसल तक हमारी पढ़ाई-लिखाई ताकपर ही रखी रही। बागमें चले जाते, पककर गिरे हुए फलोंके ढेरसे चुनकर कुछ दर्जन आम पानी भरी बाल्टीमें डाल दिये जाते, और मैं, ईशानन्द तथा एक-दो नये बने तरुण साथी भी चारों ओर घेरकर बैठ जाते. किसीको यह परवाह नहीं थी, कि घरमें हाथ जलाकर रोटियां भी पकाई जा रही हैं। ठाकुर साहेब जोर देते—आम खाकर दूध जरूर पीना चाहिए, फिर एक गिलास दूध किसी तरह गलेसे नीचे उतार लेता। रोटी खाना तो सिर्फ दिखानेकेलिए था। ईशानन्दके घरमें मैं उनके परिवारके एक व्यक्तिकी भांति था। उनके ही साथ चौकेमें खाने जाता। लड़कियोंका पायजामा पहनना देखकर, मैंने समझा, युक्तप्रान्तके हिन्दुओंमें भी यह प्रथा सिर्फ मुसलमानों तक ही सीमित नहीं है। ईशानन्दके कुटुम्बियोंमें कुछ शिक्षा भी थी। ठाकुर रघुवीरसिंह (!) ग्रेजुएट थे और सरकारी नौकरीकी तलाशमें थे। उनके छोटे भाई एफ० एस्-सी० करके लखनऊमें डाक्टरी पढ़ रहे थे, इस प्रकार गावमें रहते भी शिक्षितोंकी संगतिसे वंचित होनेकी सम्भावना नहीं थी।

बिरालसी गुरुकुल, बिरालसी गावसे थोड़ा हटकर था। स्वामी दर्शनानन्दको बिना नीवकी संस्थायें खोल डालनेका मर्ज था। बिरालसी, सिकन्दराबाद, ज्वालापुर, पोंथामक्ता (रावलपिंडी) के गुरुकुलोंको—'मूंड दिया मांग खाओ'के सूत्रानुसार यह खोलते गये। एक बार संस्था खुल जानेपर आसपासके लोगोंको लाज-शर्म होती है—शायद इस तत्त्वको वह जानते थे; इसी ख्यालसे बिरालसीका गुरुकुल भी लष्टम-पष्टम चल रहा था। विद्यार्थियोंकी संख्या चौदह-पंद्रह थी। एक अध्यापक थे, जो भाषा टीकाके सहारे अष्टाध्यायी पढ़ा दिया करते थे। एक रसोइया थे, जिन्हें रोज शामको फिक्र पड़ती, कि आज तो किसी तरह एक शाम सूखी-भारी रोटी मिल गई, किन्तु कल क्या होगा। आमोंकी फ़सल खतम होने-या उनके आकर्षणके कम होने तथा पढ़नेपर ध्यान जानेसे मैं गुरुकुलमें चला गया। गुरुकुलके सीधे-सादे मकान उतने आदमियोंके रहने लायक काफी थे। उसके पास इतने खेत थे, कि कूएँके इन्तजामके साथ यदि ठीकसे खेती की जाती,

तो गुरुकुलको अनाजके लिए किसीके सामने हाथ पसारना न पड़ता। पासमें बहुत-सा गैर आबाद जंगल था, जिसमेंसे भी कुछ गुरुकुलकेलिए मिल सकता था। दो-चार गायें थीं, किन्तु शायद 'दुग्धदोहा'। मैंने एक दिन गाय-बैलोंके बड़े झुंडको जंगलमें दौड़ते देखा, एक बार वह झुंड गुरुकुलके पास भी आया। 'जंगली गाय' सुनकर मेरी जिज्ञासा और बढ़ी, इसपर बतलाया—एक-दो गायें जंगलमें छूट गईं, उन्हींकी सन्तान बढ़कर इतनी हो गई है। वह बड़ी स्वस्थ, स्वच्छ, और दर्शनीय थी।

धार्मिक बातोंमें 'विचार-स्वातन्त्र्य' के अभिमानके साथ आर्यसामाजिक संकीर्णता होते हुए भी सामाजिक सुधारोंमें मेरे विचार सुधारकी सीमासे बाहर जा रहे थे। मैं उन विचारोंको बड़ी निर्भीकतासे प्रकट करता था। धीरे-धीरे मेरे विचारोंका असर अध्यापक और क्लर्क—रसोइया भी थे—पर भी पड़ने लगा। वह भी स्वतन्त्रतापूर्वक प्रश्नोत्तर करने लगे। मैं उनका आदर करता था, क्योंकि तनख्वाहका तो सवाल ही क्या वहां तो पेटके लाले पड़नेपर भी वह गुरुकुलमें डँटे हुए थे। वह भी मेरी बातोंमें कुछ विशेषता जरूर पाते होंगे, तभी तो इतने प्रभावित थे। बात करनेमें इतना जरूर मुझे खयाल रहता कि वह दूसरेको चिढ़ाने, नीचा दिखानेकेलिए न हो। विचार परिवर्तनकेलिए होती रोज-रोजकी बैठकोंका परिशेष एक दिन अन्तस्तलकी घुंडीके खोलनेके रूपमें हुआ।

पंडितजीने कहा—क्या करें, समाज बहुत अक्षन्तव्य अपराधों महापापोंका कारण है। एक आदमी उसकी अपारशक्तिका सामना कैसे करे? मेरी तरुणी विधवा पुत्री है। मैं अपनेसे जानता हूँ, कि उस अवस्थामें उससे ब्रह्मचर्य पालन करनेकी आशा रखना जबर्दस्त आत्मवंचना है, किन्तु कुछ आर्यसामाजिक विचारोंको रखते भी बिरादरी तोड़नेकी मेरी हिम्मत नहीं, और पुत्रीका विधवा-विवाह नहीं कर सकता। नतीजा?—कुछ न पूछिये, पिछले चार-पांच वर्षोंमें तीन-चार गर्भ गिराये जा चुके हैं। मेरी पुत्री है, कामवासना स्वाभाविक चीज है, उसके लिए उसे प्राण-दंड देनेकी हिम्मत पिता होनेके कारण, हृदय रखनेके कारण मुझमें नहीं है। सोचता हूँ, सर्वशक्तिमान् समाज जब मुझे ऐसा करानेकेलिए मजबूर करता है, तो न्यायकर्त्ता भगवान् इस पापको भी उसीके खातेमें लिखेगा।

रसोइया-क्लर्क ब्राह्मणने अपनी बात शुरू की—हम तीन भाई हैं। हम लोग जवान थे, जब कि बूढ़े पिता एक छोटी-सी कन्यासे ब्याह करनेपर उतारू हुए। लोगोंने मना किया, हमने भी मना किया, जिसका अर्थ पिताजीने हमारी मंशासे बिल्कुल उल्टा लगाया। आखिर किसीकी एक भी न मानकर उन्होंने उस अबोध बालिकासे ब्याह कर ही डाला। वह जवानीमें अभी अच्छी तरह पैर भी रखने न पाई थी, कि पिता परलोक सिधारे। मेरी सौतेली मां जवानीका हिसाब काट

देनेपर भी सुन्दरी है। कुछ वर्षों बाद मालूम हुआ, कि पड़ोसके आदमीसे उनकी घनिष्ठता हो गई है। यहीं नहीं, डर लगने लगा, कि कहीं वह निकल न भागे। निकल भागनेपर समाज यह नहीं कहता, 'चलो सड़ते अंगको काट फेंका अच्छा हुआ', बल्कि वह हमारे परिवारको हमेशाकेलिए लांछित करता—'इस घरकी औरत निकल गई है।' आपसे छिपानेकी जरूरत क्या ? अन्तमें मैंने सोचा—इसकी एक ही दवा है, जिसके लिये सौतेली मांको भागकर कुलमें कलंक लगाना पड़ेगा, उस कामनाकी पूर्ति मैं ही क्यों न करूँ। दो गर्भ गिराये जा चुके हैं। बतलाइए, मैं क्या करूँ ?

पंडितजीको तो मैंने सलाह दी थी, यदि अपने जिलेमें हिम्मत नहीं होती, तो दूरके किसी जिलेमें लड़कीका व्याह कर आयें। दूसरे सज्जनकी समस्याका क्या हल मैंने पेश किया, यह मुझे याद नहीं।

गुरुकुलके पास जंगल था, और झूठ या सांच लोग कह रहे थे, कि इसमें कभी-कभी बघेरा आ जाता है। मुजफ्फरनगरके एक स्थानमें भेड़ियोंके प्रकोपसे गाँव उजड़ जानेकी बात भी बतला रहे थे। कहते थे शाम होते ही उनका झुंड गांवमें आ जाता। घरमें बन्द हो जानेपर किवाड़के चौखटोंको खोदकर वे भीतर घुस आते थे।

बरसातके महीने दिनपर दिन खतम होने लगे। अब हमें अपनी पढ़ाईका ख्याल आने लगा। ईशानन्दजीसे सलाह हुई, कि मुजफ्फरनगर चला जाये, और वहीं पंडित परमानन्द (?) से पढ़ा जाये।

मुजफ्फरनगरमें हम लोग आर्यसमाज-मन्दिरमें ठहरे। यह शहरसे बाहर किसी बाग जैसे स्थानमें था। शामको पंडितजीके यहाँ हम पढ़ने जाते। आर्य-समाज-मन्दिरमें एक और तरुण प्रज्ञाचक्षु रहते थे। यह पहिले ईसाई थे, हालमें शुद्ध करके उन्हें आर्य बनाया गया था। अजमेर और कहां-कहां रह आये थे। अन्धोंकेलिए लिखी पुस्तकें पढ़ लेते थे।

मुजफ्फरनगरमें रहते कोई विशेष घटना नहीं घटी। गड्डी (गाड़ी), रोट्टी (रोटी), जाग्गी (जायेगी) से हम बिरादरीमें काफी परिचित हो गये थे, यहांके शिक्षित लोग ऐसे उच्चारणोंसे परहेज करते थे। तो भी मुझे यहांके देहातकी यह हिन्दी ज्यादा सजीव मालूम होती थी।

मुजफ्फरनगरमें हम लाहौर लौटनेकी सोच रहे थे। पढ़ाई कैसे होगी, दोस्तोंसे कैसे मिलेंगे, अगले सालकेलिए विशारद परीक्षामें बैठनेके अतिरिक्त क्या प्रोग्राम है। इसी वक्त भाई साहेबका पत्र आगरासे आया। उन्होंने तुरन्त आनेको लिखा था।

मैंने पुस्तक-थाना संभाला, और सीधे आगराका रास्ता पकड़ा। शायद भाई

साहेवने कामके वारेमें भी कुछ इशारा कर दिया था, यदि ऐसा था, तो मैंने ईशानन्दजीसे अपने लाहौर अनेके वारेमें सन्देह भी प्रकट कर दिया होगा।

मेरे लाहौर पहुँचनेके वाद भाई साहेब भी लाहौर पहुँच गये थे। उन्होंने गवर्नमेंट ओरियंटल कालिजमें अरबीकी मौलवी-आलम श्रेणीमें नाम लिखाया था। छुट्टियोंमें वह भी लाहौर छोड़, आगरा नामनेरमें ठहरे थे। भाई साहेवने प्रस्ताव रखा--अव समय आ गया है कि हम वैदिक मिशनरी तैयार करनेकेलिए कोई गम्भीर कदम वढ़ायें। मुसाफ़िर विद्यालयसे वह काम होनेका नहीं। किन्तु हर एक काम रुपयेसे साध्य होता है, इसलिए चन्दा जमा करनेकेलिए नहीं वल्कि उसकी सम्भावनाको देखनेकेलिए तुम्हें युक्तप्रान्तके कुछ स्थानोंमें घूमना होगा। हमारी इस योजनामें मुसाफिर विद्यालयके संचालकोंके साथ कुछ असहकारकीसी गन्ध थी। विद्यालयके संचालनमें त्रुटियां रहते हुए भी वे लोग कितनी कठिनाईसे उसे चला रहे थे; रुपयों और योग्य विद्यार्थियोंके मिलनेमें कितनी दिक्कत थी--इसका हमें अभी खुद तो अनुभव नहीं था, इसलिए हम उसकी कद्र नहीं कर सकते थे। पढ़ाईको वीचसे छोड़ना मुझे तो पसन्द नहीं हो सकता था, किन्तु भाई साहेबकी वात कैसे टाली जाती।

आगरेसे यशवन्तनगर, इटावाके आर्यसमाजोंमें होते मैं कानपुर पहुँचा। वहांसे फिर लखनऊ आर्यसमाजमें। हर जगह आर्यसमाजमें ठहरता, खास-खास आदमियोंसे वातचीत करता, कहीं-कहीं व्याख्यान भी देता। वातचीतमें वैदिक-धर्म-प्रचारकी आवश्यकता और उसकेलिए योग्य मिशनरी तैयार करनेकी समस्या सामने रखता। लखनऊ आर्यसमाजमें उस वक्त अजमेरके एक तरुण रामसहायजी ठहरे हुए थे। उनका गोरा, नाटा, पतला वदन भीतरकी तरफ़ ज्यादा घुसी आंखें और जरा-जरासी निकल रही मूछें आयुको वास्तविकतासे कम वतलाती थीं। वह वड़े उत्साही नवयुवक मालूम हुए। संस्कृत पढ़नेके लिए निकले थे, किन्तु अभी तक कोई सन्तोषजनक तरीकेसे पढ़ानेवाला अध्यापक उन्हें नहीं मिला था। वहां किसीसे मुझे मालूम हुआ, कि यहां एक वौद्ध विहार है, जिसमें एक वौद्ध भिक्षु रहते हैं। वौद्ध-भिक्षुओं जैसी धर्मप्रचारकी लगनको वहुत वार व्याख्यानोंमें मैं सुन चुका था। नालन्दा जैसे धर्मप्रचारक पैदा करनेके केन्द्र होने चाहिए, इस विचारका अंकुर वड़ी मजवूतीके साथ हमारे हृदयोंमें उग चुका था, इसलिए जव वौद्धभिक्षुका रहना मालूम हुआ, तो एक दिन शामको मैं विहारमें पहुँचा। अँधेरा हो चुका था, वाहरी रोशनी काफ़ी नहीं थी या स्मृतिका ही दोष है, मंदिर और उस समयके स्वामी वोधानन्दके आकार-प्रकारका कुछ खयाल नहीं। उनसे मुख्य तौरपर ईश्वर, वेद आदि विषयोंके अतिरिक्त वौद्ध साहित्य, त्रिपिटक आदिके वारेमें वातचीत हुई। ईश्वरका उन्होंने साफ़ शब्दोंमें निषेध नहीं किया। शायद

वह पुरानी विचार-धारापर धीरे-धीरे प्रहार करनेके पक्षपाती थे। बौद्ध-साहित्य-में बँगलामें छपी बुद्धपुस्तकों तथा बंगीय बौद्धोंकी मासिक-पत्रिका "जगज्ज्योति" का पता दिया। पाली त्रिपिटकके पतेके बारेमें अनागरिक धर्मपालसे लिखा-पढ़ी करनेके लिए कहा। उस संक्षिप्त साक्षात्कारके वक्त यह नहीं पता लगता था, कि मेरे जीवनके विकासमें इस साक्षात्कार द्वारा ज्ञात बातें खास पार्ट अदा करने-वाली है।

लखनऊमें मलीहाबाद, फिर बिलग्राम, जायस और संडीला गया। संडीलामें तहसीली स्कूलके हेडमास्टरके यहा ठहरा था। शामको नदी किनारे किलेकी ऊँची जगहपर बैठे रंग-बिरंगे बादलोंमें ईश्वरीय-रचनाके चमत्कारको देखते हुए सन्ध्या करता था। संडीलासे हरदोई पहुँचा। आर्यसमाजमें २५-३० आदमियोंके सामने व्याख्यान दिया। थमरावांके रायसाहेब केदारनाथ मुसाफिर विद्यालयके प्रधान पृष्ठपोषकोंमें थे, इसलिए उनके यहां जाना जरूरी था। अभी वर्षा बिलकुल समाप्त नहीं हुई थी। मै पैदल ही थमरावां पहुँचा। बड़े आदमियोंके यहा आने-जानेकेलिए विशेष संभ्रान्त वेष-रचना, तथा सवारी आदिकी जरूरत होती है, किन्तु वह मुझे उपहासास्पद-सी बात जँचती थी, इसीलिए मैंने कभी भी अमीरोंको अपनी ओर खींचनेका न प्रयत्न किया और न उसमें सफलता प्राप्त की।

थमरावांके रायसाहेब एक बड़े जमींदार तथा पुराने रईस थे। गरीबोंकी झोंपड़ियोंके साथ-साथ वहा उनके पक्के महल थे, जिनमें दर्जनों नौकर-चाकर घूमते रहते थे। उनके अस्तबलमें कई अच्छी जातिके घोड़े बँधे थे। शायद हाथी और घोड़ागाड़ी भी थी।

मैं जिस बे-सरोसामानीसे गया था, उसमें तो यहीं भी टिकाये जानेपर मुझे शिकायत करनेका हक न था; किन्तु रायसाहेबमें अपनी श्रेणीके दूसरे रईसोंसे कुछ विशेषता थी—विशेषता न होती तो आर्यसमाजकी ओर क्यों झुके होते। उन्होंने जब सुना कि मैं आगरेका 'आर्यमुसाफ़िर' हूँ, तो मेरे ठहरनेकेलिए कोठेका वह कमरा खुलवा दिया, जिसमें किसी समय पंडित अखिलानन्द शर्मा रहकर उनके ज्येष्ठ पुत्रको संस्कृत पढ़ाया करते थे। कायस्थ रईस होकर संस्कृतकी ओर उनका ध्यान जाना बतलाता था उनकी धार्मिक अभिरुचिको। लड़का अच्छा पढ़ गया था, किन्तु मृत्युने उसे छीनकर बापके मंसूबेको नष्ट कर दिया। रायसाहेबके चेहरेपर अब भी अपने ज्येष्ठ पुत्रकी मृत्युका शोकचिह्न मौजूद रहता था। मैं वहा दो-चार दिन रहा, अपने उद्देश्यपर बातचीत की। तत्काल कुछ मांगना था नहीं, इसलिए मेरी जबान स्वतंत्रतापूर्वक अपना काम कर सकती थी। चन्दा मांगना हो या भीख, ऐसे समय मुझे रहीमके इस दोहेकी सत्यता साफ़ मालूम होती है—

'रहिमन वे नर मरि चुके जे कहुँ मांगन जाहिं ।' एक दिन रायसाहेव और मैं कुर्सीपर बैठा था, उनका छः-सात वर्षका लड़का—अब यहीं एक मात्र लड़का बच रहा था, इसलिए बहुत लाड़-प्यारसे पाला जा रहा था—आया । उसके काले वार्निशवाले जूतोपर थोड़ी-सी धूल लग गई थी । अभी रायसाहेबकी उधर नजर भी न पड़ी थी, कि वहा उपस्थित एक ब्राह्मण-पुरोहितने झटसे अपनी चादरके कोनेसे जूतेको पोछना शुरू किया । रायसाहेबने खड़े होकर उनके हाथको हटा दिया, और उनके इस कामसे असन्तोष प्रकट किया । कह नही सकता, मेरी उपस्थितिसे उनको सकोच हुआ, और इसीलिए उन्होंने पुरोहितजीके आचरणपर असन्तोष प्रकट किया, या वह स्वभावतः इस बातको पसन्द नही करते थे । मेरी बातोंसे उनको यह तो मालूम होनेमे दिक्कत नहीं हुई होगी, कि यह खुशामदकलासे बिलकुल अनभिज्ञ व्यक्ति हैं । पुरोहितके इस आचरणने ब्राह्मणधर्मको मेरी नजरमें और भी नीचे गिरा दिया ।

थमरावासे चलते वक्त रायसाहेबने सवारी देनेके लिए कहा । घोड़ेका जिक्र आनेपर मैंने बड़ी प्रसन्नतापूर्वक उसे पसन्द किया, किन्तु अन्तमें बड़े घोड़ोंमेंसे किसीको न पा जब एक टटुआनी आई, तो गांवसे कुछ दूर तक मै उसपर चढ़कर आया, फिर सईसको उसके साथ लौटा दिया । अच्छे घोड़ेपर चढ़नेके मेरे स्वाभाविक शौकको इससे धक्का लगा; लेकिन रायसाहेब क्या जानते थे, कि मै घुड़सवारीका इतना शौकीन हूँ ।

लौटते वक्त फिर लखनऊ आया । स्वामी बोधानन्दसे फिर भेंट हुई या नही—मालूम नही । लखनऊसे रायबरेली । वहा आर्यसमाजके मंत्री या सभापति कोई ब्राह्मण वकील थे, जिनके घर मे ठहरा । व्याख्यानके लिए खास प्रबन्धकी जरूरत नहीं पड़ी । किसी दिनके उपलक्ष्यमें कोआपरेटिव बैंकके मकानमें हिन्दी भाषा पर व्याख्यान होनेवाला था, जिसमें सनातनधर्मके एक प्रसिद्ध महोपदेशक वाणीभूषण पडित नन्दकिशोरजी बोलनेवाले थे । वही मेरा व्याख्यान भी रख दिया गया । तैयार करके व्याख्यान देनेवालेको कुछ सुभीते भी रहते हैं, और कुछ मुश्किलें भी । रामगोपाल भाईको तैयार करके व्याख्यान देनेकी आदत थी । उनको कुछ व्याख्यान बिलकुल कंठस्थ थे, जिन्हें वह बड़े जोशके साथ भाषणमंचपर हाथ पटकते हुए अदा करते थे । मै व्याख्यानोंके लिए लिखे संकेत-नोटो तकको इस्तेमाल नहीं कर सकता था । सुभीता यह था, कि नयेसे नये विषयपर भी दस-बीस मिनट कुछ बोल सकता था । वाणीभूषणजीने अपना तैयार भाषण सुनाया, जिसमें हिन्दी भाषा और साहित्यसे न सम्बन्ध रखनेवाली ही बातें अधिक थी । वह देर तक बोलते भी रहे । मै पन्द्रह-बीस मिनटसे ज्यादा नहीं बोला, सिर्फ हिन्दी-भाषा-साहित्यपर बोला, और ऐसी बाते जिनमें संस्कृत-शास्त्रोंकी दुहाई कम और नई

रोशनीकी पुट कुछ अधिक थी। शिक्षितोंको मेरा भाषण ज्यादा पसन्द आया— यह मेरे मेजबान वकील साहेबकी राय थी।

रायबरेलीसे अमेठी पहुँचा। नानाके मुहसे अमेठीके दवनसिंह नामक बलिष्ठ सिपाहीकी बातें कई बार सुन चुका था, किन्तु मैं वहां दवनसिंह या उनके परिवारकी खोज करने नहीं आया था। मुसाफिर विद्यालयके उद्देश्यके साथ बहुत सहानुभूति रखनेवाले अमेठीके द्वितीय राजकुमार रणवीरसिंहसे मुझे मिलना था। किसी क्लर्कके यहां उस दिन तो ठहर गया, शामको कुमार साहेबसे उनके महलके आंगनमें बातचीत हुई, शायद उस दिन पुरानी चालकी कविताओंका पाठ भी हो रहा था। कुमार रणवीर विद्या, व्यायाम, और उदार विचारोंके प्रेमी थे। उनका शरीर स्वस्थ और हृष्ट-पुष्ट था, पूरे जवान हो जानेपर भी अभी उन्होंने शादी न की थी। पांच मिनटमें अपना परिचय दे देनेकी कला मैं नहीं जानता, और वहां डटकर कुछ दिन मुसाहिबी करनेके लिए मैं गया नहीं था। कुमार रणवीर अपने आसपास सदा बने रहनेवाले खुशामदियोंसे चिढ़ते थे, किन्तु उनका शिकार न होते हों, यह बात नहीं। वह मुझसे मेरे वेश-भूषाके अनुसार नहीं बल्कि एक प्रगतिशील तरुण समझकर मिले। नौकरोंसे किसी अतिथिशालामें ठहरानेके लिए कहा उसके पास कुत्ता घर था—यहां कितने ही भिन्न-भिन्न जातिके कुत्ते चारपाइयोंपर पड़े रहते थे। आर्यसमाजको मैंने गम्भीरतासे ग्रहण किया था, वैरागीपंथकी तरह उसे 'ग्रामं गच्छन् तृणान् स्पृशति'के हल्के हृदयसे नहीं स्वीकार किया था, इसीलिए यथाशक्ति आर्यसामाजिक विचारोंके अनुसार चलनेकी कोशिश करता था। मांस-भक्षण और बलिदानको एक कट्टर आर्यसमाजीके तौरपर बुरा समझता था, और जब मालूम हुआ, कि देवीका बलिदान बन्द हो जानेपर भी बाघको बकरा मारकर खिलाया जाता है, तो मैंने इसकी शिकायत कुमार रणवीरसे की। किन्तु मुश्किल यह थी, कि बाघ देवीकी तरह पत्थरका न था। कुमारके बड़े भाई बड़े सीधे-सादे, ढीले-ढाले आदमी थे, सौभाग्य बँटते वक्त वह जरूर ब्रह्माके पास पहिले पहुँच गये थे, किन्तु समझ और शक्तिके वितरणके वक्त अपने तीनों भाइयोंसे पिछड़ गये थे। कुमार रणवीरका अपने दो छोटे भाइयोंपर बड़ा प्रभाव था। शामको वह उनके साथ घुड़सवारीके लिए निकलते थे, उनके शरीरसे मध्यकालीन सामन्त-प्रभा झलकती थी।

अगली मंजिल प्रतापगढ़ था। यहां एक तरुण विद्यार्थीके घर ठहरा। उनके पिता कचहरीमें कोई साधारण कर्मचारी थे। यहांका आर्यसमाज भी अवधके अन्य आर्यसमाजोंकी भांति कमजोर था, किन्तु कुछ नौजवानोंमें जोश था। उन्होंने सड़कके किनारे टाट बिछा दिया। शामके वक्त कुछ लोग आ गये, और मैंने आर्यसमाजके किसी सिद्धान्तपर व्याख्यान दिया। रातको तरुणके घर खाना खाने

गया, कायथ-भाई थे, आर्यसमाजके फेरमें पड़कर गोश्त छोड़ चुके थे, लेकिन वह दिलसे उतना जल्दी थोड़े ही छूट सकता है। खानेमें बेसनकी कोई तरकारी इस तरहकी बनी थी, कि उसमें बिलकुल मांसका-सा स्वाद आता था। मुझे भारी भ्रम हो गया था, किन्तु आर्यसमाजी घरमें गोश्त नहीं बन सकता, इस खयालसे मैंने अपने भ्रमको दबा दिया और सकोचवश पूछा भी नही।

बनारसके लिए रवाना होते वक्त मैंने यागेशके पास एक पत्र लिख दिया था। यागेश गर्मियोमें पंडित भोजदत्तके साथ मसूरी या देहरादून गये थे; उनके देहान्तके बाद घर चले आये थे। उस वक्त स्वामी वेदानन्द बनारसमें पढते थे, साक्षात्कार नहीं हुआ था, किन्तु हम एक-दूसरेसे परिचित थे। उनके ही यहां ठहरे। एक वक्त भोजन गोपाल-मन्दिरसे मँगवा लेते—वहा सस्तेमें कई तरहके अच्छे भोजन मिल जाते थे। हा, इस बातमें पीछे आनेवाले हिन्दू-भोजनालयो तथा हिन्दू-होटलोका गोपालमन्दिर पथ-प्रदर्शक था। श्रद्धालु भक्तजन तथा मन्दिरकी सम्पत्तिसे प्रतिदिन भोग लगनेके लिए चावल, आटा, घी, दूध, मिठाई, केसर, चन्दन हर चीजकी मात्रा वहां नियत है, और प्रतिदिनके भोगमें कई सौ रुपये लगते है। मन्दिरके हर एक कर्मचारीको वेतनके एक हिस्सेमें एक या अधिक पत्तलें भी मिलती थी, जिसे बहुतसे छूत-छातके खयालसे या पैसे बनानेके खयालसे बेंच दिया करते। कनैलाके-रिश्तेमें मेरे दादा—रामाधीन पाडे गोपालमन्दिरमें परवाडजी थे, और बनारसमें पढते वक्त कभी-कभी उनके यहा मैं गया था। रामाधीनजी छूतछातके खयालसे अपनी पत्तलको नही खाते थे इतना मुझे मालूम था, किन्तु उस वक्त मुझे यह नही पता था, कि ये पत्तलें बाकायदा बिकती हैं।

स्वामी वेदानन्द तीर्थ बहुत बातोंमें मुझसे समानधर्मता रखते थे। उनको भी मेरी ही तरह विद्याकी उग्र प्यास थी, वह भी वेदके उच्च तत्त्वज्ञानके विश्वासी, और वहां तक पहुँचनेके लिए प्रयत्नशील थे, और सारा समय संस्कृतके अध्ययनमें लगा रहे थे। उच्च योग्यता और काफी तैयारीके साथ देशान्तरोंमें वैदिकधर्मके प्रचारके वह भी मेरी ही तरह प्रबल पक्षपाती थे। 'खूब निबहेगी जो मिल बैठेंगे दिवाने दो' वाली बात थी, इसलिए हमारे बीच चिरस्थायी मित्रता क्यो न स्थापित होती।

बनारस आर्यसमाजमें मेरा एक व्याख्यान भी हुआ। अभी मैं वही था कि श्यामलाल (मेरे छोटे भाई) को लिये यागेश आ धमके। श्यामलालको देखकर मैं यागेशपर कुछ नाराज हुआ, किन्तु उन्होंने कोई बहाना बना दिया। दोनोने आग्रह किया, कि चन्द दिनोंके लिए कनैला जरूर चलें। मुझे मानना पड़ा। कनैला पहुँचनेपर कई बार प्रयत्न करके असफल होते हुए भी पिताजीने फिर नजरबन्दीका हथियार इस्तेमाल किया। क्षणिक वैराग्य अब स्थायी आदर्शवादका रूप धारण

कर रहा था, इससे वह ज्यादा शंकित हो गये थे। मुँहपर मैं 'नहीं रहूँगा'-दो टूक कहनेकी मुझमें हिम्मत न थी, क्योंकि उसमें गाँव भरके बड़े-बूढ़े जमा हो जाते और वे मेरी बेवकूफीका मजाक उड़ाते हुए पिताकी आज्ञा मानना आदिका उपदेश झाड़ने लगते। मैंने थोड़े दिनोंके लिए अपने भागनेके ख्यालको छिपा लिया और तै किया कि यदि अब एक बार मुक्ति मिली तो आजमगढ़ जिलेमें आनेका नाम न लूँगा। जिगरसंडीमें श्री मर्याद दूबेके नामसे जो जमींदारी खरीदी गई थी, उसके वसूल-तहसीलमें मैंने भी हाथ बँटाना शुरू किया। सप्ताह बीतते-बीतते एक दिन मुझे अकेले जिगरसंडी जानेका मौका मिला। अब कौन लौटकर पन्दहा जाता है। सीधे जखनिया या सादात स्टेशन जानेसे अब भी डरता था, इसलिए मैं वहाँसे वीरपुरमें पंडित मुखराम पांडेके यहाँ चला गया। वह व्याकरणतीर्थ, काव्यतीर्थ होकर अब घर ही पर रहते थे। बड़हल बाजारमें कह-सुनकर संस्कृत पाठशाला खुलवानेका इन्तजाम कर रहे थे, आज पाठशालारम्भका मुहूर्त था। पाठशालारम्भमें एक क्षणके लिए पुराने गुरुका फिरसे मैं विद्यार्थी बन गया। उपनिषद्की गुटका मेरे पास थी, उसीसे पाठ शुरू हुआ। मालूम नहीं, बड़हलसे लौटकर रातको मैं वीरपुरमें ठहरा, या वहाँसे सीधे दुल्लहपुर स्टेशन गया। खैर, कैसे ही मैं फिर बनारस पहुँच गया।

बनारसमें ज्यादा रहना खतरेसे खाली नहीं था, पिताजी किसी वक्त वहाँ पहुँच सकते थे। स्वामी वेदानन्दजी मेरी रायसे सहमत थे। वह अभी हाल हीमें अहरौरा (मिर्जापुर) से लौटकर आये थे, वहाँके कितने ही तरुण आर्यसमाजी उन्हें आकर कुछ दिन रहनेके लिए बहुत आग्रह कर रहे थे, उन्होंने मुझे वहाँ जानेके लिए कहा। रेलसे कोसों दूर विन्ध्याचलकी इस खोहमें पिताजी कहाँ आ पायेंगे इस पर हम दोनोंको पूरा विश्वास था। किन्तु इस रहस्यको एक दूसरे गुजराती विद्यार्थी—जिनपर मुसाफिर विद्यालयका छात्र होनेसे हम विश्वास रख सकते थे—जानते थे। उन्होंने पिताजीको यह बात बतला दी। अहरौरामें पहुँचकर निश्चिन्त हो मैंने तरुणोंके सामने धर्मप्रचार शुरू कर दिया था, जब कि दो-तीन दिन बाद, एक सबेरे देखा, पिताजी विकराल कालकी तरह मेरे सामने खड़े हैं। खैर, उन्होंने उसी वक्त लोगोंके सामने निबटना नहीं चाहा, शायद वे मेरे इस निर्बल स्थानको नहीं समझते थे। अलगमें मुझसे मिले। मैंने कहा—अभी मैं यहाँ एक मास रहूँगा, आप यहीं रहें, और अभी मुझे दिक न करें। अपने प्रयत्नोंकी असफलतापर उनका विश्वास हो चला था, तो भी स्नेह उन्हें निश्चेष्ट नहीं रहने देता था। उन्होंने एक बार फिर हृदय खोलकर अपनी व्यथा सामने रखनेकी कोशिश की। भोजन-पानके सम्बन्धमें ग्रामीण जीवनको कुछ और सरस करनेका प्रस्ताव किया। मैंने समझाया—मेरे लिए अब सबसे ज्यादा आकर्षण बाहरकी ओरसे है, वह पन्दहा या कनैलामें

नहीं मिल सकता। बातें थोड़ी ही हुईं, और मुझे खुशी हुई, जब पिताजीने एक साधुकी कुटियामें रहते दूर-दूरसे सिर्फ मेरे ऊपर निगरानी रखने तक ही अपने कामको सीमित रखा।

अहरौरामें जिनके घरमें मैं रहता था वह पहरी जातिके थे, मुझे इस जातिका नाम पहिले-पहल सुननेमें आया था, और इसे मैंने संस्कृतके प्रहरी शब्दसे निकला समझा। वह उत्साही आर्यसमाजी तरुण थे। किसी वक्त उनका घर बहुत समृद्ध था। विन्ध्याचलके जंगलोंसे जमा की गई मुर्गी बेरों तथा तम्बाकूको ढेंकीमें कूटकर उनके यहां अच्छी किस्मकी तम्बाकू बनती थी; जब लाखका रोजगार बढ़ा हुआ था, उससे भी काफ़ी आमदनी होती, और कई हजार रुपये सूदपर चलते थे। इस प्रकार एक वक्त एक समृद्ध नागरिककी भांति उनके घरवालोंका जीवन व्यतीत होता था। अब लाखका रोजगार चौपट हो चुका था, लेन-देनका रुपया कर्ज खानेवालोंके यहांसे आता न था, इसलिए वह भी रास्ता बन्द, बाकी बचा था सिर्फ़ तम्बाकू। तम्बाकूके रोजगारमें गुंजाइश रहते भी वह नये व्यापारिक तरीकोंसे वाकिफ न थे, और न देसावरमें तम्बाकू भेजनेके लिए सम्बन्ध स्थापित करनेकी ओर खयाल रखते थे। कूट-काटकर पुराने ढंगसे पुरानी आवश्यकताके अनुसार तम्बाकू बनाकर रखा; अहरौरामें जितना बिक गया, बस उसीपर उनके परिवारका गुजारा था। वह अपने पिताके अकेले लड़के थे। घरमें मा और स्त्रीके अतिरिक्त दो छोटे-छोटे बच्चे थे, जिनका खर्च तम्बाकूकी उस साधारण दैनिक आयसे भी चलाया जा सकता था; किन्तु उनके पिताके वक्त हीसे कुछ सम्बन्धी परिवारोंका भी भरण-पोषण उन्हींके घरपर होता चला आता था; आज आमदनीके बड़े रास्तोंके बन्द हो जानेके बाद भी उस तरुणका हृदय हिम्मत नहीं रखता था कि अपने आश्रित सम्बन्धियोंको अलग करे। जीर्ण-शीर्ण कमजोर नौका, सवारियोंके बोझसे किसी नदीमें स्वयं डूबना चाहती हो। कुछ सवारियोंको हटा देनेसे नौका बचाई जा सकती है—यह जानते हुए भी जैसे मृदु-हृदय नौका-स्वामी नौकामें साथियोंको हटानेकी अपेक्षा उनके साथ डूब जाना पसन्द करता हो—ठीक यही मनोभाव उस तरुणका था। मेरी उनके साथ बड़ी सहानुभूति थी, और उनकी कठिनाइयोंको खयाल करके कभी-कभी मेरा चित्त उद्विग्न हो उठता था—उन्हींके घरमें ठहरा रहनेसे ऐसे मौके बहुत मिलते थे। बकाया पड़े रुपयोंको वसूल करनेके लिए अदालतमें नालिश करनेकी जरूरत थी। नालिश करना, कचहरीमें मुकदमा लड़ना—गांधीयुगसे बहुत पहिले उस समय भी उन्हें पसन्द न था; और पसन्द होने-पर भी इसके लिए बहुत रुपयोंकी आवश्यकता होती।

शामको व्याख्यानके तौरपर ही नहीं कुछ क्लासके तौरपर हमारी कार्रवाई होती थी। मेरे भा॰-॰ापर धार्मिकताके साथ-साथ राष्ट्रीयताका रंग भी चढ़ने

लगा था। कई जगहकी खुफिया पुलिसने रिपोर्टें की थी, जिनकी जांच आगरा हुई थी, जिसे भगवती भाईको एक पुलिस अफ़सरने मित्रतावश बतलाया था महीने भर तक मेरी बातोंको सुनते रहनेपर भी अहरौराके तरुण यदि उक्ता नही तो सामयिकता ही इसमें कारण थी।

खाना बराबर मैं अपने मेजबान तरुणके यहां ही खाता, किन्तु एकाध बा तहसीली स्कूलके हेडमास्टर,—एक आर्यसमाजप्रेमी—किन्तु बिरादरीके डरके मा कांपनेवाले—के यहा भी खाने गया। जिस कमरेमें मैं रहता, वह कोठेपर सफे चूनेसे पुता हवादार कमरा था, उसमें कई तस्वीरें और शीशे टँगे थे। तरुण उप न्यासोंके शौकीन थे। 'जासूस' की तो फ़ाइलकी फ़ाइल वहा मौजूद थी। यहीं र्थ गोपालराम गहमरीकी लकाकी यात्रापर एक किताब पढ़ी, जो मेरे लंका जाने पहिले भूल-सी गई थी। चन्द्रकान्ता, चन्द्रकान्तासन्तति तथा इस तरहके और भी कितने ही तत्कालीन उपन्यास वहां मौजूद थे। मेरे पास पढ़नेके लिए गम्भीर पुस्तकें न थी, काफी समय और एकान्त मिला था, इसलिए उस सारी राशिको मैं एक बार पारायण कर गया। हिन्दी उपन्यासोंको तल्लीन हो पढ़नेका मेरे लिए वही आदिम और अन्तिम मौका था।

अहरौरा विन्ध्याटवीके मुहपर है। यहासे एक रास्ता सर्गुजा होते दक्षिणापथको गया है। पहाड़ और जंगल पास ही शुरू हो जाते हैं, जिनमें बाघ और चीते रहते हैं। सर्गुजा और दक्षिणी मिर्जापुरसे अब भी सौदा लादे हुए सैकड़ों बैल आते थे। मुझे उस वक्त परसामें सुनी शोभनायक (नयका) बंजारेकी गीतमय कहानी याद आती। ऐतिहासिक समाजका मानसचित्र संवार करना अब कुछ-कुछ मुझे आने लगा था। इस चित्रकी तैयारीमें अहरौराके दक्षिणसे आनेवाले ये लदनीके बैल सहायक हुए। जंगलोंमें आबनूस और खैरके हजारों दरख्त थे। खैरकी लकड़ीके रससे कत्था तो तैयार किया जाता था, किन्तु आबनूसका वहां कोई काम न होता था। अहरौरामें लकड़ीके बने तथा लाहके रंगसे रंगे सिंदूरदान, खिलौने आदि बहुत बनते थे। वह ज्यादातर साधारण गीली लकड़ीको खरादकर बनते थे, और सूखनेपर फट जाते थे। मैंने लकड़ीका एक कमंडलू बनवाया था, जो महीने भरके भीतर ही पानी छानने लायक हो गया।

दो-चार बार मैं पहाड़ोंमें कुछ भीतर तक पहुँचा, एक बार महाराजा बनारसकी शिकारगाहमें गया था। पक्की दीवारोंके भीतर सुरक्षित बैठकर, शतरेको जरा भी सम्भावनाके बिना शेरके शिकारमें क्या आनन्द आता होगा—यह मुझे समझमें नहीं आता था। इन शिकारगाहोंको देखकर मुझे जंगलके गोपालोंके गोष्ठ याद आते थे। एक बार हम अहरौराकी नहर जिस जलाशयको बेधकर निकाली गई है, उसे भी देखने गये थे।

धीरे-धीरे दिसम्बरका महीना बीत चला, जनवरीके साथ १९१७ सन् आने-वाला हुआ। अहरौरामें स्वामी वेदानन्दकी चिट्ठियां हर सप्ताह आती थी, वह सभी संस्कृतमें होती। मेरा भी उत्तर संस्कृतमें जाता। मुझे उनके सुन्दर अक्षरोको देखकर ईर्ष्या होती। दिसम्बरके अन्तमें साधुजी (भाई महेशप्रसाद) का एक पत्र मिला, जिसमें लिखा था कि महेशपुराके एक वैश्य आर्यसमाजी धर्म-प्रचारक तैयार करनेके लिए एक विद्यालय स्थापित करनेके वास्ते कुछ हजार रुपये देना चाहते हैं, तुम जाकर वहा काम शुरू करो। मै जिस विद्यालयका स्वप्न देखता था, वह महेशपुराके अल्प धनसे, और मेरे अपने अल्प ज्ञान-साधनसे स्थापित नही हो सकता था, किन्तु मै जानता था कि नई दुनियाकी ओर मेरी आख खोलने-वाले भाई साहेब ही थे, इसलिए उनके किसी निर्णयको मै सहसा टालनेकी हिम्मत नहीं रखता था। मै तैयार हो गया महेशपुरा जानेके लिए।

नये दोस्तोमे सौगात बाटनेके लिए मैने जगली बासकी दस-बारह लाठियां साथ ले ली थीं। मैने अपने प्रस्थानको बिलकुल गुप्त रखा था, क्योकि मै जानता था, कि यदि पिताजीको खबर लग गई, तो भारी विघ्न उपस्थित होगा। एक दिन मै चुपचाप एक्केपर बैठ अहरौरा-रोड स्टेशनके लिए भाग चला। स्टेशनपर पहुँचनेके बाद मालूम हुआ कि गाड़ीके आनेमें अभी देर है। मेरा हृदय शंकासे कांपने लगा—कही तब तक पिताजी न आ पहुँचे। दिल कहता था—यदि कहीं एक बार मै यहासे निकल पाता, फिर तो किसकी मजाल थी ढूढ निकालने की? मै कभी यागेशको दोष देता और कभी बनारसके गुजराती विद्यार्थी मित्रको।

जिसका डर था, आखिर वही बात हुई। अभी टिकट बँटने न पाया था, कि पिताजी प्लेटफार्मपर पहुँच गये। वह हाफ रहे थे। उन्होंने ९, १० मीलकी यात्रा बिना सास लिये दौड़ते या तेजीसे चलते तै की थी, नहीं तो इतनी जल्दी कैसे पहुँच सकते थे? मुझे कभी गुमान भी न था, कि मेरे मेजबानकी मा पिताजीके लिए अवैतनिक खुफियाका काम कर रही है। वह मुझे देखते ही फूट-फूटकर रोने तथा उलाहना देने लगे। प्लेटफार्मपर लोग जमा हो गये। वह चिल्ला रहे थे—क्यो मुझे मार रहे हो? मुझे भी अपने साथ ले चलो आदि। उनकी बातोमें पिछले सालकी अर्धविक्षिप्तताका भी हल्का-सा असर था, नही तो रोने और चिल्लानेमें अपनी स्वाभाविक गम्भीरताका परित्याग कर वह उतने अधीर और कातर न बनते। मने एक बार हिम्मत बाधकर कहा—आखिर, कब तक आप मुझे इस प्रकार बांधकर रखेंगे। किन्तु वहा सारी जनता मेरे खिलाफ़ थी; उसकी चलती तो पथरावकर मेरा काम वही तमाम कर देती। सब मुझे थू-थू करने लगे। मैंने महेश-पुराकी ओरकी यात्रा स्थगित की, और दो टिकट लेकर बनारसकी ओर रवाना हुआ। ट्रेनमें और उससे भी ज्यादा बनारस स्टेशनपर मैने ठंडे दिलसे उन्हें समझाना शुरू

किया—मैं आपके भावोंको, आपकी बेकरारीको समझता हूँ; किन्तु साथ ही मेरा जीवन भी किसी भविष्यकी लालसा रखता है, जिसकी जो अस्फुट झांकी मुझे मिल रही है, उसके कारण जबर्दस्तसे जबर्दस्त खतरे, मृत्युके साक्षात्-दर्शन तक भी अब मुझको अपने पथसे विचलित नहीं कर सकते। मैं कनैलाके अयोग्य हूँ, मैं आपके कामका नहीं रहा। यदि ऐसा ही करना था, तो मुझे गाय-भैंसकी चरवाहीमें लगा दिये होते मेरी दुनिया कनैलाकी सीमासे परिसीमित हो जाती। अब जोर देनेका भयंकर परिणाम होगा, आपको मेरे जीवनसे हाथ धोना होगा।

मैंने इन बातोंको धीरे-धीरे उन्हें बोलनेका मौका देते हुए कहा। इसका उनके दिलपर असर हुआ। अन्तिम उत्तर जिस तरह उनके मुखसे यकायक निकला, उसकी मुझे आशा नहीं हो सकती थी। उन्होंने कहा—अब मैं तुम्हारे रास्तेमें बाधक नहीं होऊँगा, किन्तु साथ ही मैं भी कनैला न जाकर यहीं बनारस ही में अपने जीवनको बिता दूंगा।

अपने वचनके पूर्वार्द्धको उन्होंने ठीकसे पालन किया। यही उनका अन्तिम दर्शन था।

मैंने प्रतिज्ञा की—अबसे पचास वर्षकी उम्र खतम होने तक फिर आजमगढ़ जिलेकी सीमाके भीतर भी कदम न रखूंगा।

६

मिश्नरी तैयार करनेका एक प्रयास

(१९१७ ई०)

बनारस-छावनी स्टेशनपर जिस वक्त टिकट लेने गया, उस वक्त छोटी लाइनके जंगलेपर टिकट लेनेवाले कुछ यात्रियोंको छपरापी बोली बोलते सुना। घरका पता पूछनेपर उन्होंने एकमा-मुड़ली बतलाया। मुझे परसा याद आ गया। किस तरह मैं वहां बड़े-बड़े अरमानोंको लेकर गया था। किस तरह परसाके निवास और उसके सम्बन्धने भारतके हर स्थानमें मेरे लिए भोजन और आवासकी निश्चिन्तता पैदा की। किस तरह सब दोषोंके रहते भी महन्तजी मुझे बहुत मानते थे, मुझे पाकर अपने भविष्यके लिए निश्चिन्त हो गये थे। अभी भी मेरा गाथी बरदगर—जो मेरे ही लिए वहां जाकर साधु बना—परसाके सम्बन्धको छोड़े नहीं होगा। इन विचारोंके आते ही थोड़ी देरके लिए अपने विचार सम्बन्धी जबर्दस्त परिवर्तनोंको मैं भूल गया, परसाकी ओरसे आती एक गुनगुनी रस्सी मेरे हृदयको बांधती-सी मालूम हुई, धीरे-धीरे उसका खिंचाव गाढ़ मालूम होने लगा। मैंने बी० एन्०

डब्ल्यू० आर० के जँगलेकी ओर बढ़ना चाहते थे, इसी वक्त हवाका रुख फिर बदला—महन्ती मुझसे नहीं हो सकेगी, जीवनकी धाराको उल्टी बहानेकी मुझमें शक्ति नहीं है। मैं अपनी जेबमें भाई साहेबके पत्रको अनुभव करने लगा। मेरी आँखोंके सामने मोटे-मोटे अक्षर नजरसे आने लगे—महेशपुरा जाकर काम सँभालना है, भगवती भाई पिछली सारी गर्मियोंसे घूम-घूमकर वहाँ प्रचार कर रहे हैं।

मैंने महेशपुरा जानेके लिए कोंचका टिकट खरीदा।

कानपुर, काल्पी, उरई, एटाके स्टेशनो भरको ही देखते में कोंच स्टेशनपर उतरा। भाई साहेबकी चिट्ठीमें पंडित कृष्ण गोपालजीका पता दिया हुआ था। कुँअर बहादुरसिंहने महेशपुराके स्वामी ब्रह्मानन्दजीका पत्र-द्वारा भाई साहेबसे परिचय कराया था। एक तरफ इस तरहकी संस्थाको अस्तित्वमें लानेके लिए कुछ शिक्षित तरुण बेकरार थे, दूसरी तरफ ऐसे कामके लिए कुछ रुपये मौजूद थे, फिर दोनोंका गठबन्धन हो जाना कोई मुश्किल बात नहीं थी। स्वामी ब्रह्मानन्दजी, और उनके पुत्र श्री पन्नालालजीने मेरे आनेकी खबर पंडित कृष्णगोपालको दे रखी थी, इसलिए कोंचमें ठहरनेके लिए इधर-उधर भटकनेकी जरूरत नहीं पडी।

कोंचसे महेशपुराके पास तक कच्ची सड़क गई है। मैं पैदल ही आदमीके ऊपर सामान लादे महेशपुराकी ओर चल पड़ा। जनवरी (१९१७ ई०)के महीनेमें ज्वार-बाजरेके फले हुए बडे-बड़े पौधे खेतोंमें खड़े थे। नई फसल बोई जा चुकी थी। महेशपुराके पास पहुँचनेपर हाथों कटी जमीनकी स्वाभाविक खन्दकोंसे होकर उतरना चढ़ना पड़ा। मकानोंकी खपड़ैल चौडी थी, उनकी दीवारें कच्ची, तथा दरवाजे साफ लिपे-पुते थे। स्त्रियोंके पैरके चौन्हेदार कड़े, मोटी मजबूत बँधी साड़ियां और ठोस शरीर देखकर मुझे वजरेके संस्कृत प्रतिशब्द वज्रासका अर्थ याद आ रहा था।

रामदीन पहाड़िया (स्वामी ब्रह्मानन्दका गृहस्थाश्रमी नाम)के घरका पता लगाना, अपनी प्रसिद्धिके कारण शहरमें भी मुश्किल न होता, फिर यहां तो गांव था। स्वामी ब्रह्मानन्दजी, उनके ज्येष्ठ पुत्र पन्नालाल, और शायद कनिष्ठ पुत्र श्यामलाल भी घर ही पर मिले। जनाना मकानमे फ़र्क एक साफ़-सुथरी हवेली थी, जिसका अगला भाग पक्का था। दरवाजेपर भीतरसे बन्दूकका निशाना लगानेकेलिए सूराख बने हुए थे, जिन्हें मैंने रास्तेके भी कुछ घरोंमें देखा था, किन्तु यह नहीं सुन पाया था, कि अब भी इस इलाकेमें कभी-कभी सशस्त्र डाकू आ पहुँचते हैं, और उस वक्त गृहपति पुलिसके ऊपर अपनी रक्षाका भार सौंपकर चुप नहीं रह सकता। महेशपुरा ग्वालियर रियासतकी बिलकुल सीमापर था, गांवसे थोड़ी दूर पच्छिम जिस नदीमें हम रोज नहाने जाया करते थे, उसका एक तट ग्वालियर रियासतमें था। जहां एक किनारेपर बन्दूक रखनेसे सालभरकी गोलघरकी हवाखोरी मुफ्त

धरी थी, वहां दूसरी ओर टोपीदार बन्दूक और लाठी एक श्रेणीमें समझी जाती थी। महेशपुरासे थोड़ी दूरपर नदी-गांव था, जो दतिया रियासतमें था और दक्षिणका एक गांव था समथरकी रियासतमें।

हम लोगोंके राजनीतिक विचार भी थे। देशकी स्वतन्त्रताके लिए शस्त्रका प्रयोग करने तथा उसके लिए फांसीके तख्तेपर लटक जानेवाले वीरोंके हम प्रबल प्रशंसक थे, तो भी हमने किसी ऐसी मंशासे महेशपुराको पसन्द नहीं किया था। हमने जान-बूझकर महेशपुराके एक धनिक वैश्यको स्वार्थत्यागके लिए तैयार नहीं किया था। श्रीरामदीन पहाड़िया अपने पिताकी एकमात्र सन्तान, मामूली बही-खाता लिखना-पढ़ना जाननेवाले एक ग्रामीण महाजन थे। स्वामी दयानंदके सुधारों और धर्म-प्रचारकी गूंज युक्तप्रान्त और पंजाबके बहुतसे हिस्सोंमें पहुँची थी। विचारोंके पर बहुत तेज होते हैं, और किसी तरह वह महेशपुराके तरुण वैश्य रामदीनके पास भी पहुँचे। उनके पास बापका कमाया कुछ धन था। कुछ कपड़ेका रोजगार था, और कुछ गिरवी रखने तथा सूदपर रुपया देनेका कारबार होता था। वे आर्यसमाजकी किताबोंको पढ़ने लगे, उसकी ओरसे एकाध जहां-तहां निकलनेवाले अखबारोंको मँगाने लगे। आर्यसमाजमें उन्हें रोशनी दिखलाई देने लगी। मूर्तिपूजा, श्राद्ध, पुराणोंकी गप्पोंसे उनकी श्रद्धा उठ गई। किन्तु सिर्फ अभावात्मक कर्म-धर्मपर वह सन्तोष करनेवाले न थे। उन्होंने बाकायदा सन्ध्या शुरू की, हवन भी उसमें शामिल किया; फिर अपनी पत्नीको अक्षर-परिचय करा अपनी यथार्थ सहधर्मिणी बनाया। यही नहीं लोकाचारकी पर्वाह न कर स्त्रीको भी जनेऊ पहनवाया। इन बाह्य आचारोंको आर्यसमाज प्रधानता नहीं देता था, उसका जोर मानसिक आचारोंपर भी था। झूठ बोलनेसे बढ़कर पाप नहीं, सचसे बढ़कर धर्म नहीं—इसे वह बहुत पढ़ चुके थे। उन्होंने उसकी पाबन्दीका निश्चय किया। व्यापारीके लिए यह बड़ी मुश्किल बात थी, किन्तु रामदीनजी अटल रहे। गाहक कपड़ेका दाम पूछते। जवाब मिलता—'ग्यारह पैसा गज।'

'कुछ कम कीजिये भैयाजी!'

'एक दाम।'

'अरे ऐसी क्या?'

'नहीं एक दाम बोलते हैं।'

शुरूमें कुछ कठिनाई तो हुई किन्तु पीछे लोगोंने देखा, कि रामदीनकी दूकानमें चीजें कौड़ी भावसे भी सस्ती मिलती हैं, और मोल-तोलमें ठगे जानेका डर नहीं। परिणाम यह हुआ, कि महेशपुराकी दूकान खूब चल निकली। सूद और व्यापारका पैसा पापकी कमाई है, यह तो रामदीनजीको मालूम नहीं था, इसलिए उनकी धर्मबुद्धि धर्मकी कमाईसे ही हुई कहना चाहिये।

रामदीनजीके दो लड़के, तीन या चार लड़कियां हुई। लड़कियोंकी शिक्षाके बारेमें आर्यसमाज जोर तो देता था, लेकिन महेशपुरा जैसे गांवमें इसका इन्तजाम करना मुश्किल था। पुत्रोंकी शिक्षा—विशेषकर संस्कृत शिक्षा—की ओर उनका ध्यान गया। उन्होंने फर्रूखाबादके एक पंडितको अपने यहां बुलाकर रखा। गांवसे बाहर अपने बागमें आश्रम बनवा वहीं लड़कोंकी पढ़ाई शुरू कराई। बड़े लड़के श्री पन्नालालकी संस्कृतमें अच्छी गति हुई, और यदि पढ़ाई कुछ दिन और वैसे ही चलती, तो वह अपनी प्रतिभा और अध्यवसायसे अच्छे पंडित होते। छोटेने पढ़ाई पीछे शुरू की, और उसमें बड़े भाई जैसी प्रतिभा भी नहीं थी।

लड़कोंकी पढ़ाई समाप्त करा उन्हें ब्याहा जा चुका था, एकको छोड़ बाकी कन्याओं का भी ब्याह हो गया था। घरका काम-काज लड़कोंने सँभाल लिया था, तब रामदीन पहाड़ियाको खयाल आया—'गृह कारज नाना जंजाला'को छोड़कर सन्यास ग्रहण किया जाये, और उन्होंने सन्यासी हो स्वामी ब्रह्मानन्द नाम धारण किया। स्वामी ब्रह्मानन्दको घरसे बाहर घूमनेका मौका नहीं मिला था। किसीके सामने उन्होंने हाथ पसारा नहीं था, इसलिए सन्यासी होनेपर भी वह भोजन-वस्त्रके लिए अपने परिवारके ही परतन्त्र रहना चाहते थे। उनकी ही प्रेरणासे लड़कोंने चार हजार रुपये विद्यालयके लिए देने स्वीकार किये थे—रुपये एक मुश्त न दे उसके सूदके तौरपर प्रति मास चालीस-पैंतालीस रुपया देना तै हुआ था।

इतने रुपयेसे विद्यालयका काम नहीं चल सकता, इसलिए महेशपुरा पहुँचने पर मेरी और स्वामी ब्रह्मानन्दजीकी सलाह हुई, कि विद्यालयके लिए एक-डेढ़ महीने घूमकर चन्देका वचन लिया जावे। अयोध्याके तजर्बेके अनुसार मैं समझता था, काफी पैसोंका वचन मिल जाने ही पर हमें विद्यालय खोलनेका साहस करना चाहिए।

महेशपुरासे रावसाहबके बगरा, जालौन, आदि घूमते हम पैदल ही महेशपुरा लौट आये। स्वामी ब्रह्मानन्दजी अपनी धार्मिक प्रवृत्तिके लिए काफ़ी ख्याति प्राप्त कर चुके थे, जगह-जगह उनके जान-पहिचानके लोग भी थे, इसलिए चन्देका वचन हर जगह हमें आसानीसे मिलता गया। हम दिनमें तीन या चार गांवमें जाते। विद्यालय किस तरह धर्म, विद्याप्रसार, और देशोन्नतिके लिए प्रयत्नशील होगा, इसे हम समझाते, इसके बाद चन्दा लिखवानेके लिए अपील करते। लोग नकद या अनाजकी तौलमें चन्दा लिखाते। स्वामीजी अपनी बुंदेलखंडी भाषामें बोलते, और भाषण प्रभावशाली रहता। चन्देकी सूचीपर जिस तरह गांवके पीछे गांव, और नामके पीछे नाम दर्ज होते जा रहे थे, उन्हें देखकर हमें बड़ी प्रसन्नता हुई—कमसे कम खाने-कपड़ेके लिए तो हम अब निश्चिन्त रहेंगे।

मेरे आनेसे पहिले भगवती भाई यहां पहुँचे थे, और उन्होंने जिन्दे तथा ग्वालियर

रियासतके बहुतसे गांवोंमें घूमकर खूब प्रचार किया था। मेरी तरह वह परिवारके बोझसे मुक्त न थे, इसलिए अब वह रह नहीं सकते थे, और विद्यार्थियोंके साथ एक और अध्यापककी भी जरूरत थी। पत्रोंमें विज्ञापन देनेपर पानीपतके मुकुन्दलाल, अजमेरके रामसहाय, मथुराके यशवन्त, एक संन्यासी, तथा पुराने परिचितोंमें महादेवप्रसादजी, यागेश, माणिक महेशपुरा पहुँच गये। गर्मियोंसे पहिले ही महेशपुरामें वैदिक-विद्यालय आरम्भ हो गया। पढ़ाई बैठकमें होती, और भोजन बनाने-खानेका इन्तजाम था श्री पन्नालालजीकी गोशालामें। किसीको वेतन देना नहीं था, सिर्फ आठ-दस आदमियोंके खाने-कपड़ेका इन्तजाम करना था। फसल कटनेपर जब हमने चन्दा वसूल करना चाहा, तो पता लग गया कि सूचीपर नाम लिखनेसे चन्देकी रकमका वसूल करना कितना मुश्किल है। वचन देनेवाले लोगोंमेंसे बहुत कमने चन्दे दिये, और वसूलीमें जो समय लगता था, उससे वसूल हुए चन्देकी मात्राको देखनेपर हर चन्दादाताके यहां जानेका ख्याल ही हमने छोड़ दिया। चैत-बैशाखमें महेशपुराके ही आसपास हम लोगोंने कुछ घूम दिया, खानेके लिए काफी अनाज मिल गया।

यहां भी पढ़ाई करीब-करीब मुसाफिर विद्यालय जैसी थी। अरबी, संस्कृत मुख्य तौरसे पढ़ाई जाती थीं। व्याख्यान और शास्त्रार्थ होते। तीन-चार हिन्दी-उर्दूके आर्यसमाजी पत्र आते, 'प्रताप' तो उस वक्तके राष्ट्रीय विचारवाले तरुणोंके लिए अनिवार्य चीज थी। रामसहायजी पहिले आनेवाले विद्यार्थियोंमें थे। उनको संस्कृत पढ़नेकी बहुत इच्छा थी, किन्तु दो-तीन बार प्रयत्न करनेके बाद वह हताश हो चुके थे। लखनऊमें उन्होंने मुझसे अपनी चिन्ता बतलाई थी, मैंने उन्हें प्रोत्साहन देते हुए कहा था, यदि कहीं एक जगह मुझे रहनेका मौका मिला तो सिखाऊंगा। रामसहायजी बच्चे नहीं थे। बचपनमें रमजा बादशाहके नामसे अजमेरका वह मुहल्ला कांपता था, जिसमें वह रहते थे। मुहल्लेकी सारी बालसेना रमजा बादशाहकी अवैतनिक सेवाके लिए तैयार थी। उस वक्त भी कोई अत्याचार भय दिखलाकर रमजा बादशाहको नहीं पस्त करता था। खैर, मैंने उन्हें स्वाभाविक ढंगसे संस्कृत पढ़ाना शुरू किया। कथामें आये हुए सजीव शब्दोंसे परिचय कराया। इसमें पंडित सातवलेकरका 'संस्कृत स्वयंशिक्षक' बड़ा सहायक साबित हुआ। रामसहायजीका आत्मविश्वास बढ़ चला, किन्तु उन्हें पूरा सन्तोष तब हुआ, जब ग्वालियर जिलेके एक गांवमें उन्होंने पाणिनीय व्याकरण (सिद्धान्त कौमुदी) पढ़नेवाले एक पंडितको संस्कृत बोलनेमें परास्त कर दिया।

यह महायुद्धका जमाना था। चीजोंका भाव बहुत चढ़ गया था, तो भी लोगोंको विश्वास नहीं था, कि ब्रिटिश साम्राज्यको कोई भारी क्षति होगी या उससे इस भारतके भाग्यमें पल्टा खानेकी बातको तो कोई सोचता ही नहीं था। राजनीतिक

चेतना शिक्षितोंमेंसे भी बहुत कममें थी। सौ वर्षसे अधिक हो गया, अंग्रेजी शासन अपने हर एक विरोधको दबाते हुए जिस तरह दृढ़ होता गया, उससे स्वतन्त्रताका स्वप्न देखना लोगोंके लिए असम्भव मालूम होता था। महेशपुरा रहते वक्त 'प्रताप' से राष्ट्रीय प्रगतिका कुछ-कुछ अनुभव होने लगा। रूसकी फ़रवरीकी क्रान्तिकी बहुत क्षीण खबरें भारतमें पहुँची। वस्तुतः हमें खबरें भी तो उतनी ही मिलने पाती थीं, जिनके आनेकी हमारे अंग्रेज-प्रभु इजाजत देते थे। अंग्रेज हार रहे हैं—हमारी यह धारणा समाचारोंके आधारपर उतनी नहीं थी, जितनी कि मनोकामनापर।

१९१७ ई० में कोंचके मन्नू महाराजके डाकू गिरोहका आसपासके इलाकेपर भारी आतक था। वह कई जगह खबर देकर डाका मारने जाता था। कोई गिरोह और उसके सरदारकी बहादुरी और गरीबपरवरीकी तारीफ़ करते थे, कोई उन्हें अत्याचारी बतलाते थे। जाड़ोमें कितने ही दिनों तक तो महेशपुरामें बहुत आतंक छा गया था, यद्यपि महेशपुरा उतना निहत्था न था। रियासतकी सरहदपर रहनेके कारण गैरकानूनी टोपीदार बन्दूकें वहां दर्जनों थीं, किन्तु चुरा-छिपाकर रखी दर्जनों बन्दूकोंको जमाकर मरने-मारनेके लिए तैयार होकर आये डाकुओंका मुकाबिला करना आसान काम न था। खैर, महेशपुरामें डाका पड़नेकी नौबत नही आई।

गांवके एक ठाकुरके लड़केका व्याह ग्वालियर रियासतके एक गांवमें होनेवाला था। बारातमें ऊँट और बहलीकी सवारी थी। मैं एक सांडनी (ऊँटनी) पर चढ कर गया था। बारात बागमें ठहरी थी, नाच नही था, नहीं तो मैं न गया होता। बारातियोंके पास काफ़ी बन्दूकें थी। व्याह दिनमें हो रहा था, जो मेरे लिए नई-सी बात थी। लड़कीकी बात नही कह सकता, लड़का ९, १० वर्षसे ज्यादाका न था, और दोपहरके वक्त, जिस वक्त कि व्याहमन्त्र पढ़े जा रहे थे, नींदसे उसकी आंखें झेंपी जाती थी। दोपहर बाद बारात खानेके लिए चली तो गांवके घराराती लड़कोंने रास्तेके एक महुवेके दरख्तपर, बडे बीहड़ स्थानोंमें मिट्टीकी कुल्हिया, लालमिर्चें और क्या-क्या चीजें टाग रखी थीं। बिना इन लक्ष्योंको बेधे खाने जाना बरातियोंके लिए शरमकी बात थी। लोगोंने अपनी-अपनी बन्दूकें उठाई, और निशाना दागना शुरू किया। और सब तो गिर गये, किन्तु एक कुल्हिया दरख्तके शिखरपर ऐसी जगह टँगी हुई थी, कि किसीका निशाना ही नहीं लग रहा था। भोजनके लिए पंगत बैठनेमें देर हो रहीं थी। शाम आती देख बरातियोंने बेईमानीसे लक्ष्यवेध करना चाहा, और एक आदमी अपनी बन्दूककी नलीमें गोलीकी जगह रस्सी भरने लगा था। मैं सब देख रहा था, मैंने कहा—जरासा बन्दूक मुझे तो दो। एक भरी हुई बन्दूक मेरे हाथमें थमाई गई, और लोग पंडित-

जीको ढिठाई देखनेको खड़े हो गये । मैंने निशाना लिया, बन्दूककी मक्खी, कोयेर कुल्हियाकी सीधमें मिलाया, और घोड़ा दाब दिया । धड़ाकेकी आवाज हुई, औ कुल्हिया चकनाचूर । यदि किसी राजकन्याका स्वयंवर होता, तो जयमाल मेरे गलेमें पड़ती । खैर, लोगोंकी वाह-वाहसे जयमाला पड़नेसे कम खुशी मु नहीं हुई, चाहे वह बात संयोगसे भी हुई हो, किन्तु निशाना मेरा वैसे अच्छा लगत था । आसपास बन्दूकोंकी इफरात देखकर निशाना लगानेका मुझे शौक लग गया था यदि किसी खुफिया पुलिसवालेको पता लगा होता, तो मुझे बम्ब-पार्टीका आदमी समझता । इसी बारातकी एक और घटना है । एक साँड़नीका एक छोटा-स बच्चा था । कुछ शरारती लड़के थे, वे उस बच्चे तथा उसकी माँ—जिसका भी कद छोटा था—की पीठपर चढ़ा करते, और वे मा-बेटे बैठने नहीं पाते । पासमें एक बड़ी ऊँटनी थी, जिसपर मैं चढ़कर आया था । वह बड़ी शैतान ऊँटनी थी । वह पास बँधी हुई थी, और लड़कोंकी गुस्ताखीसे मन ही मन कुढ़ रही थी । घुमाते-घुमाते एक बार उसने अपनी नकेल छुड़ा पाई, फिर एक शैतान लड़केके पीछे लपकी । बागके दरख्तोंमें चक्कर काटता आगे-आगे वह बारह-तेरह वर्षका लड़का दौड़ रहा था, और पीछे-पीछे ऊँटनी । बाराती अधिकांश खाना खाने गये थे । मेरी और दूसरे जो चन्द आदमी थे, उनकी अकल काम नहीं करती थी । यदि दरख्त न होते तो ऊँटनीने कब न लड़केको पकड़ लिया होता, किन्तु लड़का दरख्तोंमें फुर्तीसे घूम पड़ता, ऊँटनीको वैसा करनेमें देर लगती । लड़का बदहवास था, और किसी वक्त भी गिर जानेवाला था, इसी समय हमारे पास खड़े एक लड़केने ईंटका टुकड़ा साधकर मारा । ऊँटनी रुक गई, देखा उसकी एक आँखसे खूनकी धार बह रही है ।

अपनी ऊँटनीको कानी देखकर मालिक लड़केपर बहुत नाराज होने लगा । मैंने समझाया—आज यह एक आँख न जाती, तो उस लड़केका प्राण जाना निश्चित था । बेचारे शान्त हुए । ऊँटनीका क्रोध देखनेका मुझे बड़ा मौका मिला था ।

महेशपुरा अच्छा खासा बड़ा गाँव है । जमींदार ठाकुर (राजपूत) लोग हैं, और मारपीट तथा राजपूती शान भी कुछ रखते हैं । उनमेंसे किसी-किसीका पन्नालालजीके घरसे कुछ वैमनस्य भी कभी रहता, किन्तु हम लोग सबसे अपना सम्बन्ध अच्छा रखना चाहते थे, और उसमें काफी सफलता भी मिली थी । गाँवके आसपास अब बड़े जंगल नहीं थे, किन्तु बुन्देलखण्डकी और नदियोंकी भाँति महेश-पुराके पासकी नदी भी बहुत नीचे बहती थी, जिससे आसपासकी बड़ी जमीन नदियोंसे कटते-कटते बड़े-बड़े कगारों और खड्डोंके रूपमें परिणत हो गई थी; जिनमें भेड़िये, लकड़बग्घे रहा करते थे । मैं अक्सर सामको नदीतक शौच आदिके लिए जाता, लौटते हुए किसी मिट्टीकी पहाड़ीके शिखरपर बैठकर सन्ध्या करता,

चांदनीमें खासकर अधिक देर लगती। इस प्रकार मैं अपनी वाचनिक आस्तिकता-को वास्तविक रूप देनेके प्रयत्नमें था। आर्यसमाजके गर्म-पक्षका समर्थक होनेसे अक्सर मैं जाति-पांतकी कड़ी आलोचना करते हुए स्वामी ब्रह्मानन्द आदिको भी लताड़ देता। वे कह देते—यदि आपको लड़की-लड़के ब्याहने होते, तब न मालूम होता।

बरसातके दिनोंमें महेशपुरासे बहुत कम लोग कोंच आते-जाते हैं। काली-मिट्टी पानी पड़ते ही जोरसे सट जानेवाली लेईकी गहरी तहके रूपमें परिणत हो जाती, और फिर उसमें जूता भी पहिनकर चलना असम्भव होता। कीचड़की मोटी तहमें लिपटे पहियोंवाली गाड़ीको बैल खींच न सकते थे। सांडनी तो बरसात-में सिर्फ़ रेगिस्तान ही में चल सकती है, इसलिए पन्नालालजीकी सांडनी भी बेकार थी। बरसातके चार महीनोंमें कैलियासे हमें अपनी डाक मिल जाया करती थी। कैलियाके दारोगा उस वक्त भूत-प्रेत झाड़नेमें बड़ी ख्याति प्राप्त कर रहे थे। जुमाके दिन (?) वहां मेला-सा लगने लगा था। दारोगा साहेबको पुलिसके कामके लिए फ़ुर्सत कहां थी? ऊपरवाले अफ़सरोंको मालूम हुआ, तो उन्होंने उन्हें लाईन हाजिर करा लिया। दारोगाजीकी दुआसे फ़ायदा उठानेवाले स्त्री-पुरुषोंको बहुत असन्तोष हुआ, किन्तु सरकार उनकी कब सुननेवाली थी?

महेशपुरामें रहते ही वक्त अखबारोंसे रूसी-क्रान्तिकी खबरोंने मेरे ऊपर एक नया प्रभाव जमाना शुरू किया। इन खबरोंसे मालूम होता था, कि वहां गरीबों—मजदूरों, किसानों—की भी एक पार्टी है, जो गरीबोंके हकके लिए लड़ रही है, वह भोग और श्रमके समान विभाजनका प्रचार करती है। मुझे ये खयाल अखबारोंके बहुतसे अंकोंको पढ़ते हुए सिर्फ़ बीज रूपमें मालूम हुए। मैंने उस वक्त तक हिन्दी या उर्दूमें साम्यवादपर कोई पुस्तक पढ़ी न थी, शायद वह मौजूद भी न थी। किसी जानकारसे इस बारेमें वार्तालाप भी नहीं किया था, तो भी भोग-श्रम-साम्यका सिद्धान्त बहुत जल्दीसे मेरे स्वभावका एक अंग बन गया। मालूम होता है—कोई आदमी अनजान किसी ऐसी चीजकी खोजमें हो जिसकी आकृति और नामको भी वह भूल गया हो, और वह चीज एक दिन अकस्मात् उसे मिल जावे। मैंने उस बीजको अपने आप सोचकर विकसित किया। आसपासके लोगोंको मैं उसके गुणोंको समझाता, और साथ ही आर्य-सामाजिक सिद्धान्तों तथा साम्यवादमें सम-न्वय करनेकी कोशिश करता।

स्वामी बोधानन्दने मुझे पाली त्रिपिटकके बारेमें अनागरिक धर्मपालका पता दिया था। उनको लिखनेपर उन्होंने बर्मी, सिंहली, स्यामी अक्षरोंमें छपे त्रिपिटक-ग्रंथोंके प्राप्तिस्थान लिखे, जिनमेंसे सिंहल और बर्मी लिपिमें छपे कुछ पालि ग्रंथ मैंने मँगा भी लिये। महाबोधि-सोसाइटीसे डाक्टर सतीशचन्द्र विद्याभूषणका

अंग्रेजी-अनुवाद-सहित नागरी अक्षरोंमें छपा 'कच्चान' व्याकरण मैंने मँगाया जिससे सिंहली, स्यामी, बर्मी लिपियाँ सीखना आसान हो गया। यहाँ पढ़ानेवाला तो कोई था नहीं, किन्तु फुरसतके वक्त मैं स्वयं कुछ पन्नोंको पढ़ता।

बरसात (१९१७) के अन्त होते-होते यह पता लग गया, कि यदि विद्यालयको चलाना है, तो उसे गाँवसे हटाकर रेलके किनारे किसी बड़े स्थानपर ले जाना चाहिए। मैं अभी तक इस बातपर जोर नहीं देता था, क्योंकि इससे पन्नालालजी आदिको कष्ट होता। लेकिन धीरे-धीरे यह बात उन्हें भी स्पष्ट होने लगी, खासकर स्वामी ब्रह्मानन्दजीको। एक बार शायद भगवतीप्रसाद या किसी औरके साथ वह काल्पी गये, वहाँसे लौटनेपर उन्होंने कहा—विद्यालयके लिए उपयुक्त स्थान, बस, काल्पी ही है।

बरसातके बाद बचे-खुचे अनाजको हमने गदहोंपर लादा, और काल्पीके लिए रवाना हुए। महेदापुरावालोंको और हमें भी एक दूसरेसे अलग होनेका रंज हुआ, किन्तु यदि वियोग न हो तो नये स्नेहसूत्र भी तो पैदा नहीं हो सकते।

रेलसे हम काल्पी पहुँचे। हमारे साथी पहिले ही आकर वहाँकी ठाकुरानीकी एक लम्बी-चौड़ी हवेली—नीचे-ऊपरके मकान तथा अलग बैठकेके साथ किराया कर लिया था। मकान काफी हवादार, पक्का, साफ-सुथरा था। हम लोग रोज सवेरे यमुनाजी स्नान करने जाते, शामको दो-ढाई मील टहलने—कभी रेलकी सड़कके साथ पुल पार तक, कभी काल्पीके बाजारकी ओर। काल्पीमें एक पुराना आर्यसमाज था, जिसका अपना मन्दिर था, और उसके कुछ उत्साही सदस्य थे। पंडित शिवचरणलाल 'आर्यपुरोहित' बहुत पुराने आर्यसमाजी थे, और हम लोगोंकी तरह सामाजिक सुधारमें उग्रवादी न होते हुए भी आर्यसमाजके प्रबल पक्षपाती थे। वह सारस्वत ब्राह्मण थे, इसलिए सभी यजमानोंके बिना काल्पीमें उनका खाना हो ही नहीं सकता था।

काल्पी आनेके पहिले महेदापुरमें जमा हुई जमाअतमेंसे भगवती भाई अब घर आ रहे थे। यागेश अपने साथ मेरे सबसे छोटे भाई श्रीनाथको भी लेते आये थे। मैंने सोचा था, अभी उसकी पढ़नेकी उमर है, इसलिए कुछ पढ़ जाये तो अच्छा; किन्तु उसका मन पढ़ाईमें लग नहीं रहा था; दूसरे मैं विद्यालयपर उन्हीं लोगोंका भार देनेके लिए तैयार था, जो मिशनरी भावके लिए तैयार होनेवाले थे; श्रीनाथकी सिर्फ इतनी ही योग्यता थी, कि वह मेरा भाई था। उसे भगवती भाईके साथ सिकन्दराबाद भेजते हुए मैंने रास्तेके खर्चके लिए उसके हाथके चाँदीके कड़े बेंचवा दिये, जिसपर मेरे कुछ साथियोंने टिप्पणी भी की—'छोटे लड़केके हाथका जेवर नहीं बेंचवाना चाहिए था।' किन्तु मैं कोई वेतन तो पाता नहीं था, फिर किस पैसे उसे राह-खर्च देता। श्रीनाथ सिकन्दराबाद भी नहीं रहा, और वहाँसे-

लिखने, खाने-पीनेका ठीक प्रबन्ध हो जानेपर भी झूठी तकलीफ़ोंको लिखकर उसने श्यामलालको बुलवाया और घर लौट गया।

काल्पीमें बाजारके दिन हम लोग धर्मप्रचार करने जाते। मुकुन्दलाल और यशवन्तके हारमोनियमपर भजन होते, तथा हम लोगोंमेंसे कितनोके व्याख्यान—व्याख्यान आर्यसमाजी ढगके, जिसमें बीच-बीचमें राष्ट्रीयताकी पुट भी रहती। स्वामी ब्रह्मानन्दजी कभी बाहर घूमने जाते, नहीं तो वहीं रहते। १९१७ के आखिरी महीनोंमें होमरूलका आन्दोलन जोर पकड़ने लगा था। एनी बेसंट, और आरुंडलकी नजरबन्दीसे सनसनी फैली हुई थी, और लोकमान्य तिलककी मुक्तिमें गर्मदली अंश मुल्कमें जोर पकड़ रहा था। होमरूल आन्दोलनको जनतामें फैलानेके लिए पंडित वेंकटेशनारायण तिवारीके सम्पादकत्वमें कितनी ही छोटी-छोटी पुस्तिकायें निकली थी, जिनमें जालौन जिलेके एक राष्ट्रीय कर्मीका आल्हा भी था। 'भारत-भारती' पहिले हीसे हिन्दी भाषी जनतामें प्रिय हो रही थी, किन्तु अब उसने राष्ट्रीय संगीत-पुस्तकका रूप धारण कर लिया था। मेरे कोंचके एक ब्राह्मण मित्रने तो अपने बच्चों तकको उसके बहुतसे अंश कंठस्थ करा दिये थे। 'प्रताप' को मैं उसके आरंभिक समयसे ही पढ़ने लगा था, किन्तु पहिले-पहिल काल्पीमें ही वहांकी एक धर्मशालामें मैंने श्रीगणेशशंकर विद्यार्थीका व्याख्यान सुना। उनके निर्मांसल मुखपर चश्मे लगी आंखें असाधारण तौरसे चमकीली मालूम होती थी।

जाड़ेमें कुछ समय बीतनेपर मालूम हुआ, पोखरायां (कानपुर-जिले) में प्लेग जोर पकड़े हुए है, लोग बहुत मर रहे हैं। आरम्भिक युगके आर्यसमाजियोंमें निर्भय हो बीमारों, अनाथों, गरीबोंकी सेवा करनेवाले वीरोंकी कितनी ही कहानियां मुझे सुननेको मिली थी। पंडित रलाराम बेजवाडिया—रेलवेके साधारण पैटमेन—अपनी ऐसी ही सेवाओसे आर्यसमाजके एक श्रद्धेय पुरुष बन गये थे। अपनी सात-आठ रुपयेकी तनख्वाहमेंसे भी बचाकर वह कुछ पुस्तकें बांटते, कुछ दवाइयां ले प्लेगके दिनोंमें—और उस समय सारे उत्तरीय भारतमें प्लेगका भारी प्रकोप था—रोगियोंकी सेवा करते। एक जैन-परिवारके बारेमें कहा जाता है, वह आर्यसमाजियोंसे बहुत चिढ़ता था। एक बार उसके घरके सभी लोग बीमार पड़ गये, कुछ मर गये, बाकीको पानी तक देनेवाला कोई न था। पंडित रलाराम वहां पहुँचे। एक-दो दिन वे लोग पतित समझकर उनके हाथकी दवा नहीं पीते। घरके तरुण लड़केकी गिल्टी पक गई थी। उस वक्त डाक्टर कहां मिलते। पंडित रलारामने चीरनेके लिए अपना चाकू निकाला, किन्तु उसमें मोर्चा लगा था। उन्होंने गिल्टीमें मुंह लगाकर पीबको चूसकर फेंक दिया। घरवालोंपर असाधारण प्रभाव पड़ा, और तबसे वह पंडित रलारामको देवता-सा मानने लगे। राजपूतानेके अकालमें सेवा करते, बांटनेके लिए झोलेमें डाल चनेके बोझसे कैसे एक बार

अंग्रेजी-अनुवाद-सहित नागरी अक्षरोंमें छपा 'कच्चान' व्याकरण मैंने मँगा जिससे सिंहली, स्यामी, बर्मी लिपियां सीखना आसान हो गया । वहां पढ़ानेवा तो कोई था नहीं, किन्तु फ़ुरसतके वक्त में स्वयं कुछ पन्नोंको पढ़ता ।

बरसात (१९१७) के अन्त होते-होते यह पता लग गया, कि यदि विद्यालय चलाना है, तो उसे गांवसे हटाकर रेलके किनारे किसी बड़े स्थानपर ले जान चाहिए । मैं अभी तक इस बातपर जोर नहीं देता था, क्योंकि इससे पन्नालाल आदिको कष्ट होता । लेकिन धीरे-धीरे यह बात उन्हें भी स्पष्ट होने लगी, खासक स्वामी ब्रह्मानन्दजीको । एक बार शायद भगवतीप्रसाद या किसी औरके सा वह काल्पी गये, वहांसे लौटनेपर उन्होंने कहा—विद्यालयके लिए उपयुक्त स्था बस, काल्पी ही है ।

बरसातके बाद बचे-खुचे अनाजको हमने गदहोंपर लादा, और कोंचके लि रवाना हुए । महेशपुरावालोंको और हमें भी एक दूसरेसे अलग होनेका रंज हु किन्तु यदि वियोग न हो तो नये स्नेहसूत्र भी तो पैदा नहीं हो सकते ।

रेलसे हम काल्पी पहुँचे । हमारे साथी पहिले ही आकर वहांकी ठाकुरानीके एक लम्बी-चौड़ी हवेली—नीचे-ऊपरके मकान तथा अलग बैठकेके साथ किराय कर लिया था । मकान काफी हवादार, पक्का, साफ-सुथरा था । हम लोग रोज सवेरे यमुनाजी स्नान करने जाते, शामको दो-ढाई मील टहलते—कभी रेलकी सड़कके साथ पुल पार तक, कभी काल्पीके वीरानेकी ओर । काल्पीमें एक पुराना आर्यसमाज था, जिसका अपना मन्दिर था, और उसके कुछ उत्साही सदस्य थे । पंडित शिवचरणलाल 'आर्यपुरोहित' बहुत पुराने आर्यसमाजी थे, और हम लोगोंकी तरह सामाजिक सुधारमें उग्रतावादी न होते हुए भी आर्यसमाजके प्रबल पक्षपाती थे । वह सारस्वत ब्राह्मण थे, इसलिए खत्री यजमानोंके बिना काल्पीमें उनका आना हो ही नहीं सकता था ।

काल्पी आनेके पहिले महेशपुरामें जमा हुई जमाअतमेंसे भगवती भाई अब घर जा रहे थे । यारोंसे अपने साथ मेरे सबसे छोटे भाई श्रीनाथको भी लेते आये थे । मैंने सोचा था, अभी उसकी पढ़नेकी उम्र है, इसलिए कुछ पढ़ जाये तो अच्छा; किन्तु उसका मन पढ़ाईमें लग नहीं रहा था; दूसरे मैं विद्यालयपर उन्हीं लोगोंका भार देनेके लिए तैयार था, जो मिश्नरी कामके लिए तैयार होनेवाले थे; श्रीनाथकी सिर्फ इतनी ही योग्यता थी, कि वह मेरा भाई था । उसे भगवती भाईके साथ सिकन्दराबाद भेजते हुए मैंने रास्तेके खर्चके लिए उसके हाथके चाँदीके कड़े बेंचवा दिये, जिसपर मेरे कुछ साथियोंने टिप्पणी भी की—'छोटे लड़केके हाथका जेवर नहीं बेंचवाना चाहिए था ।' किन्तु मैं कोई वेतन तो लेता नहीं था, फिर बिना फंडसे उसे सफर-खर्च देना । श्रीनाथ सिकन्दराबाद भी नहीं ठहरा, और पढ़ने-

लिखने, खाने-पीनेका ठीक प्रबन्ध हो जानेपर भी झूठी तकलीफोंको लिखकर उसने श्यामलालको बुलवाया और घर लौट गया।

काल्पीमें बाजारके दिन हम लोग धर्मप्रचार करने जाते। मुकुन्दलाल और यशवन्तके हारमोनियमपर भजन होते, तथा हम लोगोंमेंसे कितनोंके व्याख्यान—व्याख्यान आर्यसमाजी ढंगके, जिसमें बीच-बीचमें राष्ट्रीयताकी पुट भी रहती। स्वामी ब्रह्मानन्दजी कभी बाहर घूमने जाते, नहीं तो वहीं रहते। १९१७ के आखिरी महीनोंमे होमरूलका आन्दोलन जोर पकड़ने लगा था। एनी बेसंट, और आरंडलकी नजरबन्दीसे सनसनी फैली हुई थी, और लोकमान्य तिलककी मुक्तिसे गर्मदली अब मुल्कमें जोर पकड़ रहा था। होमरूल आन्दोलनको जनतामें फैलानेके लिए पडित वेंकटेशनारायण तिवारीके सम्पादकत्वमें कितनी ही छोटी-छोटी पुस्तिकायें निकली थीं, जिनमें जालौन जिलेके एक राष्ट्रीय कर्मीका आल्हा भी था। 'भारत-भारती' पहिले हीसे हिन्दी भाषी जनतामें प्रिय हो रही थी, किन्तु अब उसने राष्ट्रीय संगीत-पुस्तकका रूप धारण कर लिया था। मेरे कोंचके एक ब्राह्मण मित्रने तो अपने बच्चों तकको उसके बहुतसे अंश कंठस्थ करा दिये थे। 'प्रताप' को मैं उसके आरंभिक समयसे ही पढ़ने लगा था, किन्तु पहिले-पहिल काल्पी-में ही वहांकी एक धर्मशालामें मैंने श्रीगणेशशंकर विद्यार्थीका व्याख्यान सुना। उनके निर्मांसिल मुखपर चश्मे लगी आखें असाधारण तौरसे चमकीली मालूम होती थीं।

जाड़ेमें कुछ समय बीतनेपर मालूम हुआ, पोखरायां (कानपुर-जिले) में प्लेग जोर पकड़े हुए है, लोग बहुत मर रहे हैं। आरम्भिक युगके आर्यसमाजियोंमें निर्भय हो बीमारों, अनाथों, गरीबोंकी सेवा करनेवाले वीरोंकी कितनी ही कहा-नियां मुझे सुननेको मिली थीं। पंडित रलाराम वेजवाडिया—रेलवेके साधारण पैटमेन—अपनी ऐसी ही सेवाओंसे आर्यसमाजके एक श्रद्धेय पुरुष बन गये थे। अपनी सात-आठ रुपयेकी तनख्वाहमेंसे भी बचाकर वह कुछ पुस्तकें बांटते, कुछ दवाइयां ले प्लेगके दिनोंमें—और उस समय सारे उत्तरीय भारतमें प्लेगका भारी प्रकोप था—रोगियोंकी सेवा करते। एक जैन-परिवारके बारेमें कहा जाता है, वह आर्यसमाजियोंसे बहुत चिढ़ता था। एक बार उसके घरके सभी लोग बीमार पड़ गये, कुछ मर गये, बाकीको पानी तक देनेवाला कोई न था। पंडित रलाराम वहां पहुँचे। एक-दो दिन वे लोग पतित समझकर उनके हाथकी दवा नहीं पीते। घरके तरुण लड़केकी गिल्टी पक गई थी। उस वक्त डाक्टर कहां मिलते। पंडित रलारामने चीरनेके लिए अपना चाकू निकाला, किन्तु उसमें मोर्चा लगा था। उन्होंने गिल्टीमें मुंह लगाकर पीबको चूसकर फेंक दिया। घरवालोंपर असाधा-रण प्रभाव पड़ा, और तबसे वह पंडित रलारामको देवता-सा मानने लगे। राज-पूतानेके अकालमें सेवा करते, बांटनेके लिए झोलेमें डाल चनेके बोझसे कैसे एक बार

महात्मा हंसराज गिर गये थे, यह कथा भी मैंने सुनी थी। मेरे रहनेसे कुछ ही वर्ष पहिले आगरेमें प्लेगमें मेरे तीन दिनके सड़े मुर्देको निकालकर फूंकनेका साहस कर कैसे एक आर्यसमाजीने जान-बूझकर मृत्युको निमन्त्रण दिया था, यह मेरे लिए ताजी घटना थी। इस प्रकार आर्यसमाजने सिर्फ़ जबानी जमाखर्च ही नहीं प्राणोंकी आहुति और पीड़ितोंकी सेवा करके अपने लिए एक आकर्षक इतिहास तैयार किया था। मैं कितने दिनोंसे लालसा रखता था, ऐसी सेवाके लिए।

मैं और यागेश पोखरायां गये। हमने अपने दोस्तोंसे चन्द रुपये मांग लिये थे। पोखरायांके डिस्पेन्सरीके डाक्टर बड़े सज्जन थे। वह स्वयं तो मरीजोंके घर नहीं जा सकते थे, किन्तु उन्होंने हमसे कह दिया कि जितनी दवाकी जरूरत हो हमसे ले जावें। दूध-साबूदानेका इन्तजाम हमने अपने रुपयोंसे कर लिया। बाजारके बहुत लोग घर छोड़ गये थे, और बहुतसे किस्मतपर सब कुछ छोड़ घरमें ही पड़े हुए थे। हम लोग एक खाली गोलेमें ठहरे। मरीजोंका टेम्परेचर लेना, दवा देना, और बैठकर कुछ सेवा-सुश्रूषा करना हमारा काम था। किसी-किसीकी गम्भीर बीमारीके बारेमें डाक्टरसे भी सलाह लेते। हम लोग नंगे पैर थे, प्लेगका कोई टीका-बीका नहीं लिया था, मौत हमारे लिए डरकी बात न थी, इसलिए हम लोग निधड़क रात-दिन घूमते थे। एक दिन-पता लगा, कि सरायमें एक भठिहारा बीमार पड़ा है। देखा, घरके कच्चे ओसारेमें नीचे धँसी खाटपर एक २४,-२५ सालका सावला नौजवान पड़ा है। घरमें क्या सरायमें भी कोई नहीं था। शायद दो दिनसे उसे पानी भी देने कोई नहीं आया। जब धनियोंको भी उस बीमारीमें पानी देनेवाले दुर्लभ थे, तो हाथ-पैर चलाकर शामकी रोजी चलानेवाले भठिहारेकी कौन सुध लेता? शायद हमने अन्त तक उसे बेहोश ही देखा। हमने उसके पास रहनेकी अपनी ड्यूटी बाँध ली। रातको लालटेन लिये उसके पास पड़े रहते। डाक्टर साहेबके थर्मामीटरको लालटेनके पाससे देखते हुए मैंने उसे गर्म शीशेसे सटा दिया, और देखा पारा थर्मामीटर तोड़कर उड़ गया। डाक्टर साहेबने उसके लिए कुछ नहीं कहा। दो या तीन दिनकी लगातार सेवाओंके बाद भी भठिहारा बचा नहीं। हमें इस बातका सन्तोष रहा, कि हमने हिन्दू-मुसल्मानका जरा भी सवाल किये बगैर उस गरीबकी सेवा की। एक और शोचनीय मृत्यु एक खाते-पीते अच्छे घरके नौजवान लड़केकी हुई, जिसकी तरुण स्त्री हमेशाके लिए विधवा बननेको मौजूद थी। जब हम उस घरमें जाते, तो घरवालोंको बड़ी सान्त्वना होती। हम कुछ आशा और ढारस दिलाते। वह देखते थे, हम जानकी परवाह न कर उस आगमें रात-दिन विचर रहे हैं। दूध-साबूदानेके पैसोंकी हमें कमी नहीं थी। हमारे भीतर एक तरहका अजीब उत्साह था।

लड़ाई और गम्भीर हो चली थी। कालीके मारवाड़ी सेठकी गिरनी-फैक्टरी

(रुईकी गांठ बांधनेका कारखाना) अब भुसकी गाठें बांधकर लड़ाईके मैदानमें भेज रही थी। काल्पीके तहसीलदार साहेब आर्यसमाजसे कुछ सहानुभूति रखते थे, और हमारे साथ भी उनका सम्बन्ध अच्छा था। गिरनी फ़ैक्टरीमें एकसे अधिक बार ब्रिटिश-विजयकामनाके लिए भगवानसे प्रार्थना की गई थी, जिसमे एकाध प्रार्थना करानेका भार मेरे ऊपर पड़ा। मेरी प्रार्थनामे ब्रिटिशका नाम भी नही आता, और मैं सत्य और न्यायपर आरूढ शक्तियोकी विजयकी कामना करता—कुछ लोगोने इस बातको खासतौरसे मार्क किया था।

जाड़ेके दिनोंमें कभी-कभी जिलेके भिन्न-भिन्न भागोमें मुझे व्याख्यान देनेके लिए जाना पड़ता। उरईके तरुण आर्यसमाजियोने पोखरेपरके एक शिवालयको ही आर्यसमाज और उसके पुस्तकालयके रूपमें परिणत कर दिया था। वहां मैं अक्सर व्याख्यान देने जाता। राय साहेब पडित गोपालदास आर्यसमाजके एक श्रद्धालु भक्त थे, किन्तु उनकी सरकारपरस्तीके कारण मैं उनसे नफ़रत करता। जालोनकी डिस्पेन्सरीके डाक्टर वहांके आर्यसमाजके कामोंमें बहुत भाग लेते, सरकारी नौकर होनेसे उनकी मजबूरीको हम जानते थे, और इसलिए उनसे हमारी पटरी अच्छी जमती। वहाके आर्यसमाजके जलसोमें स्थानीय पादरी जानसन (दर्यावसिंह) बराबर शकासमाधान करने आते, और शंका-समाधानके लिए मुझमें एक खास प्रतिभा थी, जिसका लोहा सबको मानना पड़ता। कई साल बाद पादरी जानसनका तबादला एकमामें हो गया। मैं उनसे बड़े प्रेमसे मिलता, और हमारा बरताव गहरे दोस्तकी तरहका होता; हालाकि राजनीतिक क्षेत्रमे काफी ख्याति प्राप्त हो जाने तथा हिन्दूसभाके जोरके जमानेमें ईसाई बनानेवाले आदमीके प्रति सहानुभूतिकी उस समय आशा नही रखी जाती थी। मिशनके पास पीछे पैसा नही रह गया, और पादरी जानसनको होमियोपैथीकी दवा करके बड़ी गरीबीसे दिन गुजारा करना पड़ता। उनकी उस अवस्थाको भी जब मैं जालौन वाली पोशाकसे मुकाबिला करता, तो मुझे बहुत दुःख होता। काल्पीमें भी मेथोडिस्ट मिशनके एक पादरी रहते थे। उनसे हमारी बड़ी दोस्ती हो गई थी। बहसके वक्त कड़ीसे कड़ी आलोचना करनेवाले हम लोगोंको जब वे अपने साथ विना शुद्धिके बिठलाकर रोटी-दाल खिलाते देखते, तो उनको पहिले तो इसका अर्थ समझना मुश्किल था।

धौलपुरमें आर्यसमाजके मन्दिरको तोड़कर राज्यने घोड़साल बनाई थी। इसकी खबर जब बाहरके आर्यसमाजियोंको लगी, तो हल्ला मचा। सत्याग्रहकी तैयारी शुरू हुई। कितने ही आर्यसमाजी धौलपुर पहुँचे, जिनमें मैं और भाई साहेब भी थे। पीछे स्वामी श्रद्धानन्दके बीचमें पड़नेसे मामला तै हो गया।

१९१७ समाप्त हो रहा था, जबकि एक दिन स्वामी ब्रह्मानन्दजीने प्रस्ताव

किया, और मैंने भी हल्के दिलसे एक पोस्टकार्ड लिखकर परसा भेज दिया। तीसरे ही चौथे दिन महन्तजीका तार पहुँचा, कि सर्वेके काममें मठकी जमीदारीकी देख-भाल करनेके लिए तुम्हारी बड़ी जरूरत है, तुरन्त चले आओ। शायद तारके साथ कुछ रुपये भी थे। मैंने तो साधारण कुशल-प्रश्न तथा वरदराजके बारेमें कुछ जानने के लिए पत्र लिखा था, मैं इसकी आशा नहीं रखता था। स्वामीजी जोर देने लगे—जाओ। मैंने कहा—मैं आर्यसमाजी हूँ, अब वैष्णव-मठसे मेरा सम्बन्ध क्या? वह जोर देते ही रहे, मैं हिला नहीं। इसी बीचमें महन्तजीका विस्तृत पत्र पहुँचा। इतने दिनोंसे मेरी कोई खबर न पानेसे वे कितने चिन्तित थे। वृद्धावस्थाके कारण वह कैसे कुछ दिनोंके मेहमान हैं। यदि मठकी सम्पत्तिको अब न सँभाला, तो उसका खसारा पीछे तुम्हें भी भोगना पड़ेगा आदि। वह पत्र उनकी असमर्थता और सहायताके लिए दयनीय पुकारसे भरा हुआ था। अबकी बार स्वामी ब्रह्मानन्दजीका जोर लगाना व्यर्थ नहीं गया। मठकी सम्पत्तिकी रक्षा तथा बूढ़े महन्तजीकी थोड़ी-सी सहायता कर देनेमें क्या हर्ज है—सोचकर मैं परसा जानेके लिए तैयार हो गया।

रेलपर सवार होनेपर दिमागमें आया, कि वैरागी बानेमें चलना होगा। मनमें हिचकिचाहट होने लगी, लेकिन अब तो कदम उठ चुका था। रास्तेमें कहींसे कंठी ले गलेमें बाँधी सिर-मुँहके बाल साफ किये और बनारस होते परसा पहुँचा। उस वक्त परसा, बहरौली, और जानकीनगरमें सर्वेका काम चल रहा था—कहीं खाना पुरी हो रही थी, कहीं तसदीक। सर्वेके अमीन अलग अपनी कमाईकेलिए कागज पर झूठे इन्दराज कर रहे थे, और मठके दीवान-पटवारी अलग। मठके सबसे बड़े गाँव बहरौलीमें बहुतसे तनाजे पड़े थे। किसान डटे हुए थे, और महन्तजी भी घबराये हुए थे। मेरे आनेपर उन्हें बड़ी खुशी हुई। जाड़ा शुरू हो रहा था। महन्तजीने फलालैनकी चौबन्दी बनानेका प्रस्ताव किया। मैंने मोटिया (खद्दर) की मिर्जईके लिए कहा। महन्तजीने कहा—ऐसा करनेसे मेरी बदनामी होगी, लोग कहेंगे कंजूसीके ख्यालसे अपने पट्टशिष्यको महन्तजी मोटियाका कपड़ा पहनाते हैं। अन्तमें स्वदेशी ऊनी कपड़ेपर समझौता हुआ। मोटियाकी मिर्जईको भी मैंने अलगसे बनवा ही लिया। सौकीनी, नौकर-चाकरोंके साथ बरताव सबमें मेरा तरीका बदला हुआ था। जब जमींदारीके गाँवमें पहुँचा, और मैंने कह दिया कि न एक छटाँक तरकारी मुफ्तकी जायेगी, न चुल्लूभर दूध; तो नौकरोंसे बढ़कर आश्चर्य और आपत्ति असामियोंने की। कहने लगे—आप साधु महात्मा हैं। मैं उत्तर देता—ठीक, किन्तु जब मैं साधु महात्माके तौरपर आऊँ, तो मुझे खाने-पीनेकी चीजें मुफ्त लेनेमें उज्र न होगा। इस वक्त तो मैं तुम्हारे जमींदारकी तरह आया हूँ।

सर्वेके कागज जब मेरे सामने आये, तो पहिले तो बिलकुल नई चीज तथा

झगड़ों और सर्वे नम्बरोंकी भारी संख्या होनेसे मेरी अक्ल चकराई। लेकिन अब दूसरा चारा न था। कागज देखने लगा। मठके दीवान, और गांवके पटवारी मुझे कागजका रास्ता बतलानेकी जगह उस जंगलमें उलझा देनेकेलिए ज्यादा-मुस्तैद थे। पुराने सर्वेके कागजोंसे नये कागजोंका मुकाबिला शुरू किया। झगड़ालू खेतोंपर पूछ-ताछ शुरू की। और फिर जब मठकी तरफसे दिये गये झूठे तनाजोंको हटाना शुरू किया, तो मठके अम्ला-लोग महन्तजी तक दौड़ गये—पुजारी-जी तो हजारोंकी जायदादाको पानीमें फेंक देना चाहते हैं। लेकिन मेरे तनाजोंके हटानेपर असामियोंकी ओरसे भी झूठे तनाजे हटाये जाने लगे। मैंने उन्हे दिखलाकर बतलाया, कि झूठे तनाजोंसे हम ज्यादा लाभमें न रहेंगे। महन्तजीने अम्लोंको मुझसे ही आकर भुगतनेके लिए कहा। मैंने दीवानकी दी हुई कितनी ही रसीदें पकड़ी, जो रिश्वत लेकर खेतपर असामीका कब्जा साबित करनेके लिए लिखी गई थीं। ऐसी एक रसीदको एक जुलाहेने डिप्टीके सामने पेश किया। दीवानने उसे पहिलेके पटवारीके नामसे लिखी थी। मैंने जाली बतलाकर रसीदको रख रखनेके लिए कहा। डिप्टी मेरे बरतावसे समझ गये थे, कि मैं सारी शक्ति लगाकर सच्चाई तक पहुँचनेकी उनसे भी ज्यादा कोशिश करता हूँ, इसलिए वह मेरी बातोंका बहुत यकीन करते थे। जब रसीद रख ली गई, और जाली रसीदपर मुकदमा चल जानेका डौल मालूम होने लगा, तो बूढ़ा असामी मेरे पास दौड़ा आया, और अपने जवान लड़केको लानत-मलामत करते हुए बहुत विनती करने लगा। मैंने उसे छुड़वा दिया। दूसरी घटना बहरौलीके पलक ओझाकी है। उन्होंने सर्वेमें रुपया देकर मालिकके गैरमजरूआ जमीनकी सिसवानी (शीशमके झुर्मुट) को अपने नाम लिखवा लिया था। शीशम खुदरो दरख्त होते हैं, और जमीन मालिक-की थी ही, फिर वह पलक ओझाका कैसे हो सकता था। मैंने उज्र किया। डिप्टीने मेरी बातके औचित्यको देखा, किन्तु इधर कई उज्रदारियोंमें मेरे पक्षमें फ़ैसला देते-देते अब वह एकाध फ़ैसला असामीके पक्षमें करना चाहते थे, वह उन तनाजोंका खयाल नही कर रहे थे, जिन्हें कि मैंने वापस ले लिया था। खैर, उन्होंने मालिककी गैरमजरूआ जमीनमें भी खुदरो दरख्तकी लकड़ीका आधा असामीको लिख दिया। मैंने पलक ओझाको बहुत समझानेकी कोशिश की, किन्तु वह 'घर आई लच्छिमी' को लौटानेको तैयार न हुए। मैंने उनके कागजोंको फिरसे देखना शुरू किया। देखा पुरानी ही मालगुजारीपर पुराने रकवेसे आधा एकड़ अधिक जमीन हालके सर्वेमें उनके नाम दर्ज है। मैंने उस बढ़े रकवेकी जमीनको पुरानी जमाबन्दीसे अलग कर नई लगान बांधनेका दावा किया। डिप्टी उसे माननेके लिए तैयार थे, क्योंकि पलक ओझाके पास कागज न था। इस प्रकार शीशमकी लकड़ी उन्हें उतनी नहीं मिली, जितनी कि सालाना मालगुजारी उनके शिरपर

बँध गई। वस्तुत. आधा एकड़ अधिक जमीन मालिकने उससे बेहतर जमीन लेकर बदलेमें दिया था, किन्तु यह सब खानगी हुआ था, जिसका पलक ओझाके पास कोई सबूत न था। बहरौलीके हजार एकड़से अधिककी जमीनमें सैकडों असामियोंसे वास्ता पड़ा, लेकिन यही सिर्फ़ एक मामला था, जिसमें मैंने पलक ओझाके साथ अन्याय किया, लेकिन इसके कारण खुद वही थे। यदि शीशमोंपर झूठा दावा न किये होते, तो मुझे जिद न होती।

जिन दिनों बहरौलीमें सर्वेका काम हो रहा था, उसी वक्त जोरका इन्फ्लुयेंजा भी चल रहा था। मुझे याद है, एक कोइरी भगतका। वह अनपढ़ मेहनती किसान था, किसीकी संगतसे राधास्वामी मतका अनुयायी बन गया था। मुझे मालूम हुआ। मैं उससे राधास्वामी मतपर बातें करता। आगरा और लाहोरमें रहते मुझे उसके बारेमें जितनी जानकारी थी, उतनी कोइरी भगतको कहां होती? वह बड़ी दिलचस्पीसे मेरी बातें सुनता, और मैं भी उससे राधास्वामी मतके कुछ भजन सुनता। एक शनिवारको सर्वे-कैम्पमें मैंने उसे देखा था, और सोमवारको मालूम हुआ वह तो मर गया। तेज आंधीमें जैसे आम गिरकर जमीनपर पट जाते है, इन्फ्लुयेंजाकी बीमारीने भी उसी तरह आदमियोंकी लाशोंसे धरतीको पाट दिया था। कितनी ही नदियोंके बारेमें, तो लोग कहते थे, कि आदमीकी लाशें इतनी अधिक थीं, कि उन्हें नभचर-जलचर भी नहीं खा सकते, और पानीपर आदमीके बदनकी चर्बी तेलकी तरह तैरती थी।

परसामें महन्तजी जोतिसियोंसे पत्रे दिखला रहे थे–'अब मेरी जिन्दगीका कौन ठिकाना है। रामउदारके नाम लिख-पढ़ देना चाहिए।' मैंने महन्तजीको साफ तौरसे समझानेकी कोशिश की, कि मैं महन्त हर्गिज नहीं बनूंगा। मैं मठकी सम्पत्तिकी रक्षाके लिए आ गया हूँ। मुझे पढ़ना है, और देशका काम करना है। आपको महन्त बनाना है, तो वरदराजको बनावें, वह बाकी शिष्योंमें सबसे काबिल भी है।

बहरौलीका काम खतम होते ही मैंने जानेकी इजाजत मांगी। कलकत्ता वेद-मध्यमा परीक्षाका फार्म मैं काशीसे भर चुका था, यह वह जान गये थे, और मेरी पढ़ाईमें बाधा नहीं डालना चाहते थे; इसलिए उन्होंने रुकावट नहीं की। वेद-मध्यमा परीक्षा देनेके लिए मैंने काशीके एक विद्यार्थी हरदत्त–जो कितने ही वर्षों तक गुरुकुलकांगड़ीमें पढ़ते रहे थे–को उत्साहित किया था। उनके पढ़ाते वक्त अपने लिए भी तैयारी हो ही जाती थी, इसलिए मैंने किसी दूसरे गुरुके नामसे और हरदत्तजीने मेरे नामसे जबलपुर-सेन्टरसे परीक्षाका फार्म भरा। जबलपुर रवाना होते वक्त एक दिन पहिले मीठी पावरोटी पाथेयके लिए बनाई जाने लगी। पावरोटी तो नहीं बन सकी, हां उसका मीठा [illegible] गया। हम लोगोंने

जबलपुरमें जा परीक्षा दी। दोनों ही पास हुए, मैं प्रथम श्रेणीमें और शायद हरदत्तजी भी प्रथम ही श्रेणीमें।

परसा फिर भूल गया। मैं काल्पीमें पढने-पढानेके काममें लग गया। १९१८के प्रथम पाद तक छन-छुनकर काफ़ी खबरें रूसी मजदूर क्रान्तिकी मेरे कानों तक पहुँची थी। काल्पीमें उर्दू-हिन्दी-अंग्रेजीके अखबार मिल जाया करते थे, और तीन पक्तिकी रूस-सम्बन्धी खबर भी मुझे काफी चिन्तनका ममाला दे देती। मैंने इन उड़ती खबरों, और जब-तब समाचारोंसे मुन लिये साम्यवादके विकृत आकारको अपनी समझमें मुलझाकर एक साम्यवादी जगत्‌की कल्पना करने लगा। १९१८ के आदिम महीनों हीमें मैंने इस विषयपर एक पुस्तक लिखनी चाही थी, और उसका खाका बना लिया था, किन्तु विद्यालय बन्द करनेके बाद वह खाका मेरी नोटबुकके साथ यागेशके पास रहा, और पीछे गुम हो गया। उस पुस्तकको एक दूसरे ढंगसे संस्कृत पद्योंमें १९२२ मे मैंने लिखना चाहा, किन्तु वह भी कुछ सर्गों तक ही रह गई, और अन्तमें वह काम 'बाईसवी सदी' के नामसे १९२३-२४ ई० में हजारीबाग जेलमें पूरा हुआ।

महेशपुरामें ही विद्यालयका रग होनहार जैसा नही मालूम होता था; काल्पीमें हम अच्छे दिनोंकी आशासे आये थे, किन्तु यहां भी अवस्था मुधरी नही। आर्थिक अवस्था दिनपर दिन गिरती गई। श्री पन्नालालका ही दान स्थायी था, बाकी दिशाओंसे हमें प्रोत्साहन नही मिला। मकानमें हमने पहिले बैठकको छोड़ा, पीछे कोठेके आधे भागको भी छोड़ दिया। रसोइया हटाया गया, और हम लोग खुद बारी बांधकर रसोई बनाने लगे। खानेमें कमी होते-होते जौ-चनेकी रोटी और दाल या आलूकी तरकारीमेंसे एक बनाते, दोपहरके भोजनमेंहीसे थोड़ा शामके लिए रख दिया जाता। मुझे अपने लिए तो ख्याल न था, क्योंकि भ्रमणमें कितनी ही बार इससे भी खराब खानेको खाता रहा; किन्तु अपने साथियों मुकन्दराम और यशवन्तको रोटीका टुकडा गिलासके पानीके सहारे गलेसे नीचे उतारते देख कभी-कभी दिलमें ठेस लगती, यद्यपि मैं बराबर हर बातमें समभाग लेकर उन्हें उत्साहित करता रहता। रामसहायजी काल्पी आनेसे थोड़ेही समय पहिले चले गये थे, और तरुण संन्यासी स्वामी उनसे भी पहिले। यशवन्तके लिए चिट्ठीपर चिट्ठी आ रही थी और वह लौटनेके पक्के इरादेसे घर गया, किन्तु वह फिर नहीं लौट सका। अब वहां तीन ही चार मूर्तियां रह गई थी।

पढ़ानेके अतिरिक्त मुझे कभी-कभी प्रचारार्थ बाहर भी (ज्यादातर जालौन जिलेके भीतर ही) जाना पड़ता। दाताओंको प्रसन्न करनेके लिए कभी-कभी बारातोंमें भी जाता। एक बारका किस्सा याद है। बारात कई मील दूर गई थी। हम लोगोंको बैलगाड़ियोंमें जाना पड़ा। मेरे साथ विद्यालयकी भजन-

मंडली भी थी। वहां जानेपर मालूम हुआ, लड़कीवालोंने वेश्या (वेड़िनी) की नाच अलगसे कर रखी है। समयवादी हम लोगोंके लिए वहां रहना मुश्किल था, किन्तु चले आनेका मतलब था भजनमंडलीको मिलनेवाले रुपयेकी हानि। भजन-मंडलीको हर महीने हमें चालीस रुपये देने पड़ते थे। मैं नाचमें जा ही कैसे सकता था, किन्तु जहां ठहरा था वहांसे भी वेश्याका गाना सुनाई पड़ता था। वह एक स्थानीय भजन (शायद लेद) गा रही थी, जिसका राग मुझे पसन्द आ रहा था। जन-संगीतकी ओर मेरा स्नेह बढ़ता जा रहा था, यह शायद राजनीतिक चेतना और साम्यवादकी ओर बढ़ती हुई रुचिके कारण हो रहा था। उसी गांवमें आजमगढ़ जिलेका एक तरुण रहा करता था। यद्यपि मैं अपने ही जन्मप्रान्तमें था, किन्तु जन्म-जिला उससे भी नजदीकका सम्बन्ध रखता है, इसलिए तरुणसे जब उसका गांव मंदुरीके पास सुना, तो मुझे एक अजब तरहका खिचाव मालूम हुआ। वह भी सैलानी तबियतका अल्हड़ जवान था। जोतिससे उसे कुछ पैसे मिल जाते थे। बढ़िया साफ़ा, जोधपुरी बिरजिस, कोट, बूट पहिनकर ठाटबाटसे रहता था, कुछ थोड़ा संगीतका भी शौक था, और घरमें हारमोनियम रखे हुए था। कमाना और उड़ाना यही उसका आदर्श-वाक्य था।

जालौन आर्यसमाजके वार्षिकोत्सवमें इन्द्रवर्मा भी शामिल हुए थे। इन्द्रवर्माका साल ही दो सालसे मेरा परिचय हुआ था, किन्तु मैं उन्हें स्वाभाविक वक्ता मानता था। विशालकायके साथ, उनकी गम्भीर गर्जना खास चीज थी ही, किन्तु जिस वक्त वह अपने विषयका सजीव चित्र खींचते, उस वक्त जनताको रुलाना, हँसाना उनके बायें हाथका खेल होता। अभी हालमें उन्होंने महोबामें कई व्याख्यान दिये थे, जिनमें सनातनियों और ईसाइयोंका कुछ खंडन भी हुआ था। सनातनी शास्त्रार्थपर तुले हुए थे। नियम तै करनेकेलिए लिखा-पढ़ी हो रही थी। इन्द्रवर्मा मेरी बहस-मुबाहिसा तथा संस्कृतकी योग्यतासे वाकिफ़ थे, इसलिए उन्होंने आग्रह किया कि मैं उनके साथ जरूर महोबा चलूं। महोबाका ऐतिहासिक नाम कुछ आकर्षक था, और उससे भी आकर्षक था, पादरी ज्वालासिंहके साथ बहस करनेका मौका। मैं भी उनके साथ महोबा गया।

सनातनधर्मी शास्त्रार्थके लिए हुज्जत कर रहे थे—'संस्कृतमें ही शास्त्रार्थ होना चाहिए।' हमने कहा—'फिर जनता क्या मल्लू बनकर बैठी रहेगी? संस्कृत और हिन्दी दोनोंमें शास्त्रार्थ हो।' आदि आदि। ईसाइयोंपर जो प्रहार हुआ था, उसका जवाब देनेके लिए उन्होंने पादरी ज्वालासिंहको बुलाया था। शामके वक्त चिराग जलनेके बाद खुली जगहमें उनका व्याख्यान हुआ। व्याख्यानके बाद प्रश्न पूछनेकी उन्होंने घोषणा की। मैंने प्रश्न पूछने शुरू किये। प्रश्न करनेके समय मुसाफ़िर विद्यालयमें सुने स्वामी दर्शनानन्दके प्रतिद्वन्द्वी पादरी ज्वालासिंहका

काफी रोब मुझपर गालिब था। किन्तु वह रोब एक ही दो बारके प्रश्नोत्तरमें जाता रहा। मैंने छिद्रान्वेषणकी दृष्टिसे बाइबिलका अच्छी तरह अध्ययन किया था, उसके पुराने भागपर मेरे पास खतरनाक नोट थे। मैंने एतराज शुरू किये। पादरी साहेब एकका जवाब नही देने पाते, कि मैं तीन नये सवाल जड देता। धीरे-धीरे जनतापर विदित होने लगा, कि पादरी जवाब नही दे पा रहे हैं। पादरी ज्वालासिंह अपनी मन्तिक (तर्क) के लिए ही ईसाई सम्प्रदायमे सम्मानित तथा काफी वेतन पा रहे थे। एक छोकरेको इस प्रकार प्रहारकर अपनी प्रतिष्ठाको धूलमें मिलाते देखना उनको सह्य नही मालूम हुआ, और सचमुच मेरे कानोको विश्वास नही हुआ, जब कि पादरी साहेब तैशमें आ अपनी सच्चाईपर जोर देते हुए बोल उठे—'यदि मैं गलती कर रहा हूँ, तो हुक्केका पानी पिलाकर पाच जूता मारें।' पादरी ज्वालासिंहका जो चित्र मेरे स्मृतिपटलपर अंकित था, वह अब चकनाचूर हो गया था। दूसरे दिन फिर मुबाहिसाका समय घोषित करके सभा समाप्त हुई।

सवेरे इन्द्रवर्माको मिशन अस्पतालसे दवा लेनी थी, उसी सिलसिलेमें हम दोनो अमेरिकन पादरीके बँगलेपर भी चले गये। पादरी ज्वालासिंह भी वहीपर ठहरे हुए थे। वह बडे प्रेमसे मिले, और मालूम नही होता था, कि रातको हम दोनों उस तरह एक दूसरेपर प्रहार कर रहे थे। मैंने तो खैर, अपने लिए धार्मिक वाद-विवाद तथा व्यक्तिगत सम्बन्धका एक मैयार मुकर्रर कर लिया था, किन्तु बूढे पादरी ज्वालासिंहके शिष्टाचारको देखकर मुझे बहुत खुशी हुई। अमेरिकन पादरीकी मेम डाक्टर थी, उन्होंने इन्द्रवर्माके लिए दवा लिखकर पुर्जीको कम्पौडरको देनेके लिए हमारे हाथमें दे दी। दरवाजेसे निकलते ही इन्द्रवर्माने कौतूहलवश कहा—जरा पढ़िये तो। मैंने खतको खोला। मेम देख रही थी, उसने डांटकर कहा—यह चिट्ठी तुम्हारे लिए नही है। मैं लज्जित हो गया, युरोपीय शिष्टाचारसे अनभिज्ञ रहते भी साधारण बुद्धिसे भी मैं अपनी चेष्टाके अनौचित्यको समझता था। इन्द्रवर्माको यह बात ठीक नही जँची।—दवाके लिए लिखे गये पुर्जेमें कौन-सी गोप्य बात हो सकती है? उस दिन रातको वर्षा होने लगी, इसलिए मुबाहिसाका स्थान महोवाका विशाल गिरिजा हाल रखा गया। सारा हाल लोगोंसे भरा हुआ था, जिसमें काफ़ी सख्या ईसाई महिलाओंकी थी। कार्रवाई शुरू करते वक्त पादरी ज्वालासिंहने महिलाओंकी ओर लक्ष्य करके कहा—'बहस-मुबाहिसेमें किसीके मुंहसे कोई अनुचित शब्द भी निकल सकता है; इसलिए, मैं समझता हूँ, अच्छा हो यदि महिलायें यहां रहना नापसन्द करें।'

धार्मिक साम्प्रदायिकताका ही पहिले मुझे पाठ ज्यादा मिला था, किन्तु इधरके दो-तीन सालकी आदर्शवादी शिक्षाने ... अपना काफ़ी असर डाला

था। पादरी साहेबके ये वाक्य मेरे कानमें बाणकी तरह लगे, इसलिए नहीं कि वह झूठे थे—आर्यसमाजी उपदेशकोंमें ऐसोंकी संख्या काफ़ी थी, जिनके लिए अश्लीलताकी मर्यादाको अतिक्रमण करना साधारण बात थी; किन्तु मुझसे ऐसी आशा रखी जावे, यह बात असह्य थी। मैंने दिमागको ठंडा रखते हुए कहा—हमारे लिए यह बड़े शर्मकी बात होगी, यदि हम अपनी मां-बहिनोंके सामने भी अपनी जबानपर संयम नहीं रख सकते। मैं आशा रखता हूँ, कि महिलाओंको सभासे जानेकी जरूरत नहीं पड़ेगी। तरुण प्रतिद्वन्द्वी दिलकी लगी कह रहा था। शास्त्रार्थ सुननेका अवसर पा महिलायें सबसे ज्यादा खुश हुई। दो-तीन घंटे हम दोनोंमें बहस होती रही। यद्यपि कलकी तरहके 'हुक्केके पानी और पांच जूते'की आज जरूरत नहीं पड़ी, तो भी मैंने कलकी अपनी सफलताको आज भी कायम रखा।

दो-तीन दिन बाद सनातनियोंसे भी शास्त्रार्थ हुआ। सनातनधर्मकी ओरसे शायद पंडित अखिलानन्द और आर्यसमाजकी तरफसे युक्तप्रान्तीय प्रतिनिधि-सभाके कोई उपदेशक थे। शास्त्रार्थके पत्र-व्यवहारमें मेरा खास हाथ था, और शास्त्रार्थको पुस्तकाकार छपवानेका सारा सम्पादन कार्य, झांसीमें लाला लद्धारामके घरपर रहकर मुझे ही करना पड़ा था।

काल्पीमें लौटकर फिर विद्यालयको निर्बल तरीकेसे खेनेकी कोशिश करने लगा। इसी समय मैंने सालभरके लिए संस्कृतमें ही बोलनेकी प्रतिज्ञा की—बाकायदा हवनयज्ञ करनेके साथ। यदि इस प्रतिज्ञासे मतलब (३६०×२४) घंटे-निद्रा था, तो जरूर पूरी हुई, नहीं तो यह उन प्रतिज्ञाओंमें थी, जिन्हें आदमी तोड़नेके लिए ही किया करता है।

तीन आदमियोंको लेकर विद्यालयके नामपर अपने समयको बरबाद करना अब मुझे पसन्द न था। धीरे-धीरे भाई साहेब भी मेरी रायसे सहमत हुए। तै हुआ कि विद्यालयको स्थगित करके मैं फिर अपनी पढ़ाई शुरू कर दूं। स्वामी ब्रह्मानन्द और श्री पन्नालालको यह बात दुःखद मालूम हुई—सचमुच ही काल्पी स्टेशनपर बिदाई लेते वक्त हमारे हृदय भारी हो गये थे।

७

दुहरा धर्म

(१९१८-१९ ई०)

अबके साल मैंने शास्त्रि-परीक्षामें बैठनेका निश्चय किया था। कानपुरमें एक संस्कृत पाठशालामें गया, जिसमें उस वक्त पंडित शशिनाथ झा पढ़ा रहे थे, किन्तु वहां शास्त्रि-परीक्षाके सभी पाठ्य-ग्रंथोंके पढ़ानेका प्रबन्ध नहीं हो सकता

था; बनारसमें कर्नेलाके किसी आदमीसे भेंट हो जानेपर डर था; इस प्रकार अन्तमें मुझे अयोध्या जानेका निश्चय करना पड़ा। फिर आर्यसमाजके निराकारी बानेकी जगह वैरागी साकार-बाना सजाना पड़ा। पंडित वल्लभाशरणने मेरा आना सुनकर बड़ी खुशीसे अपने स्थानमें जगह दी। न्याय-वात्स्यायन-भाष्य, निरुक्त, ऋग्वेद-सायण-भाष्यकी भूमिका, नैषध और सिद्धान्तकौमुदीके अंतके कुछ अंशोको विशेष तौरसे पढ़ना था। नैषध पढ़ानेके लिए पंडित सूर्यनारायण शुक्ल मिल गये, उस वक्त वह व्याकरणाचार्य हो राजगोपाल पाठशालामें पढ़ाते तथा न्यायाचार्य-परीक्षामें बैठ रहे थे। तरुण होनेपर भी उनकी प्रतिभा की अयोध्यामें ख्याति थी। वह उस समय पतले-दुबले और लम्बे मालूम होते थे। ऋग्वेद सायणभाष्यकी भूमिका बहुत कुछ मीमांसाशास्त्रसे सम्बन्ध रखती है, उसके लिए मैसूरके एक द्रविड़-वेदान्ती-पंडित मिल गये, जो हमारी उसी प्राचीन वेदान्त-पाठशालामें अध्यापक होकर आये थे, जो अब बड़ी जगहके हाथमें चली गई थी। वह भी अपने विषयके अच्छे विद्वान् थे, और चावसे पढ़ाते थे। सिद्धान्त-कौमुदीके लिए पंडित सरयूदासजी मौजूद ही थे; किन्तु निरुक्त और न्यायभाष्यके लिए बड़ी दिक्कत पेश आई। बहुत खोज-खाज करनेपर गोलाघाटपर एक ब्रह्मचारी मिले, जो थे तो काशीके न्यायोपाध्याय (न्यायाचार्य), किन्तु नव्यन्यायके और वह भी बहुत दिनोंसे पठन-पाठन छोड़ चुके थे। प्राचीन न्यायकी पठन-पाठन प्रणाली सदियोंसे छूट चुकी है, इसलिए उस समय तो उसके पढ़ानेवाले बनारसमें भी नहीं मिलते थे, अयोध्या जैसी छोटी जगहकी तो बात ही क्या? ब्रह्मचारीजी उतना ही बतला सकते थे, जितना कि मैं खुद भी पुस्तकके सहारे जान सकता था। ब्रह्मचारी अब गृहस्थ थे, उनके गुरु एक बहुत वृद्ध ब्रह्मचारी थे, जिनमें किसी समय स्वामी दयानन्दसे साक्षात्कार, और कुछ दिनोंकी सहयात्रा भी हुई थी। उस वक्त स्वामी दयानन्द अभी उतने प्रख्यात नहीं हुए थे। ब्रह्मचारीजी मतभेद रखते भी स्वामी दयानन्दकी बड़ी प्रशंसा किया करते थे। निरुक्त पढ़ानेवाला मिलना और भी मुश्किल हुआ। बहुत पीछे—जब मैं अयोध्या छोड़नेवाला था, तब—ब्रह्मचारी भगवद्दासका नाम मालूम हुआ। वह वेदतीर्थ हो चुके थे और अब बड़ी जगहके महन्तके शिष्य हो इसी नामसे वहां रहते थे। ब्रह्मचारी भगवद्दास-जीकी वह पतली-दुबली सांवली सूरत मुझे याद थी, जो १९१४ में पहिले-पहिल दिव्य-देशकी वेदान्त पाठशालामें दृष्टिगोचर हुई थी। कैसे उन्होंने मेंगनीकी कंठी, और नौसिखिये हाथोंसे सफ़ेद रेखाओंमें एक-सौ-एक नम्बर सिरमें अंकितकर दाढ़ी नदारद मूछोंके साथ वैरागी बाना बना अपनेको पंजाबका एक वैरागी बतलाया था, जिसपर मेरे सहपाठियोंने प्रश्नोंकी बौछार शुरू कर दी, और मैं ही था, जिसने कि देश-काल आदिके नामपर व्याख्या कर उनका समर्थन करना चाहा।

उस वक्त आर्यसमाजसे मेरा कोई स्पर्श भी न था, तो भी कोई बात थी, जिससे मेरी सहानुभूति उस अजनबी तरुणके प्रति हो गई थी। ब्रह्मचारी भगवद्दास अब पंडित, बड़े महन्तके चेले तथा आचार-व्यवहारमें निष्णात बैरागी साधु थे। मुझे उड़ती खबर मिल चुकी थी, कि उनके विचार भीतरसे आर्यसमाजी हैं, इसीलिए बड़ी जगहके महन्तके उत्तराधिकारी होकर भी उस थानेमें उनका रहना मुझे नापसन्द मालूम होता था। निरुक्तके पाठके लिए दो ही चार बार मैं उनके यहाँ जा सका।

अयोध्यासे किसीने परसा लिख दिया, कि मैं आजकल वहा पंडित वल्लभाशरणके स्थानमें ठहरा हूँ। फिर क्या था, महन्तजीका एक पत्र मेरे पास, दूसरा बड़ा-सा पत्र पंडित वल्लभाशरणके पास पहुँचा। सबेका संकट था। मठकी सम्पत्तिके नाशकी दुहाई दे पंडित वल्लभाशरणको मुझे समझाकर भेजनेके लिए कहा गया था। पढ़नेकी दिक्कतें भी बतला रही थी, कि परीक्षाकी तैयारी लाहौर हीमें ठीकसे हो सकेगी, फिर परसा जा वहाका काम खतम कर क्यों न उधर बढ़ा जायें—यह खयाल करके मैंने परसा जाना स्वीकार किया। लकड़मंडी घाटमें गाड़ीपर चढ़ते वक्त देखा, पंडित सरयूदासजी भी उसी ट्रेनसे चल रहे हैं। उनकी माताका देहान्त हो गया था, श्राद्धमें जा रहे थे। मनकापुरमें गाड़ी आनेमें देर थी, इसलिए उन्होंने कुछ पद्य बना देनेके लिए कहा—मैंने 'माता मानकरी गना हतमुसा हा हन्त ! वर्तामहे।' आदि कई तुकबंदियां बनाकर दे दीं। परसा पहुँचनेपर संस्कृत-भाषणकी प्रतिज्ञा छोड़नी पड़ी।

अबकी मामला जानकीनगरका था। महन्तजीने अपने मामलेकी पैरवीके लिए गोरखपुरके एक तरुण ब्राह्मणको अमीन रखा था। उसने झूठे-सच्चे दो-तीन सौ तनाजे दे डाले थे। असामी इस अन्यायको कैसे बर्दाश्त करते ? पहिले उन्होंने महन्तजीके पास फ़रयाद की, किन्तु वहाँ कागज समझनेकी शक्ति कहाँ ? चौकी तोड़ते, दो-चार खरी-खोटी सुना उन्हें भगा दिया गया। नतीजा यह हुआ, कि रियायाने भी जमीदारके दरख्तों, खेतों, और परती तक पर तनाजे दे दिये। मैंने आकर कागज-पत्र देखा। बहरौलीके भारी जंगलको जब पिछले साल साफ कर चुका था, तो उसके सामने जानकीनगरका छोटा-सा गांव क्या था ? कागज देखकर, मैंने रैयतोंको बुलाकर पता लगाया, और सौमें पचहत्तर तनाजे झूठे मालूम हुए। मैंने डिप्टी साहेबसे कहकर उन तनाजोंको हटा लिया। उनको बड़ा तअज्जुब हुआ, कि मैं क्या कर रहा हूँ। मैंने बतलाया, कि मठके अमला लोग किसानोंसे रुपया वसूल करनेके लिए ये झूठे तनाजे दे रहे हैं। अमीन-साहेब दौड़े-दौड़े परसा गये। महन्तजीने उन्हें खूब फटकारा, और वहीं सामने जवाब भी दे दिया। मेरे तनाजोंके उठाते ही, गांवके सारे तनाजे उठ गये। मुझे याद नहीं कि

वहरौलीकी भांति यहां एक भी तनाजेमें कोई परेशानी हुई हो। डिप्टी साहेबके लिए मेरा वाक्य सच्चाईकी कसौटी थी।

यह वह वक्त था, जब कि चम्पारनमें गांधीजीके कामकी चारों ओर धूम थी। जानकीनगरके किसान भी जब-तब गाड़ीमें शकरकन्द भर धानसे बदलनेके लिये चम्पारन जाया करते थे। उन्हें यह खबरें खूब मालूम थीं। वह बतलाते थे, कि कैसे चम्पारनमें निलहे गोरोंकी इज्जत कौड़ीकी तीन हो गई है? कैसे अब वहां बैलगाड़ीको बीच सड़कसे चलानेमें कोई रोक-टोक नहीं डाल सकता? कैसे हरी-बेगारी गांधी साहेबने उठा दी—तब न आजकी भांति वह महात्मा गांधी थे, न उस समयके अर्धशिक्षितोंमें प्रसिद्ध कर्मवीर गाधी, बल्कि गांधी साहेबके ही नामसे चम्पारन और सारनके किसान उन्हें जानते थे। जानकीनगरके किसान, 'कचहरी' (जमीदारकी छावनी) में बराबर ही आते-जाते रहते। रातको तो खास तौरसे भीड़ रहती। पुजारीजीकी (मेरी) न्यायप्रियता, ईमानदारीकी धाक थी—वह दूध और तरकारी तक बिना पैसा दिये नहीं लेते; किसीसे एक पैसा भी भेंट-पूजा लेना हराम समझते हैं; मिलनसार इतने कि छोटे-छोटे बच्चोंसे बातें करते हैं; उन्होंने रैयतोंके हकमें हजारों रुपयोंके घाटेकी कुछ भी परवाह न कर सारे तनाजोंको उठा लिया।

रातको जानकीनगरके पँवारा गानेवाले बुलाये जाते थे। कभी 'कुँअर-विजयी' होती, कभी 'सोभनयका', कभी 'सोरठी' तो कभी 'लोरकाइन'। 'पुजारी-जी' की इस ग्रामीण-रुचिका 'शिक्षितों'पर तो जरूर बुरा प्रभाव पड़ता, किन्तु सौभाग्यसे जानकीनगरमें एक भी शिक्षित न था। साधारण जनताको विचित्रता जरूर मालूम होती थी, किन्तु इसे वह अनुचित कहनेके लिए तैयार न थी। मैंने एकाध अच्छे गानेवालोंको गाधीजीकी जीवनी सुनाकर उसे पद्यबद्ध कर 'सोरठी' की तरह गानेकी प्रेरणा की, किन्तु उसमे मुझे सफलता नहीं हुई, शायद यह समय-साध्य बात थी, और मेरे पास उतना समय न था।

परसा-मठकी थोड़ी-सी जमीन मुश्रीपुर गांवमें पड़ती थी। किसीने उस थोड़ी-सी जमीनका ख्याल नहीं किया था, इसलिए पिछले सर्वे हीमें वह हयुआ-राजमें लिख दी गई थी। मठवालोंने हाकिम-हुकुम सबको मेरी बात माननेके लिए तैयार देखकर उस गड़े मुर्देको भी उखाड़ा। मैं उस इलाकेके असिस्टेंट सेटलमेंट आफि-सरके पास गया। वह मुन्सिफ थे, सर्वेका काम सीखने आये थे—नाम शायद अंजनी-कुमार था। मेरी हिन्दी साफ़ शुद्ध युक्तप्रान्तीय हिन्दी थी, बोलचालमें कहीं झिझकका नाम न था। ऊपरसे शायद गुरुकुल हरपुरजानके किसी उपदेशककी मार्फत उन्हें पता लग गया था, कि मेरे विचार आर्यसमाजी हैं। वह और उनके मुसल्मान पेशकार अब्दुर्रहीम दोनों आर्यसमाजके अनुरागी थे। मेरी बड़ी खातिर

करते थे, इसलिए समय-समयपर मिल जाया करते थे। बलदेवजी और सोम-यागुलू वंशीलालके मन्दिरमें अब भी डटे हुए थे, और दोनों क्रमशः एफ० ए० और बी० ए० की अन्तिम परीक्षाओंकी तैयारी कर रहे थे।

रहनेका स्थान ढूंढ़नेपर सत्थां-बाजारमें जगह मिली। कुछ तरुणोंने वहां एक छोटा-सा आर्यसमाज खोला था। सादगी रखते हुए भी कुछ कीमती स्वदेशी कपड़े परसामें मेरे पास आ गये थे, जो यहा भी मौजूद थे। रेशमी चादरें, अधिक कीमतके पट्टूकी बगलबन्दियां, बेशकीमती सफेद आलवान, और रेशमी साफे बाधना परसा हीमें किसी वक्त क्षम्य हो सकते थे, मैंने उनमेंसे कुछको बाट दिया, कुछके पैसे कर लिये, और कुछ ऐसे ही पासमें रख रखे।

अखबारोको पढना, देश-विदेशकी राजनीतिक खबरोको गौरसे देखना, भारतमें राजनीतिक क्रान्तिकी चाह, रूसी क्रान्ति और साम्यवाद—ये मेरे प्रिय विषय थे। साम्यवादपर किसी ग्रंथके पढ़नेका अब भी अवसर न मिला था, किन्तु उसपर काफ़ी चिन्तन और तर्क-वितर्क किया करता था, तो भी अभी मेरा साम्यवाद आर्यसमाजके धर्मकी एक उदार व्याख्यामें सम्मिलित होने लायक था। कुछ सालो तक अच्छी तरह पढ़ाई करके पूर्वीय देशो—चीन या जापान—में वैदिक धर्म-प्रचारकेलिए जाना, बस यही धुन थी। अपने इस प्रोग्राममें जब मुझीको सन्देह नही था, तो दूसरेको सन्देह कैसे होता। नये तजर्बेके बिना पर आदमी बदलता रहता है—इस तत्त्वपर मेरा विचार अभी नही गया था।

महायुद्धके आखिरी दो वर्षोमें होम-रूलकेलिए आन्दोलन शुरू हुआ था, यद्यपि अभी वह साधारण जनता तक नही पहुँचा था, तो भी वह नरमदली काग्रेसकी तरह उच्च मध्यम श्रेणीके पठितों तक ही सीमित नही रहा। लडाईके समय लोगोंको अखबारोंकी चाट लगी, अखबारोकी संख्या बढ़ी, साथ ही उनमें गर्मी भी आई। लोगोंमें कुछ निर्भीकता-सी आती दिखाई पड़ी। अंग्रेजी सरकारने स्वायत्त-शासनकी घोषणा की, और भारतमंत्री मिस्टर माण्टेगु स्वयं भारतकी राजनीतिक अवस्थाके अध्ययनके लिए आये। लड़ाईकी खबरोंसे मालूम होने लगा, कि संसार-में अंग्रेज ही सर्वशक्तिमान् नहीं है, जर्मनी भी इनके मुकाबिलेकी शक्ति है, और अमेरिकाके मुंहकी तो बाट जोही जाती है।

१९१८ के अन्तके साथ लड़ाईका भी अन्त हुआ, किन्तु लड़ाईने लोगोंके मनो-भावमें जो परिवर्तन किये, उनका अन्त नही हुआ। जब तक शिरपर संकट था, अंग्रेज-शासक तरह-तरहकी चिकनी-चुपडी बातें करते थे, किन्तु लड़ाई समाप्त होने ही नवभारतके रुखसे उनके मनमें तरह-तरहकी शंकायें उत्पन्न होने लगी। लड़ाईके समयके लिए तो भारत-रक्षा कानून बनाकर उन्होंने अपने विरुद्ध किसी भी हलचलको दबा देनेका बन्दोवस्त कर लिया था, किन्तु लड़ाईके बाद भारतरक्षा-

कानून हट जाता। उधर लड़ाईके दिनोंमें भी आतंकवादी क्रान्तिकारियोंका काम बन्द नहीं हुआ था, बल्कि जहां पहिले उसका क्षेत्र सिर्फ बंगाल तक था, वहां अब वह युक्त-प्रान्त और पंजाब तक पहुँच गया था। सरकारने जस्टिस रोलटकी अध्यक्षतामें आतंकवादके जांचके लिए कमेटी बनाई, जिसकी रिपोर्टपर भारतकी हर स्वतंत्र आवाजको दबानेके लिए, हर उग्र राजनीतिक संगठनको कुचलनेके लिए रोलट-कानून तैयार किया। जनताके प्रतिनिधियोंने विरोध किया, किन्तु विजयके नशेमें उन्मत्त सरकार उसकी क्या परवाह करने लगी? कानून पास हो गया।

अपनी भीतरी-बाहरी पढ़ाईके साथ राजनीतिक घटनाओंपर मेरी खूब नजर रहती थी। जब हम लोग वंशीधरके मन्दिर या लाहौरी-दरवाजेके बगलके बागमें जमा होते तो राजनीतिक परिस्थितिपर भी घंटों बातें होतीं।—हां, मेरी संस्कृत बोलनेकी प्रतिज्ञा चल रही थी। पंडित भगवद्दत्तके अन्वेषण-विभागमें कभी-कभी जाता, और अन्वेषण-सम्बन्धी पत्रिकाओं और पुस्तकोंसे अन्वेषकोंकी विस्तृत दुनियासे भी परिचित हो रहा था। पंडित भगवद्दत्तजी सभी विज्ञानों और आविष्कारोंको वेदमें निकालकर दिखलाते तो नहीं थे, किन्तु उन्हें स्वामी दयानन्दके इस सिद्धान्तपर सन्देह नहीं था; बहुतोंको वह निश्चित तौरपर वेदमें प्राप्त कर चुके थे, और बाकी भी पूरी गवेषणा करनेमें जरूर वेदोंमेंसे निकल आयेंगे—यह उन्हें विश्वास था। लाहौरमें मुझे याद नहीं, पहिले किसी सभामें व्याख्यान दिया था। अबके कालेज (अंग्रेजी-विभाग) की संस्कृत-परिषद्‌में व्याख्यान देनेके लिए कहा गया, और मुझे उसमें कोई हिचक तो थी नहीं। उर्दू लेख तो लाहौरकी पहिली ही यात्रामें 'आर्यगजट' में ही लिखता रहता था।

बहिन महादेवीको पढ़नेके लिए कानपुर लानेका निश्चय मेरी सम्मतिके अनुसार हुआ था। अब कानपुरकी उस संस्थामें जितना पढ़ना हो सकता था, वह समाप्त हो चुका था, और बहिनजी आगे पढ़ना चाहती थीं। इसी बीच पंडित गन्नरामजी आ गये। वह उस वक्त कन्या महाविद्यालय जालन्धरमें हिन्दीके अध्यापक थे। उन्होंने कहा—भेज दीजिये, वहां कोई छात्रवृत्ति भी मिल जायेगी। बल्देवजीके बड़े भाई जो पहिले सिंगापुरमें काम करते थे, लड़ाईमें ड्राइवर होकर मेसोपोटामिया चले गये थे, और बल्देवजीको समय-समयपर रुपया भेजते रहते थे, इसलिए उन्हें इतमीनान था, कि जरूरत पड़नेपर वह बहिनजीकी भी मदद कर सकेंगे। रामगोपालजीने अपनी स्त्रीको शिक्षाके लिए ही हमीरपुर आर्यसमाजके प्राण पंडित रामप्रसादके यहां रखा था, और उनको भी लाहौर बुलाकर आगे पढ़ानेकी हम लोगोंकी सलाह थी। तै हुआ, कि परीक्षाशास्त्र समाप्त होते ही मैं कानपुर-हमीरपुर चला जाऊँ और बहिनजी तथा भाभी (रामगोपालजीकी स्त्री) को लिवा लाऊँ।

गृह-परीक्षामें सभी विद्यार्थियोंमें मैं प्रथम रहा, यद्यपि व्याकरण कमजोर था, तो भी पास होनेमें कोई दिक्कत न हुई। यही आशा युनिवर्सिटीकी परीक्षासे भी हो सकती थी। जैसे-जैसे अप्रेलका महीना और परीक्षा-दिन नजदीक आता जाता था, वैसे ही वैसे देशका राजनीतिक वायुमंडल भी गर्म होता जा रहा था। चम्पारन और खेड़ाके आन्दोलनोंसे दक्षिण-अफ्रीकाके सत्याग्रह-विजेता कर्मवीर गांधीका यश और प्रभाव भारतमें भी बढ़ रहा था। जब तक कौंसिल-मंचपर रोलट-बिलका विरोध मच-शूर नेता कर रहे थे, तब तक लोगोंमें कोई खास जागृति नहीं आई; किन्तु जैसे ही मालूम हुआ कि गांधीजी स्वयं रोलट-एक्टका विरोध संगठित करने जा रहे हैं, तो अवस्था बहुत शीघ्रतासे बदलने लगी। लाहौरमें कालेजके विद्यार्थी, शिक्षित मध्यमवर्ग ही नहीं दूकानदार तक भी इधर दिलचस्पी लेने लगे। 'पैसा-अखबार'वाली सड़कपर अनारकलीके पासके होटलमें उस वक्त मैं खाना खाया करता था। उसी वक्त मैंने पहिले-पहिल उस श्रेणीके होटलमें भी मालिककी ओरसे दैनिक अखबार रखनेका आयोजन देखा।—अखबारके पढ़नेके लालचसे कितने ही लोग उस होटलमें खाना खाना पसन्द करते।

मेरी परीक्षा ३१ मार्चको शुरू हुई और ५ अप्रेल (शनिवार) को समाप्त हुई। पर्चे उतने बुरे नहीं किये थे, किन्तु जब होड़ लगाकर परीक्षक विद्यार्थियोंको फ़ेल करनेको तुले बैठे थे, तो इसका क्या जवाब। उस साल डी० ए० वी० कालेजसे शास्त्रीमें एक भी विद्यार्थी पास नहीं हुआ।

छः अप्रेल (१९१९ ई०) को रविवार था, इसी दिन सारे भारतमें रोलट-एक्ट विरोधी-दिवस मनानेकी गांधीजीने घोषणा की थी। उस दिनके लाहौरके नजारेके बारेमें क्या कहना है। सारी अनारकली सड़क ओरसे छोर तक नंगे काले सिरोंसे भरी हुई थी। लोग तरह-तरहके नारे लगा रहे थे। जुलूस- घूमते-घूमते चार बजेके बाद ब्रेडला-हॉल पहुँचा। गर्मी काफ़ी थी। लोगोंको पानी पिलानेके लिए बहुत-सी सबीलें लगी हुई थीं। वहाँ, हिन्दू-मुसलमानका कोई फ़र्क न था। एक ही गिलाससे दोनों पानी पी रहे थे। राष्ट्रीयताकी पहिली बाढ़ने छुआछूतको बहा फेंका—यद्यपि वह बहा-फेंकना स्थायी नहीं था, तो भी उसमें कितनी ताकत है, इसका तो पता लग सकता था। ब्रेडला-हॉलके विशाल हॉलमें सारी जनता नहीं आ सकती थी, इसलिए बाहर हातेमें भी चार-पांच जगह सभायें की गईं। उस वक्त अभी लाउड-स्पीकरका युग आरम्भ नहीं हुआ था, तो भी वक्ताओंने किसी तरह अपने शब्दोंको जनता तक पहुँचाया ही।

छःअप्रेलके स्मरणीय दिवसकी उस स्मृतिको लिये सात अप्रेलको मैं लाहौरसे रवाना हुआ। माणिकचन्द (भगवतीप्रसादके भाई) ज्वालापुर महाविद्यालयमें संस्कृत पढ़ रहे थे, भाई भगवती भी कोई काम लेकर हरिद्वारमें रहते थे। पहिले

में हरिद्वार गया, फिर ज्वालापुर, और फिर गुरुकुलकांगड़ी भी (उसके पुराने स्थानमें)। बढ़ती हुई गर्मी, गंगाका बर्फीला पानी दो ही चीजें उस समयकी याद हैं। हरिद्वारसे रवाना हो तिलहर-स्टेशन उतर ढकिया-बरा, अभिलाषचन्द्रके घर गया। अभिलाषचन्द्रसे मिलकर मुझे हमेशा खुशी होती, उसमें कुछ ऐसी सजीवता, ऐसी साहसिकता थी, जिसकी मैं बड़ी कद्र करता था। अभिलाषने मोटर-ड्राइवरी पास कर ली थी। फोटोग्राफ़ी भी अच्छी तरह जानता था। उसने बैठकेमें बहुतसे देवी-देवताओंकी तसवीरें लगा रखी थी, वहां शराबकी बोतलें और गिलास भी जमा थे। मालूम हुआ—हजरत आगे बढ़ते-बढ़ते खुफ़िया-विभागके आंखके कांटे बन गये थे, और अब अपने पतनको प्रकट करने, तथा इसके द्वारा खुफ़िया-विभागकी आंखोंमें धूल झोंकनेके लिए यह ढोंग रचा गया था। लेकिन कोई भी पार्ट जब निर्लिप्त होता है, तभी असर पैदा करता है। यहां अभी भी छः गोलियोंका रिवाल्वर उनके पास था, आतंकवादियोंसे सम्बन्ध रखनेवाली पुस्तकें मौजूद थीं। गर्म राजनीतिक विचार रखनेपर भी मेरी इच्छा अभी आतंकवादमें जानेकी न थी। शायद भीतरसे साम्यवादका असर इसका कारण हो, शायद विदेशमें धर्मप्रचारकी लालसा उसमें बाधक हो। अभिलाषने हालमें शादी की थी, और उसने बतलाया किस तरह पिस्तौलके सहारे मैं स्त्रीको निष्ठुरोंकी कैदसे निकाल लाया। उनकी स्त्री ज्यादा पर्दा नहीं करती थीं, और मुझे भाभीका रिश्ता लगानेमें देर न लगी। ढकिया-बराकी जिस चीजने सबसे ज्यादा प्रभाव डाला, वह था अभिलाषकी मांका वात्सल्यपूर्ण वर्ताव। मांके स्नेहसे मैं बचपन हीमें वंचित हो गया था, एक तरह बल्कि मांका स्नेह क्या होता है, इसे देखनेका मुझे मौका ही नहीं मिला। अभिलाषकी मां हमारे आपसके स्नेहको जानती थीं, इसलिए खिलाने-पिलाने, बातचीत करनेमें मुझे उनमें मांका हृदय झलकता था। थीं वह गांवकी अनपढ़ स्त्री, और यद्यपि अभिलाषके दादा साधारण चौकीदारसे तरक्की करके इन्सपेक्टर-पुलिस हुए थे, तो भी पिताकी ओर नजर डालनेपर मांमें उस तरहके विनीत, गम्भीर, परिष्कृत व्यवहारकी आशा नहीं हो सकती थी। अभिलाष-की मां भी अपने पुत्रके सम्बन्धसे मेरे प्रति स्नेह-प्रदर्शन करती थी, किन्तु वह अधि-कतर भयके कारण होता था—कहीं वह मेरे बेटेको दुनियाके दूसरे छोरपर न ले भागे; किन्तु यहां भय कारण न था, बल्कि कारण थे परिष्कृत हृदय और मस्तिष्क। बेटेकी बातोंका उन्हें पता था—वह सरकारके खिलाफ बातें करता है, वह पिस्तौल और बम्बका मसाला लिये फिरता है, वह ऐसी जमातका साथ दे रहा है, जो पकड़ी जानेपर यदि फांसीसे बची, तो कालापानी हीकी सजा पायेगी; हो सकता है, एक दिन वह हमेशाके लिए घरसे गायब भी हो जाये। उनको अभिलाषके विवाहित जीवनसे बड़ी प्रसन्नता थी, और समझती थीं कि इसके दिलोंमें उड़ती-फिरती खुशी

पत्नीपर थोड़ा भार रख दिया गया है। मुझे अभिलापका व्याह पसन्द नही आया। मै चाहता था, अभिलाप सूखी पत्तियोकी भांति ही हलका रहे, जिसमे उसकी उड़ानमें कोई बाधा न हो। अभिलापका व्याहके बादका वह मधुमास था—तरुण नागरिक सुन्दरीके समागमका मधुमास। उस समय उसे कहां खयाल था, कि वह कितनी कीमतपर इन सुनहली-बेड़ियोंको खरीद रहा है? अब कुछ समझाना बेकार था। मैने उसके सामने प्रस्ताव रखा, कि धीरे-धीरे युक्तप्रान्तीय सरकारकी मेकेनिकल इंजीनियरिंग परीक्षा पास कर लो, उसने इसे स्वीकार किया, और माने भी समर्थन किया। आखिर, कमाईका कोई उपाय किये विना अभिलाप और उनकी पत्नीका जीवन भी तो चल नही सकता था।

ढकिया-बराह स्टेशनसे काफ़ी दूर है, फिर एकसे अधिक नदी-नालोको पार-कर जाना पड़ता है, गावके पास भी नदी है। हम लोग ठंडा होनेपर शामको नदीके किनारे दूर तक टहलने जाया करते थे। मेरा स्वप्नाना तो ओजपर था, और अभिलाप भी अभी अपनेको पहिले ही जैसा समझते थे। अब भी हमारी बाते लम्बी उड़ानके बारेमें ही हुआ करती थी। शामके वक्त लाल चकवा-चकई नदीके किनारे चर रहे थे, मैने नाम सुना था, किन्तु उन्हें देखा न था। अभिलापने जब इसे बतलाया, तो मैंने गम्भीर हो पूछा—'क्या सचमुच रातको यह जोड़ा अलग-अलग हो जाता है? एक नदीके उस पार और एक नदीके इस पार?' मालूम नही अभिलापने इसका क्या उत्तर दिया।

दो-चार दिन बाद (१२ अप्रेलको) मैं स्टेशनको लौटा। अभिलाप भी मेरे साथ तिलहर आये। कस्बेसे थोड़ा पहिले ही अभिलापके एक परिचित बहलीपर जा रहे थे, उन्होंने बतलाया, कि अमृतसरमें गोली चल गई। जलियावालाका भीषण हत्याकाड उन शब्दोंसे प्रकट नही हो रहा था, क्योंकि उन्होंने खबरको ताजे अखबारमें पढा था। तो भी खबर काफ़ी संगीन मालूम हुई।

खरवाके रावसाहेब उस समय तिलहरके डाकबँगलेमें नजरबन्द थे। अभिलाप उनसे एकाध बार मिले थे। मुझे मालूम होनेपर मैं भी मुलाकात करनेका इच्छुक हो गया। हम दोनों रावसाहेबके बँगलेपर गये। अभिलापने अपना साथी नौजवान कहकर मेरा परिचय दिया। रावसाहेबने हिम्मतकी परीक्षा करनेके लिए पूछा—"आपको कोई उज्र तो नही होगा, यदि मैं पुलिसको बतलानेके लिए आपका नाम नोट कर लूं। नजरबन्द होनेसे मेरे लिए यह पाबन्दी है।" मैंने स्वाभाविक तौरसे कहा—'नहीं, कोई उज्र नही, आप जरूर नोट कर लें, केदारनाथ।' रावसाहेबकी बातोंमें अंग्रेजोंके प्रति भयंकर विद्वेष भरा था। उन्होंने कुछ स्वरचित कवितायें सुनाईं, जिनमेंसे एकका एक अंश अब भी याद है—"गौरांगगणके रक्तसे निज पितृगण तर्पण करूँ।"

तिल्हरसे कानपुर आया। अखबारोंसे अमृतसर गोलीकांडकी कुछ अ खबरें मालूम हुईं। किन्तु, अव्वल तो 'एसोसियेटेड प्रेस' जैसी अर्द्धसरकारी सम चार-एजेन्सी छोड़ खबर पानेका दूसरा कोई जरिया नहीं था; होनेपर भी सरकार डरसे उन्हें छापनेकी कितनोंकी हिम्मत होती। कानपुरमें छोटेलाल-गयाप्रसा ट्रस्टके महिलाश्रममें मैं बहिन महादेवीसे मिला। तै पाया, कि हमीरपुरसे रा गोपालजीकी पत्नी जानकीदेवीको भी लाकर यहांसे पंजाब चला जावे। ·

१३ अप्रेलको हमीरपुर स्टेशनपर पहुँचा। हमीरपुर-रोडसे हमीरपुर काफ़ दूर है। शायद मैं ऊँटगाड़ीसे गया था। शहरके पास नावोंके पुलसे यमुना पा करनी पड़ी। उस साल फसल मारी गई थी, अकाल[1] था और लोग पशुओंव दरख्तोंके पत्ते खिला रहे थे। जानकीदेवी गांवसे निकलकर पहिले-पहिल शहर आई थीं। पतिके लिखनेपर आनेके लिए 'हूँ' तो कर दिया था, किन्तु अब मैं पहुँचनेपर लज्जाने उनपर फिर जोर मारा। यद्यपि अपने पतिसे मेरे और उनवे भ्रातृत्वको वह अच्छी तरह गुन चुकी थी, तो भी लज्जापर विजय पाना उनके लि असम्भव मालूम हुआ, और उन्होंने चलनेसे इनकार कर दिया।

८

मार्शल-लाके दिन

(अप्रेल-मई १९१९ ई०)

कानपुर लौटा। बहिनजीके चलनेका तो सब इन्तजाम हो गया, किन्तु स्टेशनमें पूछनेपर मालूम हुआ, जलन्धरका टिकट ही नहीं मिल रहा है, पंजाबमें मार्शल-ला जारी हो गया है। इस अनिश्चित स्थितिमें कानपुरमें रहना, खासकर मेरी जैसी तबियतके आदमीके लिए, मुश्किल था। पंजाबके नर-नारियोंपर—जिनमें लाहौरके मेरे कितने ही साथी भी थे—जो अत्याचार हो रहे हैं, उन्हें देखने और हो सके तो उसमेंसे कुछको अपने सिरपर भी लेनेके लिए मैं उत्सुक हो गया। बहिनजी भी आश्रमसे विदा हो आई थीं। पूछनेपर वह भी साथ ही चलना चाहती थी। पूछ-ताछ करनेपर मालूम हुआ, पंजाबमें चलनेवाली ट्रेनोंके टाइम टेबुल रद्द हो चुके हैं, कानपुरसे गाजियाबाद तकका टिकट मिल सकता है। (१६ अप्रेलको), मैंने गाजियाबादके दो टिकट लिये। शायद ट्रेनमें ज्यादा भीड़ न थी।

जिस वक्त हमारी ट्रेन गाजियाबाद पहुँची, उस वक्त अभी रातका अँधेरा

---

१ गेहूँ रुपयेका ५ सेर और चना ६॥ सेर था।

था। स्टेशनपर सशस्त्र पहरा था, और बालूकी बोरियोंको रखकर मोर्चाबन्दी की गई थी। साहेब-साहेबिन शंकितसे एक जगह खड़े या बैठे थे। महायुद्धके समय हमें ऐसा दृश्य देखनेमें नही आया था।

पता लगानेपर मालूम हुआ, सहारनपुरके रास्ते अम्बाला-छावनीका टिकट अब भी मिल रहा है। बिना जरा भी देरी किये (१७ अप्रेलको) फिर दो टिकट कटाये, और अम्बालाके लिए रवाना हुआ। सहारनपुरसे हमारी गाडीमें बड़ी भीड़ थी। हरिद्वारसे वैशाखी स्नान कर बहुतसे नरनारी लौट रहे थे।

अम्बाला-छावनीमें मालूम हुआ—आगेका टिकट बन्द है। बहिनजीको साथ लिये अम्बाला छावनीके आर्यसमाजमें पहुँचा। रहनेके लिए ठीक जगह मिल गई। दस-पन्द्रह दिन भी रहना होता, तो खाने-रहनेकी हमें कोई तकलीफ न होती; किन्तु इस प्रकार रास्तेमें—और फिर लाहौरके अपने साथियोसे दूर रहना मुझे असह्य मालूम होता था। लाहौरमे भी गोली चली है, इसकी भी खबर मिल चुकी थी, और पंजाबमे होनेसे यहा अफ़वाहें भी बहुत ज्यादा उड़ रही थीं। मै दिनमें कई बार स्टेशन जा जलन्धरकी ट्रेनके बारेमें पूछता रहा। (१८ अप्रेल हीको) मालूम हुआ, कि पहिले-दूसरे दर्जेके डाकवाले टिकट जलन्धरके लिए मिल रहे हैं। भीडका मत पूछिये। बहिनजीको तो गठरी-मोटरी दे जनाने दूसरे दर्जेमें किसी तरह बैठा दिया, और मैं अपने डब्बेमें घुसनेमें इसीलिए सफल हुआ, कि मेरे पास कोई सामान न था, मैं अभी छब्बीस सालका छरहरा जवान था। अप्रेलके दोपहरकी गर्मीमें, बैठे और खड़े आदमियोसे खचाखच उस भरी गाड़ीमें हवाके बिना दम घुट रहा था। तो भी गाडीमें जगह मिल जानेको मैं गनीमत समझ रहा था। निःशस्त्र साधारण-सा आन्दोलन, जलियांवाला-बागका रोमांचक नर-संहार, मार्शल-ला, और रेलों तथा यातायातके साधनोंकी यह अव्यवस्था—इन्हें देख मैं युद्धके दिनोके युरोपीय जीवनका कुछ अनुभव कर रहा था। सदियोंसे चले आते देशके निर्जीव शान्त जीवनको मैं बिलकुल पसन्द नही करता था। अशान्त जीवनमें मेरा पार्ट क्या होना चाहिए, इसे मैं निश्चय नहीं कर पाया था; तो भी मैं उसे पसन्द करता था। उसीसे परिवर्तनकी आशा थी, और ऐसे जीवनके लिए कीमत चुकानेको मैं तैयार था।

जलन्धर-छावनीपर उतर जानेपर मालूम हुआ, कन्या महाविद्यालय जलन्धर शहरसे नजदीक है। खैर दूसरी ट्रेनके लिए चौबीस घंटेकी प्रतीक्षा और गाड़ीमें घुसनेकी वह मन्त्रणा अब सोचनेकी भी बात न थी। मैंने आर्यसमाज (गुरुकुल-विभाग) के लिए एक तांगा किया, और बहिनजीको लिये चल पड़ा। कानपुरसे ही मैं अपनी मानसिक उत्तेजनाओंमें व्यस्त था। एकाध बार जब आगेके टिकटके बारेमें मैं बहिनजीसे कुछ पूछता, तो वह 'हां' कर देती। मैंने उनके मानसिक

भावोंके जाननेकी कभी कोशिश न की। मार्शल-लाके दिनोंमें, गोरों और सैनिकों-के राज्यमें इस तरह चलना मेरे अपने लिए कोई परवाहकी बात न थी, किन्तु जिस तरह बहिनजीको लिये मैं बेतकल्लुफ़ीसे सैर-सपाटेके भावमें यात्रा कर रहा था, यह कभी वांछनीय नहीं समझा जा सकता था। तो भी बहिनजी जरा भी भयभीत नहीं थीं, शायद खतरेका उन्हें उतना ज्ञान न था।

तांगेवाला पूरबिया निकला। बलिया या आरा जिलेसे उसके बाप-दादा यहां छावनीमें साईसी करने आये थे, और एक तरहसे यहीं बस गये थे। मुझे मालूम था, कि इन पूरबियोंमें शिवनारायणीपन्थका बहुत प्रचार है। मैंने उससे जमानेके 'लिखनीचंद' 'प्रधान' आदिके बारेमें पूछा। तांगेवाला समझ गया मैं भी शिवनारायणी हूँ, क्योंकि बिना शिवनारायणी हुए कोई उन गुप्त शब्दोंको जान नहीं सकता। उसने अपने यहां आनेका आग्रह किया। मुझे उस वक्त ख्याल आ रहा था, कनैलाकी बूढ़ी चमारिन गरिबियाका। सन् चारके अकालमें उसका घर उजड़ गया। सिर्फ एक लड़की बची थी, जिसका ब्याह पंजाबकी ऐसी ही किसी छावनीके आदमीसे हुआ था, जिसे कभी-कभी मैंने कनैलामें देखा था।

हम आर्यसमाजमें ठहरे। सन्तरामजीसे मुलाकात हुई, और बहिनजीके आश्रममें दाखिल होनेमें कोई दिक्कत न हुई। लाहौरका रास्ता बन्द था। मार्शल-ला चल रहा था, किन्तु अब गोलियां नहीं चल रही थीं। अमृतसर नजदीक होनेसे वहांके बारेमें लोग बतला रहे थे—डायर ओडायरकी गोलीके निशान कुछ सौ नहीं हजारसे कहीं ज्यादा स्त्री-पुरुष-बच्चे बने। डाक्टर सत्यपाल, डाक्टर किचलू-के नेतृत्वमें अमृतसरकी जनताने कितनी निर्भीकता प्रदर्शित की, इसकी बहुत-सी अतिरंजित खबरें हमें मिलने लगीं।

लाहौर अब दूरकी बात थी। बलदेवजी या रामगोपालजीके पत्रसे यह खबर मिली, कि हमारे सभी परिचित बच गये हैं। अब जलन्धरमें किसी तरह दिन काटना था। सन्तरामजीसे पहिले कई बार बातचीत करनेका मौका मिला था, किन्तु साथ रहनेका यह पहिला मौका था। हमारी तबियतें कुछ एक दूसरे-सी मिलती हैं, इसका भी हमें आभास था। सन्तरामजीने रहनेके लिए मकान तो ले लिया था, किन्तु अभी खाना पकानेका कोई इन्तजाम न था। शामके वक्त रोज हम स्टेशनपर तन्दूरकी रोटी खाने जाते थे। तन्दूरसे निकली गरमा-गरम फुलकी रोटी, प्याजकी चटनीके साथ कितनी मीठी लगती है, इसका अनुमान खानेवाले ही लगा सकते हैं। स्वाद और स्वास्थ्य दोनोंकी दृष्टिसे ऐसा अच्छा भोजन संसारमें मिलना मुश्किल है।

जलन्धरके अस्थायी निवासमें कई नये परिचित बने। हमारे लाहौरके पुराने दोस्त रामदेवजी इस वक्त यहांके नये खुले डी० ए० वी० इंटरमीजियट कालेजमें प्रोफ़ेसर थे, और अपने दूसरे साथी प्रोफेसर ज्ञानचन्दके साथ एक ही मकानमें रहते थे। वहां प्याज डालकर तन्दूरमें पकी रोटिया मक्खन-सहित मट्ठेके साथ खानेमें ही 'मज़ा' नही मालूम होती थीं, बल्कि प्रोफेसर-द्वयके योग-ध्यान-सम्बन्धी नये एड्वेंचरकी कथा बड़े मनोरजनकी बात रही। योग, मन्त्र, देवताके आकर्षणोंसे मैं पहिले ही गुजर चुका था, इसलिए मेरे लिए उनमें कोई खिचाव न था; किन्तु मैं देखता था, बिना स्वयं भुक्तभोगी बने लोग इन आकर्षणोंके खिलाफ़ कुछ भी सुननेके लिए तैयार नही होते। प्रोफेसर रामदेव बी० ए० (आनर्स, पीछे एम० ए० भी) और प्रोफेसर ज्ञानचन्द एम० ए० होकर स्वामी दयानन्दके ग्रंथोंमें योगकी महिमा पढ़ उस महान् साधनाकी ओर प्रेरित हुए। कानों-कान उडती खबर उन तक पहुँची—'आजकल स्वामी सियाराम नामके एक महान् योगी हृषिकेशके आसपास रहते हैं। वह सिद्ध-पुरुष हैं, विरले ही वैसे महापुरुष संसारमें पैदा होकर माताकी कोखको पवित्र करते हैं। वह एम० ए० है, प्रोफ़ेसर रह चुके हैं।'

दोनों तरुण चुम्बकसे खिंचे लोहेकी भांति दौड़कर स्वामी सियारामके पास पहुँचे। स्वामी सियारामने पहिले तो कितने ही दिनों तक शिष्योंकी श्रद्धाकी परीक्षा की। अधिकारी पा, योग प्रारम्भ करनेसे पहिलेकी साधनायें शुरू कराईं। महीनों मूगके रस और निराहारका सेवन कराया। और भी क्या-क्या व्रत रखवाये। और योगध्यान क्या बतलाते, दोनों प्रोफेसरोंके कथनानुसार—अपनेमें अटल श्रद्धाका उपदेश करते, योगकी जगह वह यमराजके समीप हमें पहुँचाना चाहते थे। खैर! समयसे पहिले दोनों जनेकी आखें खुल गईं। सियाराम और योगके फंदेसे बचकर वे सही-सलामत लौट आये, और अब वे कालेजमें प्रोफ़ेसरी कर रहे थे।

लाला देवराजके पास भी हम अक्सर जाते थे, उनकी बातें मनोरजक होती थीं; किन्तु हमारी आयुओंमें युगोंका अन्तर था, इसलिए वहां वह मनोरंजन नही होता था, जो कि प्रोफ़ेसर-द्वयके यहा। हां, उस वक्त हमारी ही समवयस्का एक और मूर्ति जलन्धरमें विद्यमान थी, जिसने यौवनके सरोवरको सुखाकर, सजीवताके उद्यानको जलाकर, ब्रह्मचर्यके कठोर पुरातन-पथको अपनाया था। मैं भी ऋषि दयानन्दका भक्त था, विदेशमें धर्मप्रचारके लिये ही अपनेको तैयार कर रहा था, किन्तु जिन्दगी भर मनकी ताजियादारी करना मुझे पसन्द नहीं था। मन्तरामजी भी मजाकपसन्द आदमी थे। हमें ब्रह्मचारीजीका व्यवहार उपहासास्पद-सा मालूम होता था, यद्यपि हम उनकी नियतपर हमला करनेके लिए बिलकुल तैयार न थे; बल्कि उनके त्यागकी दाद देते थे। ब्रह्मचारीजी मुजफ़्फ़रनगर

जिलेके रहनेवाले तरुण थे। वह स्वामी दयानन्द और आर्यसमाजकी पुस्तकोंको पढ़कर आर्यसमाजी हो गये। फिर आर्यसमाजके आदर्शके अनुसार जीवन व्यतीत करने तथा स्वामी दयानन्दकी शिक्षाके अनुसार वेदविद्या पढ़नेके लिए वह घरसे निकल पड़े। घरसे निकलनेसे पहिले अपनी सारी सम्पत्तिको—जो कि उनके जीवनके लिए काफी थी—दान कर दिया। जहां-तहां घूमते-घामते वह जलन्धर पहुँचे। वह दस आर्यसमाजी गृहस्थोंके घरोंमें मधुकरी मांगकर भोजन किया करते, ब्रह्मचारियों जैसा तहमद और लँगोट पहनते खड़ाऊँपर चलते। पढ़नेमें भी ऋषि दयानन्दके बताये अनुसार ही पढ़ते, सिद्धान्तकौमुदी आदि सभी अनार्ष-ग्रंथोंकी छायासे भी परहेज करते। उस समय अष्टाध्यायी और महाभाष्य जैसे आर्ष-ग्रंथोंके पढ़ानेवाले पंडित दुर्लभ थे, इसलिए वह स्वयं ग्रंथोंका स्वाध्याय करते। कन्या-महाविद्यालयके धर्मशिक्षक भक्त रैमलजी आर्यसमाजके मंत्री, तथा बहुतसे श्रद्धालु आर्यसमाजी ब्रह्मचारीजीको बड़ी श्रद्धाकी दृष्टिसे देखते थे। हम भी उनसे सर्वथा वीतश्रद्ध न थे, तो भी कुछ बातें हमें अवश्य बहुत पुरानी मालूम होतीं, और यदि गावभरकी स्त्रियां 'भवेट्' (अनुजवधू) मान ली जावें, तो आखिर मजाक किनसे किया जावे ?

ब्रह्मचारीजी गर्मियोंमें कांगड़ा-पहाड़के लिए रवाना होनेवाले थे। सन्तरामजी और मेरी सलाह हुई कि ब्रह्मचारीजीको एक विदाई-भोज, तथा अभिनन्दनपत्र दिया जावे। भक्त रैमलको शामिल नहीं किया था। आर्यसमाजके मन्त्रीको सिर्फ संख्या बढ़ानेके खयालसे शामिल किया। हम दोनोंने मिलकर एक अभिनन्दनपत्र तैयार किया। भोजके लिए तेलमें तली सिर्फ प्याजकी पकौड़ियां दोनोंमें रखी गईं। ब्रह्मचारीजी खड़ाऊँपर, अँचला पहने, चादर ओढ़े, नंगे सिर आकर कुर्सीपर बैठे। सब मिलाकर पांचसे ज्यादा आदमी वहां मौजूद न थे। कार्रवाई शुरू करते हुए मैंने कहा—इस सभामें मुझसे योग्य कोई व्यक्ति इस पदके लिए नहीं है, इसलिए मैं सभापतिके आसनको शोभित करता हूँ। चार कान कुछ खड़े तो जरूर हुए, किन्तु अभी वह उतनी दूर तक सोचनेके लिए तैयार न थे। फिर पंडित सन्तरामजीने अभिनन्दनपत्र पढ़ना शुरू किया—

"...हम याद करके तड़प-तड़पकर मरेंगे, जब आपकी खड़ाऊँपर खट-खट करती सूरत स्मरण होगी।...जब आपकी गगनचुम्बिनी शिखा...."

ब्रह्मचारीजी कुर्सीसे उठकर भागने लगे। सभापति और अभिनन्दन-वाचकने मिन्नतें कर-करके ब्रह्मचारीको तो रोका, किन्तु मन्त्रीजी अलग आँखें लाल-पीली कर रहे थे—'ब्रह्मचारीको तेलकी पकौड़ी खिलाना किस शास्त्रमें लिखा है ?'

फिर अभिनन्दनपत्र शुरू हुआ, फिर अनुप्रासोंकी छटा और नखशिख-वर्णन। फिर ब्रह्मचारी भागने लगे। याद नहीं, तीसरी बार हम लोग ब्रह्मचारीको लौटाने-

में समर्थ हुए या नहीं। अभिनन्दनपत्र शायद ही समाप्त हुआ हो। मन्त्रीजी तो पहिले ही सटक गये।

उस दिन बड़ा मजा रहा। दूसरे दिन भक्त रैमलजीको जब यह खबर मिली, तो उन्होंने हमें फटकारना शुरू किया—'ब्रह्मचारीसे मजाक?' 'मजाक नहीं बेसरो-सामानीके साथ भोज-अभिनन्दनपत्रका दान था।' 'तेलकी पकौड़ी ब्रह्मचारीको?' 'किस शास्त्रमें?' हम लोग ज्यादातर शिर नीचे गाड़कर सुनते ही रहे। इस घटनाके बाद मन्त्रीजी और भक्त रैमलजीने निश्चित कर लिया, कि मैं विदेशमें क्या देशमें भी धर्मप्रचार करने लायक नहीं हूँ।

कई दिनके इन्तजारके बाद भी जब लाहौरका रास्ता न खुला, तो सन्तराम-जीकी सलाह हुई घर हो आनेकी। हम लोग रेलसे जा होशियारपुरमें उतरे। पुरानी बस्ती वहासे बहुत दूर नहीं है। सन्तरामजी गावमें न रह अपने बागवाले मकानमें रहा करते थे। बागमें आड़ू, लुकाट आदिके कितने ही दरख्त थे, जिनमे एक यारकन्दी तुर्क माली काम कर रहा था। सन्तरामजीकी स्त्री (पहिली पत्नी) घरका काम-काज करनेमे असाधारण क्षमता रखनेवाली स्त्रियोंमें थी। वह रोज हमे नाश्ता, मध्याह्न-भोजन, सायभोजन बनाकर खिलाती। एक दिन सबेरे बरतन ले दूध दूहने गईं, दोपहरको मालूम हुआ—लड़की पैदा हुई। मुझे विश्वास नहीं हुआ, किन्तु बात सच थी। हवन करानेमें व्यास मै था, और बच्चीका गार्गी जैसा वैदिक नाम चुनना भी मेरा ही काम था। उसके बाद हम खाना खाने गांवमें जाया करते।

सन्तरामके भाई-बन्द पचासो बरसोसे चीनी तुर्किस्तानके व्यापारी हैं। उनके परिवारमे दर्जनो ऐसे थे, जो यारकन्द, खोतन, लदाखमें बरसों रह आये थे, और फिर जानेके लिए तैयार बैठे थे; वे तुर्की और तिब्बती भाषायें फरफर बोलते थे। दूर देशका नाम, वहाके घर, गांव, शहर, वहाके रीति-रवाजकी कथा चल रही हो और 'सैर कर दुनियाकी' ऋचा मेरे कानोंमें न गूंजने लगे। रायसाहेब (सन्तराम-जीके चचा) ने बतलाया—जाना मुश्किल नहीं, पासपोर्ट (?) लेना होगा, उसके बाद का इन्तजाम हम लोग कर देंगे। खानेमें वहांका काला किन्तु मिश्रीके दानोकी तरह चमकते दानोंवाला गुड़ दहीके साथ खानेमें बड़ा स्वादिष्ट मालूम होता था। और सरसोंका सूखा साग इतना स्वादिष्ट हो सकता है, इसका मुझे कभी खयाल भी न आया था। मुझे उस वक्त हलायुधका यह श्लोक बार-बार याद आता था—

"नूतनसर्षपशाकं पिच्छलीनि च दधीनि ।
अल्पव्ययेन स्वादु ग्राम्यजनो मिष्टमश्नाति ॥"

सन्तरामजीके दो या तीन भतीजे और भतीजियोंके गोरे गुलाबी रंगको देख-कर मुझे यही खयाल आया, कि युरोपीय जातियोंका-सा सुन्दर रंग भारतमें भी देखा जा सकता है। अभी तक कश्मीरके पंडितोंको मैंने नहीं देखा था।

पुरानी वस्तीसे हम लोग होशियारपुर पैदल आये, और फिर तांगा बदलते जलन्धर शहर आ गये। थोड़े ही दिनों बाद टिकट मिलने लगा, और मैं लाहौर पहुँच गया।

लाहौरमें भी लाहौरी दरवाजेपर गोली चली थी, जहा मरनेवालोंमें मुंशीराम शास्त्री एक तरुण विद्यार्थी था। इसी साल उसने शास्त्री परीक्षा दी थी, और परिणामके इतना खराब निकलनेपर भी वह पास देखा गया, यद्यपि उस वक्त वह उसे सुननेके लिए मौजूद न था। मुंशीराम अनाथालयमें पला था, और एक होनहार नौजवान था।—'हसरत उन गुंचों पै है, जो बिन खिले मुर्झा गये।' उसे कई गोलियाँ लगी थी, देखनेवाले साथियोंने बतलाया, कि सभी गोलिया सामनेसे उसकी छाती, बाहों और जाघोंमें घुसी थी। मुंशीराम जैसे कितने बहादुरोंने मार्शल-लाके हाथों—मदान्ध ब्रिटिश शासकोंके हाथों—अपनी जानें गँवाई।

अभी मार्शल-ला जारी ही था, जब कि मैं लाहौर पहुँचा। अखवार पढ़नेको बहुत कम मिलते थे। जगह-जगह फ़ौजी आज्ञायें चस्पा थी—लोगोंको कब चलना चाहिए, कब सोना चाहिए, दूकानदारोंको चीजें किस भाव बेंचनी चाहिए..... नहीं तो क्या दड होगा। इस वक्त पंजाबके लेफ्टिनेंट-गवर्नर ओडायरको अपनी हृदयहीनताका पूरा परिचय देनेका मौका मिला था। गेनाह-निहत्थे स्त्री-पुरुषों, बाल-बूढ़ोपर जो अत्याचार किये थे, उनकी कथायें सुनकर खून खौलने लगता था। म्यूजियमकी ओर मार्शल-लाकी अदालतें बैठती थीं। पकड़े हुए लोगोंके भाग्यका निपटारा देखनेके लिए उनके सम्बन्धी सहस्रों नर-नारी जमा रहते थे, और बेगुनाहोंकी फासी, लम्बी-लम्बी सजायें सुन-सुनकर हमारे जैसोंको अपनी बेबसीपर गुस्सा और ग्लानि होती थी। भगवानमें मेरा विश्वास अभी टूटा नहीं था, तो भी सोचता—उनका न्याय आज क्यों नहीं होता? आज इन अदालतोंपर बिजली क्यों नहीं गिरती? पहिले गोले-गोलियों, हवाई-जहाजोंसे नन्हें-नन्हें बच्चोंके खूनसे हाथ रगके पीछे फासी-कालापानीका हुक्म सुनानेवाले इन आततायियोंकी जीभ क्यों हजार टुकड़े हो क्यों नहीं गिरती? ऐसी अत्याचारी कौमका बेड़ा महासमुद्रमें क्यों नहीं हमेशाके लिए गर्क हो गया?

गर्मियोंमें पंजाबमें लस्सी (मट्ठा) पीनेका बहुत रवाज था, किन्तु दही तो बनते-बनते साफ हो जाती थी। फौजी अफसरने दर मुकर्रर कर दी थी, उससे बेसी दामपर बेंचनेपर बड़ी सजा और जुरमाना होता। लोग सवेरे ही दहीकी दूकानपर भीड़ लगा देते थे। हाँ, वैसरीदामका लेमनेड, आइस-क्रीम इसी बार सारे नगरमें प्रसिद्ध हुआ था। यह दूकान बंशीधरके मन्दिरसे बिलकुल पास थी, इसलिए हम लोग अक्सर वहा पहुँच जाते थे।

रौलट-एक्टके विरुद्ध जो भारी विद्रोहकी यह भावना पैदा हुई थी, उसने